



आचार्य जिनसेनकृत हरिवंश पुराण पर आधारित

हरिवंशकथा

लेखक :

अध्यात्मरत्नाकर पण्डित रतनचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.
प्राचार्य, श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

फोन : २७०७४५८, २७०५५८१





प्रथम संस्करण : ५ हजार
(११ मई २००३,
३७ वाँ आध्यात्मिक शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर)
द्वितीय संस्करण : ५ हजार
(१४ नवम्बर, २००३)
तृतीय संस्करण : ३ हजार
(२२ अक्टूबर, २००६, दीपावली)

मूल्य : ३० रुपये

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर



अभिमत

श्री पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित हरिवंश कथा स्वाध्यायार्थियों की आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाली उपयोगी और सार्थक रचना है। ढूंढारी भाषा में प्रकाशित प्रथमानुयोग के ग्रंथ और पीछे संस्कृत शब्दों के हिन्दी अर्थ सहित प्रकाशित ग्रंथ दोनों ही से स्वाध्यायार्थी पुरुष एवं महिलायें संतुष्ट नहीं थे। प्रस्तुत ग्रंथ उक्त पाठकों की रुचि और बुद्धि के अनुकूल सरल, सुबोध और आधुनिक रोचक शैली में लिखा गया है, जो अनति विस्तृत और अल्पमूल्य में उपलब्ध है। इसमें उचित संशोधन के साथ धार्मिक विषयों का समावेश भी है तथा करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग संबंधी आवश्यक सामग्री भी रख दी गई है। वर्तमान में ऐसे ही ग्रंथों की आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति ऐसी रचनाओं से की जा रही है। विद्वान लेखक का यह परिश्रम सराहनीय है।

- वयोवृद्ध विद्वान पण्डित नाथूलाल शास्त्री, इन्दौर
(संहितासूरि प्रतिष्ठाचार्य पूर्व अध्यक्ष विद्वत् परिषद्)



प्रकाशकीय

सिद्धान्तसूरि, शिक्षारत्न अध्यात्मरत्नाकर आदि अनेक उपाधियों से अलंकृत पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल जैन साहित्य के सिद्धहस्त लेखकों में अग्रगण्य हैं। उनके द्वारा रचित कथानक शैली में लिखी गई विदाई की बेला, सुखी जीवन, संस्कार, इन भावों का फल क्या होगा, ये तो सोचा ही नहीं था, नींव का पत्थर – ऐसी बहुचर्चित कृतियाँ हैं, जिन्होंने बिक्री के सारे रिकार्ड तोड़ दिए हैं। इन कृतियों ने जनमानस को आन्दोलित तो किया ही है, जैन वाङ्मय के प्रति गहरी रुचि भी जाग्रत की है। इसी शृंखला में प्रथमानुयोग के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ आदिपुराण और उत्तर पुराण पर आधारित शलाका पुरुष भाग एक एवं भाग दो तथा यह 'हरिवंश कथा' है।

जैन समाज में साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर का कोई सानी नहीं है। यह संस्था लागत से भी कम मूल्य में सत्साहित्य उपलब्ध कराने हेतु विश्वविख्यात है। प्रकाशन का कार्य उतना कठिन नहीं है, जितना कि उनकी विक्रय व्यवस्था कठिन है; परन्तु इस ट्रस्ट की ऐसी प्रतिष्ठा है कि इसके द्वारा प्रकाशित साहित्य छपते-छपते देश-विदेश में पहुँच जाता है।

अभी तक पण्डित टोडरमल स्मारक पर यदा-कदा यह आरोप लगता रहा है कि प्रथमानुयोग के शास्त्र प्रकाशन पर इसका ध्यान नहीं है; परन्तु अब समाज का यह भ्रम भी तिरोहित हो गया; क्योंकि यहाँ से क्षत्रचूड़ामणि, हरिवंशकथा एवं शलाका पुरुष पूर्वार्द्ध/उत्तरार्द्ध भी प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रथमानुयोग के शास्त्रों में ६३ शलाका पुरुषों का चरित्र-चित्रण विस्तार से देखने को मिलता है। कर्मवीर श्रीकृष्ण ९ नारायणों में सर्वाधिक चर्चित रहे हैं। हरिवंश कथा में नारायण श्रीकृष्ण उनके चचेरे भाई तेइसवें तीर्थकर भगवान नेमिनाथ तथा कौरव-पाण्डव का चरित्र-चित्रण विशेष रूप से किया गया है।

हरिवंश कथा की विषयवस्तु आचार्य जिनसेन कृत हरिवंश पुराण पर ही आधारित है। मूलग्रंथ में जहाँ ६६ सर्गों में भगवान आदिनाथ से लगाकर चौबीसवें तीर्थकर भगवान महावीर तक के जीवन चरित्र का भी उल्लेख है, वहीं पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल ने मात्र २९ सर्गों के माध्यम से 'हरिवंश' के उद्भव और विकास में भगवान शीतलनाथ से भगवान नेमिनाथ तक का काल और उस काल के प्रमुख पात्रों को जीवन्त बनाने का प्रयास किया है।

प्रकाशन का दायित्व अखिल बंसल ने बखूबी सम्भाला है। कृति का मूल्य कम करने में सहयोग के लिए हम दातारों के हृदय से आभारी हैं। - ब्र. यशपाल जैन, प्रकाशन मंत्री - पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर



विषयानुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ	क्रम	विषय	पृष्ठ
	प्रमुख पात्रों का परिचय	१३		पन्द्रहवाँ सर्ग : श्रीकृष्ण द्वारा कालियानाग का दमन	१५२
	पहला सर्ग : भ. शीतलनाथ के तीर्थकाल में हरिवंश की उत्पत्ति	३५		सोलहवाँ सर्ग : तीर्थकर माता के १६ स्वप्न एवं जन्मकल्याणक	१६०
	दूसरा सर्ग : हरिवंश शिरोमणि भ. मुनिसुव्रतनाथ और उनका तत्त्वोपदेश	५०		सत्रहवाँ सर्ग : कंस का श्वसुर पराक्रमी राजा जरासंध	१७०
	तीसरा सर्ग : श्रीकृष्ण के पिता कुमार वसुदेव का घटना प्रधान जीवन	७३		अठारहवाँ सर्ग : श्रीकृष्ण का द्वारिका में प्रवेश	१७४
	चौथा सर्ग : आचार्य अकंपन और मुनि विष्णुकुमार	७८		उन्नीसवाँ सर्ग : नारद द्वारा रुक्मिणी एवं सत्यभामा का सौतिया संघर्ष	१८२
	पाँचवाँ सर्ग : सेठ पुत्र चारुदत्त : वैराग्यवर्द्धक जीवन चरित्र	८४		बीसवाँ सर्ग : कौरव-पाण्डव एवं कुरुवंश	२०३
	छठवाँ सर्ग : वसुदेव द्वारा चौबीस तीर्थकर स्तुति	९४		इक्कीसवाँ सर्ग : प्रेरणाप्रद कीचक कथा	२११
	सातवाँ सर्ग : परशुराम, सुभौम चक्रवर्ती और वसुदेव	१०६		बाईसवाँ सर्ग : पाण्डवों के पूर्वभव	२१५
	आठवाँ सर्ग : मुनि वैजयन्त, जयन्त और संजयन्त	१११		तेईसवाँ सर्ग : धार्मिक कुप्रथाएँ कैसे चल जाती हैं	२२९
	नौवाँ सर्ग : मुनिव्रत लेने की पात्रता	११५		चौबीसवाँ सर्ग : बाल तीर्थकर नेमिनाथ, जन्म एवं जीवनवृत्त	२४१
	दसवाँ सर्ग : कामदेव व रति के मन्दिर बनाने का उद्देश्य	११८		पच्चीसवाँ सर्ग : नेमिनाथ : दीक्षाकल्याणक एवं आत्मसाधना	२४७
	ग्यारहवाँ सर्ग : वसुदेव का संघर्षमय जीवन और सफलतायें	१२२		छब्बीसवाँ सर्ग : देवकी, सत्यभामा, रुक्मिणी आदि के पूर्वभव	२६७
	बारहवाँ सर्ग : कंस एवं उसकी बहिन देवकी के सात पुत्र	१३२		सत्ताईसवाँ सर्ग : श्रीकृष्ण एवं बलदेव के जीवन के अन्तिम क्षण	२७५
	तेरहवाँ सर्ग : भगवान नेमिनाथ के पूर्वभव एवं सोलहकारण भावनायें	१४०		अट्ठाईसवाँ सर्ग : दिव्यध्वनि में वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त	२७८
	चौदहवाँ सर्ग : देवकी के सातों पुत्र सुरक्षित, कंस की चाल विफल	१४४		उनतीसवाँ सर्ग : तीर्थकर नेमिनाथ का निर्वाणकल्याणक	२८१-२९२



अपनी बात

हरिवंश पुराण ग्रन्थ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि पुराणकर्ता जिनसेनाचार्य ने जिस युग के पुराण-पुरुषों के चरित्र-चित्रण किए हैं तथा जिन परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराया है, उनसे यह तो स्पष्ट है ही कि उस युग में पुरुष वर्ग में बहु-विवाह की प्रथा थी और राजाओं में तो यह आम बात थी कि युद्ध में हारे हुए राजा को जीते हुए राजा के लिए अपनी कुंवारी कन्या अथवा अविवाहित बहिन देना अनिवार्य-सा था।

स्वयंवर के कारण जो राजा कन्या प्राप्त करने से वंचित रह जाते थे, वे अपना अपमान तो अनुभव करते ही, यदि वे बलवान हुए तो स्वयंवर में वरण करने आई कन्या के अपहरण की और उसके कारण युद्ध की घटनायें भी घट जाती थीं, अन्यथा बैर-विरोध तो बढ़ ही जाता, मन में बदले की भावनायें भी घर कर जातीं, जो कालान्तर में संघर्ष एवं युद्ध का कारण बनती रहीं।

उक्त ग्रन्थ में यह बात श्रीकृष्ण के पिता कुमार वसुदेव की कथावस्तु में तो उभर कर आई ही है, नारायण श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्नकुमार, भानुकुमार, शंबुकुमार आदि प्रमुख कथा पात्रों के चरित्र-चित्रणों में भी विवाहित व्यक्तियों द्वारा स्वयंवर में जीती हुई या अपहृत की गई स्त्रियों की चर्चा है।

विद्याधर राजाओं के आकाश में गमन करने आदि कथन जो हमें अतिशय पूर्ण लगते हैं, यदि आज के संदर्भ में भी हम सूक्ष्मता से देखें तो असंभव तो कुछ भी नहीं है; क्योंकि जहाँ विद्याधरों के आकाश गमन की बात आती है, वह तो आज भी हम हवाई जहाज, राकेट और हेलीकॉप्टर आदि के द्वारा आकाश में उड़ते हुए मनुष्यों को प्रत्यक्ष देख ही रहे हैं, संभव है ऐसी ही वैज्ञानिक विद्यायें उस समय उपलब्ध हों। ऑक्सीजन साथ में लेकर हम पानी के धरातल पर एवं हिमालय जैसे पर्वतों पर आज आराम से पहुँच ही जाते हैं।

आज जो वैज्ञानिकों द्वारा विज्ञान के क्षेत्र में कम्प्यूटर, मोबाइल-सेलुलर फोन, टेलीफोन, टेलीविजन, हवाई जहाज, जल जहाज, रेल, बसें, मोटर-गाड़ियों की कल्पनातीत भाग-दौड़, फैक्स, ई-मेल एवं शरीर-विज्ञान आदि एक से बढ़कर एक अंगप्रत्यारोपण आदि के सूक्ष्मतम ज्ञान की खोजें एवं उनके प्रत्यक्ष प्रयोग

हो रहे हैं, हो सकता लम्बे भविष्य के बाद जब दुनिया में प्रलय जैसी स्थिति होने पर पुनः पाषाण युग आयेगा और फिर से भोजनादि कार्यों के लिए भी असि, मसि, कृषि आदि प्रत्येक काम का नये सिरे से प्रारंभ करना होगा। तत्कालीन व्यक्ति भी इन वर्तमान उपलब्धियों के कथनों में सहसा विश्वास नहीं कर पायेंगे। अरबों-खरबों वर्षों बाद ऐसे युग आने के उल्लेख पुराणों में तो हैं ही, विज्ञान भी ऐसी घोषणायें करने लगा है। तब उन्हें भी शास्त्रीय कथनों पर ही विश्वास करना पड़ेगा। अतः अपनी बुद्धि से परे अप्रयोजनभूत बातों में अनावश्यक अविश्वास और तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिए। अन्यथा उसी पुराणों में लिखे प्रयोजनभूत तत्त्वों में श्रद्धा कैसे रख पायेंगे ? और यदि प्रयोजनभूत, वीतरागता के हेतुभूत स्व-संचालित विश्वव्यवस्था आदि में शंका हो गई, अश्रद्धा हो गई तो हमारा मोक्षमार्ग ही खतरे में पड़ जायेगा।

इन आशंकाओं से बचने के लिए हमारे पूर्वज आचार्यों एवं धर्मज्ञों ने हमें यह उपाय बताया है कि जब तक हम अपने दार्शनिक और आध्यात्मिक ज्ञान के मर्मज्ञ और तत्त्वज्ञान के प्रति पूर्ण निष्ठावान नहीं हो जाते, तब तक हमें अप्रयोजनभूत बातों में एवं भौगोलिक ज्ञान में नहीं उलझना चाहिए; क्योंकि कालचक्र के परिवर्तन के साथ भौगोलिक स्थितियाँ भी बदलती ही रहती हैं। जल की जगह थल और थल की जगह जल होना तो हम आये दिन देखते ही हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव - सब परिवर्तनशील हैं, अतः जब तक कोई बड़ा अनर्थ न होता हो, तबतक व्यर्थ के वितण्डा में अपनी श्रद्धा को विचलित न करें।

यदि आज की अयोध्या, मथुरा आदि और पुरानी अयोध्या एवं मथुरा की परस्पर तुलना करने बैठ जाओगे तो इसी में अश्रद्धा और शंकाओं को उत्पन्न करने वाले ऐसे सैंकड़ों प्रश्न खड़े हो जायेंगे, जिनका समाधान - आज किसी के पास नहीं है। अतः श्रेयस्कर यही है कि कथाओं का मूल प्रयोजन जानकर उनके चरित्रों से सन्मार्ग की प्रेरणा लेकर अध्यात्म के रहस्य को गहराई से जानें और श्रद्धा करें।

हरिवंश कथा में अध्यात्म

इस हरिवंश कथा ग्रन्थ में शिक्षाप्रद एवं प्रेरणाप्रद कथानक और पात्र परिचय के साथ प्रसंगानुसार पात्रों को मोक्षमार्ग में लगाने के निमित्त से मुनिराजों और गणधर देवों द्वारा सैद्धान्तिक, तात्त्विक, आध्यात्मिक

और कर्मोदयजन्य सांसारिक दुःखों की मार्मिक हृदयों को हिला देनेवाली चर्चा भी है, जो कि प्रथमानुयोग के शास्त्रों की प्राणस्वरूप है।

यदि इन सैद्धान्तिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वोपदेश को निकाल दिया जाय या ये हो ही नहीं तो फिर ये शास्त्र न रहकर शस्त्र बन जायेंगे, मात्र विकथा रह जायेंगे।

वीतरागतावर्द्धक तत्त्वोपदेश के कारण ही ये कथा ग्रन्थ शास्त्र कहलाते हैं, अतः पाठकों को इन प्रकरणों को विशेष रुचि से पढ़ना होगा। कथानक तो केवल बताशा है, असली कुनैन (औषधि) तो ये तात्त्विक विवेचन ही है। मूल प्रयोजनभूत अध्यात्म जो इस ग्रन्थ में है, वह इसप्रकार है -

सर्वप्रथम एक के रूप में द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म से पृथक् ज्ञानानन्द-स्वभावी, अनादि-अनन्त, शुद्धात्मा के स्वरूप को जानो। इसी एक को दो भेदों से जाने तो कारणपरमात्मा और कार्यपरमात्मा के रूप में एवं मुनिधर्म-श्रावकधर्म के रूप में जानो। तीन प्रकार से जानना हो तो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र, द्रव्य-गुण-पर्याय और मोह-राग-द्वेष की हेयोपादेयता को जानो।

इसीप्रकार चार भेदों में चार अनुयोगों द्वारा जिनशासन का रहस्य एवं चार कषायों और चार गतियों के परिचय द्वारा अध्यात्म के रहस्य को जाना जाता है। पाँच की संख्या में पंच परमेष्ठी, पाँच समवाय, पाँच पाप, पाँच इन्द्रियाँ और इनके विषय पाँच अणुव्रतों की जानकारी द्वारा भी आध्यात्मिक दृष्टिकोण जाना जाता है। छह के रूप में छह द्रव्य, छह सामान्य गुण, छह आवश्यक एवं छह काय के जीवों की पहचान द्वारा तत्त्वपरकचिन्तन होता है।

सात की संख्या में सात तत्त्व, सात नय, सात व्यसन, आठ में आठ कर्म, अष्टंभू (सिद्धशिला)। नौ में - नौ पदार्थ, दस धर्म, ग्यारह प्रतिमायें, बारह व्रत, तेरह प्रकार का चारित्र, चौदह गुणस्थान, चौदह मार्गणास्थान, चौदह जीव समास। पन्द्रह प्रकार का प्रमाद, सोलह कारण भावनायें आदि विषयों का सरल, संक्षिप्त वर्णन यथास्थान इस ग्रन्थ में आ गया है।

इन सब उपर्युक्त विषयों में आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य अमृतचन्द्र, आचार्य उमास्वामी, आचार्य

समन्तभद्र, आचार्य पूज्यपाद, आचार्य अकलंकदेव एवं आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा, पण्डित दौलतरामजी आदि परमश्रद्धेय पुरुषों द्वारा लिखित ग्रन्थों का अवलम्बन भी लिया है। एतदर्थ इन सबके प्रति शत-शत नमन।

आचार्य शिवभूति मुनिराज को स्मरण करते हुए सर्वप्रथम 'तुषमासं घोषन्तो' की नीति पर स्व-पर भेदज्ञान कर अपने ज्ञायकस्वभावी आत्मा में एकाग्र होकर मुक्तिमार्ग की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन की ओर अग्रसर हों।

इसी पावन उद्देश्य को लक्ष्य में लेकर प्रस्तुत हरिवंश कथारूप गागर में बृहद् हरिवंशपुराण रूप सागर को समेटने का प्रयत्न किया है।

पृष्ठभूमि पढ़ने से पुराण की विषयवस्तु समझने में सुविधा रहेगी, अतः पृष्ठभूमि पढ़कर ही ग्रन्थ का स्वाध्याय प्रारंभ करें।

आशा है पाठक इस कृति का रुचिपूर्वक स्वाध्याय कर अपने कल्याण के पथ में आगे बढ़ेंगे -

- रतनचन्द भारिल्ल

जो उन वीतरागी देव के पवित्र गुणों का स्मरण करता है, उसका मलिन मन स्वतः निर्मल हो जाता है, उसके पापरूप परिणाम स्वतः पुण्य व पवित्रता में पलट जाते हैं। अशुभ भावों से बचना और मन का निर्मल हो जाना ही जिनपूजा का, जिनेन्द्र भक्ति का सच्चा फल है।

ज्ञानी धर्मात्मा लौकिक फल की प्राप्ति के लिए पूजन-भक्ति नहीं करते। वे तो जिनेन्द्रदेव की मूर्ति के माध्यम से निज परमात्मस्वभाव को जानकर, पहिचानकर, उसी में जम जाना, रम जाना चाहते हैं। ऐसी भावना से ही एक न एक दिन भक्त स्वयं भगवान बन जाता है।

- इन भावों का फल क्या होगा, पृष्ठ-६

पठनीय पृष्ठभूमि

साहित्य-सृजन के मूल प्रेरणास्रोत होते हैं प्राकृतिक-मनोहारी दृश्य, महापुरुषों के जीवन की विशिष्ट शिक्षाप्रद घटनायें एवं उनके सम्बन्ध में साहित्यकार के खट्टे-मीठे अनुभव; जिनके द्वारा साहित्यकार अपने प्रिय पाठकों को रसानुभूति के साथ-साथ कुछ लोकहित और आत्मकल्याणकारी सीख भी देना चाहता है।

इस बहुउद्देश्यीय प्रयोजन की पूर्ति के लिये कथा साहित्य-सृजन में समर्थ जैनाचार्यों को उन ६३ शलाका महापुरुषों के चरित्र अधिक प्रभावशाली लगे, जिन्होंने लोकहित एवं आत्मकल्याण के विशेष कार्य किये।

६३ शलाका महापुरुषों में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण और ९ बलभद्र आते हैं। ये ६३ शलाका महापुरुष अपने-अपने युग में सम्यक् पुरुषार्थ करके असाधारण पराक्रम (साहस) द्वारा विविध प्रकार के अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करते हैं। जैन और जैनेतर पुराणों में इन सबका विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

९ बलभद्रों में मर्यादापुरुषोत्तम भगवान राम और ९ नारायणों में लीलापुरुषोत्तम एवं कर्मवीर श्रीकृष्ण वैदिक और श्रमण संस्कृति के पुराणों में सर्वाधिक चर्चित व्यक्तित्व हैं। इन चरित्रों को साहित्यकारों ने क्षेत्र व काल की स्थितियों के अनुकूल अपनी-अपनी नैतिक व सैद्धान्तिक विचारधारा के अनुरूप अपनाया है।

भारतीय पुराण साहित्य के अध्ययन और धार्मिक संस्कृति के अवलोकन से ज्ञात होता है कि भारतीय जन-जीवन में सदैव वीरपूजा होती रही है। चाहे वह पूजा धर्मवीर, दानवीर के रूप में हो अथवा शूरवीर या युद्धवीर के रूप में हो। जिन्होंने भी धर्म, समाज एवं राष्ट्र के हित में शक्ति से अधिक साहस के काम किये, अपना सर्वस्व समर्पण किया, वे तत्कालीन समय में सम्मान के पात्र तो हुये ही; आगे चलकर उनमें से बहुत से भगवान तथा देवी-देवताओं के रूप में आराध्य भी बन गये।

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि जब भूतपूर्व प्रधानमंत्री स्व. इन्दिरा गांधी ने आपातकाल लगाकर देश

की अनुशासनहीनता पर नियंत्रण पाने का साहसी कदम उठाया, पराक्रमी प्रयत्न किया तो देश उन्हें सम्माननीय मानकर दुर्गादेवी के रूप में देखने लगा।

वर्तमान में हिन्दू धर्म के अधिकांश जितने भी आराध्य देवी-देवता हैं; यदि हम उनके इतिहास की खोज करें तो हम उन्हें भी किसी न किसी क्षेत्र में अपूर्व एवं अद्भुत साहस के काम करनेवाले अपने समय के 'वीर' 'महावीर' के रूप में ही पायेंगे।

जैन पुराणों में विस्तार से ६३ शलाका पुरुषों के चरित्र लिखे गये हैं। इन महापुरुषों के चरित्र आदर्श एवं प्रेरणादायक होने से क्षेत्र व काल की सीमाओं में सीमित न रहकर व्यापकरूप से लोकरुचि के विषय बन गये हैं। २४ तीर्थकरों के सिवाय बलभद्र राम, नारायण श्रीकृष्ण, चक्रवर्ती भरत आदि इसीप्रकार के लोकमान्य महापुरुष हैं। जैन पुराणों में इन सबकी प्रधानता है। साहित्य में ये अधिकांश नायक के रूप में ही प्रस्तुत किए गये हैं।

जैनधर्म में तो आराध्य के रूप में या अर्चना-पूजा करने के लिये पूज्यता का मुख्य आधार वीतरागता एवं सर्वज्ञता को माना गया है; अतः जो गृहस्थपना छोड़कर, मुनिधर्म अंगीकार कर निजस्वभाव की साधना करके, मोहादि कर्मों का नाश कर केवलज्ञानी अरहंत एवं सिद्ध पद को प्राप्त हुए हैं, वे ही देवरूप में आराध्य माने गये हैं। शेष सबको पुराणपुरुष के रूप में आदरपूर्वक स्मरण किया गया तथा उनके आदर्श चरित्रों से भविष्य सबक सीखे; एतदर्थ प्रथमानुयोग के रूप में उनके आदर्श चरित्र लिखे गये हैं।

प्रस्तुत हरिवंश कथा में हरि वंश में जन्मे नारायण श्रीकृष्ण के पूर्वजों का, विशेषरूप से उनके शूरवीर एवं अनेक विद्याओं के धारी पिता कुमार वसुदेव की शूरवीरता एवं धर्मवीरता के वर्णन के साथ-साथ लीला पुरुषोत्तम नारायण श्रीकृष्ण, तीर्थकर भगवान नेमिनाथ तथा अनेक शिक्षाप्रद, प्रेरणादायक आदर्श उपकथाओं और पाण्डव एवं कौरवों के चरित्रों का प्रमुखरूप से वर्णन है, जिसके अध्ययन से ये चरित्र हमें निःसन्देह प्रशस्त मार्गदर्शन प्रदान करेंगे।

जैन पुराणों में छहद्रव्यों के रूप में प्रतिपादित विश्वव्यवस्था अनादि-अनंत एवं स्व-संचालित है। इस विश्व को किसी ने बनाया नहीं है और यह कभी नष्ट भी नहीं होगा। मात्र इन द्रव्यों की अवस्थायें बदलती हैं, जिसे जिनागम में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कहा गया है। द्रव्य जाति की अपेक्षा छह हैं और संख्या अपेक्षा देखें तो जीवद्रव्य अनन्त हैं, पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त हैं, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य एवं आकाशद्रव्य एक-एक हैं और कालद्रव्य असंख्यात हैं। इनमें जीवद्रव्य चेतन और शेष पाँच द्रव्य अचेतन हैं। पुद्गलद्रव्य मूर्तिक है और शेष पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं। कालद्रव्य एकप्रदेशी है, शेष पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं, इन पाँचों को बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय भी कहा जाता है। इनके कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण के रूप में स्वतंत्र षट्कारक होते हैं, जिनके द्वारा इनका स्वतंत्र परिणमन होता है। परिणमन को ही पर्याय, हालत, दशा या अवस्था कहते हैं।

इसप्रकार वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन के साथ-साथ हरि वंश की एक शाखा यादवकुल और उसमें उत्पन्न हुए २२ वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ और ९वें नारायण श्रीकृष्ण। इन दो शलाका पुरुषों का चरित्र विशेषरूप से वर्णित हुआ है। ये दोनों चचेरे भाई थे। इनमें नेमिनाथ तो अपने विवाह के अवसर पर वैराग्य का निमित्त पाकर बिन ब्याहे ही सन्यास लेकर तपश्चरण हेतु गिरनार की गुफाओं में चले गये और श्रीकृष्ण ने कौरव-पाण्डव युद्ध में बल-कौशल दिखलाया। एक ने निवृत्ति का मार्ग अपनाकर आध्यात्मिक उत्कर्ष का आदर्श उपस्थित किया और दूसरे ने प्रवृत्तिमार्ग के द्वारा भौतिक लीलाओं द्वारा जनमंगल के कार्य किये।

मूलतः हरिवंशपुराण की विषयवस्तु में मूल कथानक के साथ ऐसे बहुत से आध्यात्मिक प्रसंग सम्मिलित हैं, जिनमें आत्मकल्याण एवं जनहित की भरपूर भावनायें निहित हैं। कथावस्तु के बीच-बीच में भी ऐसे अनेक तात्त्विक और नैतिक संदेश मिलते हैं, जिनसे पाठकों का जीवन ही बदल सकता है, मानव जीवन सफल एवं सार्थक हो सकता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जिनमत के कथन करने की पद्धति (शैली) को अनुयोग कहते हैं। सम्पूर्ण जिनवाणी प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग - इन चार अनुयोगों में विभक्त है। जिनमत का उपदेश इन्हीं चार अनुयोगों के द्वारा दिया गया है। हरिवंश पुराण प्रथमानुयोग का ग्रन्थ है।

जिसमें अव्युत्पन्न/अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि जीवों) को तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि ६३ शलाका महापुरुषों के चरित्रों के माध्यम से अध्यात्म और आचरण की शिक्षा दी जाती है, उसे प्रथमानुयोग कहते हैं। प्रथमानुयोग में कथानक के साथ-साथ संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल एवं महन्त पुरुषों की प्रेरणाप्रद प्रवृत्तियों के निरूपण से जीवों को धर्म में लगाया जाता है। जो जीव अल्पबुद्धि होते हैं, वे भी इन सबसे प्रेरणा पाकर धर्मसन्मुख होते हैं; क्योंकि अल्पबुद्धि सूक्ष्म निरूपण को तो समझ नहीं सकते, किन्तु लौकिक कथाओं को शीघ्र समझ लेते हैं, उनकी रुचि का विषय होने से उनका उपयोग भी इसमें विशेष लग जाता है। लौकिक कथा-कहानियों में तो केवल विकथायें होने से पाप का ही पोषण होता है; परन्तु प्रथमानुयोग के कथा-प्रसंगों में शलाका पुरुषों के चरित्र चित्रण के माध्यम से जहाँ-तहाँ प्रसंग पाकर पाप को छुड़ाकर धर्म में लगाने का ही प्रयोजन प्रगट करते हैं।

जीव कथाओं के रसिक होने से उन्हें पढ़ते-सुनते हैं तथा पाप को बुरा जानकर एवं धर्म को भला जानकर पाप छोड़ धर्म में रुचिवंत हो जाते हैं - यही प्रथमानुयोग का प्रयोजन है।

इसीप्रकार सभी पुराणों में न केवल कथा मात्र; बल्कि प्रसंगानुसार धर्म व नीति का परिचय भी होता है। इस ग्रन्थ में त्रिलोक का स्वरूप, महावीरस्वामी का संक्षिप्त जीवनचरित्र, समवसरण एवं धर्मोपदेश, संगीत आदि कलाओं का वर्णन भी है, जिसकी प्रसंगानुसार संक्षिप्त जानकारी इस कृति में भी यथास्थान दी गई है।

मूल हरिवंश पुराण के कर्ता महाकवि आचार्य जिनसेन पुत्राट संघ के थे, पुत्राट कर्नाटक का ही प्राचीन नाम है। इनके गुरु का नाम कीर्तिषेण था और उन्होंने अपनी यह रचना शक संवत् ७०५ में अथवा जैन विक्रम सम्बत् ८४० में पूर्ण की थी। यह हरिवंशपुराण दिगम्बर सम्प्रदाय के कथा साहित्य में तो अपना प्रमुख स्थान रखता ही है, प्राचीनता की अपेक्षा भी संस्कृत कथा ग्रन्थों में इसका तीसरा स्थान है। पहला रविषेणाचार्य का पद्मपुराण, दूसरा जटासिंहनन्दी का वरांगचरित्र और तीसरा जिनसेनाचार्य का यह हरिवंशपुराण है।

ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत हरिवंश पुराण के रचयिता आचार्य जिनसेन से महापुराण के कर्ता जिनसेनाचार्य भिन्न हैं।

हरिवंश पुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन बहुश्रुत विद्वान् थे। हरिवंश पुराण में हरिवंश की कथा के साथ-साथ जैनवाङ्मय के विविध विषयों का अच्छा निरूपण हुआ है। इसकारण यह जैन साहित्य का अनुपम ग्रन्थ बन गया है।

हरिवंश पुराण की कथावस्तु - इस पुराण में वर्णित तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ का जीवन आदर्श-त्याग का जीवन है। वे हरिवंश गगन के प्रकाशमान सूर्य हैं। भगवान् नेमिनाथ के साथ नारायण श्रीकृष्ण एवं उनके भाई बलदेव के आदर्श चरित्र भी इसमें हैं। प्रसंगानुसार पाण्डवों तथा कौरवों की लोकप्रिय कथायें भी इसमें चित्रित की गई हैं। इसमें श्रीकृष्ण के पिताश्री कुमार वसुदेव एवं उनके ही पुत्र प्रद्युम्नकुमार, भानुकुमार, शम्बुकुमार एवं चारुदत्त, पाँच पाण्डव और कौरव आदि का चरित्र अपना पृथक् स्थान रखता है।

साहित्यिक सुषमा - हरिवंशपुराण न केवल कथाग्रन्थ है; बल्कि संस्कृत का एक श्रेष्ठ महाकाव्य भी है, जिसमें यथास्थान नदी-पर्वतों, वन-वाटिकाओं की प्राकृतिक छटा, षट् ऋतुओं का वर्णन, दिन-रात का वर्णन एवं नारियों के नख-शिख वर्णन की अलंकारिक उपमायें आदि सभी महाकाव्य की काव्य-शास्त्रीय विशेषताओं के अनुसार हैं।

इसके सैंतीसवें सर्ग से भगवान् नेमिनाथ का चरित्र प्रारंभ होता है। वहीं से इसकी साहित्यिक सुषमा वृद्धिगत होती है। अनेक सर्ग सुन्दर-सुन्दर छन्दों से सुशोभित हैं। ऋतुवर्णन, चन्द्रोदय वर्णन आदि भी अपने ढंग के निराले हैं। नेमिनाथ भगवान् के वैराग्य तथा बलदेव के विलाप आदि के वर्णन के लिए कवि ने जो छन्द चुने हैं, वे रसपरिपाक के एकदम अनुरूप हैं। श्रीकृष्ण की मृत्यु के बाद बलदेव का करुण विलाप और स्नेहचित्रण इतना प्रभावी है कि पाठक अश्रुधारा को नहीं रोक पाता।

नेमिनाथ के वैराग्य वर्णन को पढ़कर प्रत्येक मनुष्य का हृदय संसार की मोह-ममता से विमुख हो जाता

है। राजुल के त्याग पर पाठक के नेत्रों से सहानुभूति की अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है तथा उसके आदर्श सतीत्व एवं वैराग्य को देखकर जन-जन के मन में उसके प्रति अगाध श्रद्धा उत्पन्न होने लगती है।

मृत्यु के समय श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से जो अन्तिम उद्गार निकलते हैं, उनसे उनकी महिमा बहुत ही ऊँची उठ जाती है, जिसे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हुआ हो, जो स्वभाव से तो परमात्मा स्वरूप है ही, किन्तु पर्याय में परमात्मा बनने की, भगवान बनने की तैयारी कर ली हो, उसके परिणामों में जो समता होनी चाहिये वह श्रीकृष्ण के भावों में अन्त तक रही है।

इसप्रकार इस महाकाव्य में साहित्यिक सुषमा यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरी हुई है; परन्तु मैंने इस हरिवंश कथा में अध्यात्म के रसिकों और साहित्यिकता में कम रुचिवंत पाठकों को ध्यान में रखकर ग्रन्थ के नैतिक, तात्त्विक, धार्मिक विषयों एवं चरित्रों को तो लगभग पूरा लिया है, परन्तु काव्यशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने जानेवाले अति विस्तृत लम्बी-लम्बी प्राकृतिक सौन्दर्य की छटाओं, बड़ी-बड़ी उपमाओं, रूपकों और विस्तृत श्रृंगारिक विषयों को कम किया है; क्योंकि विस्तृत रुचिवालों के लिए मूलग्रन्थ है ही, संक्षिप्त रुचिवाले पाठकों को भी सीधे-सरल तरीके से प्रथमानुयोग के रहस्य का ज्ञान हो, एतदर्थ आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी के आठवें अधिकार के निर्देशों को ध्यान में रखकर लिखने का प्रयास किया है; अतः पाठक और समालोचक इस हरिवंश कथा का अध्ययन और समीक्षा इसी दृष्टिकोण से करेंगे तो ही इसका पूरा लाभ होगा।

प्रसंगानुसार जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को भी यथास्थान भरपूर लिखने का मेरा प्रयास रहा है; उसमें मैं कितना सफल हुआ हूँ, इसका निर्णय मैं पाठकों पर ही छोड़ता हूँ।

इसकी भाषा-शैली भी अत्यन्त सरल-सुगम और सीधी-सादी बनाने का प्रयत्न बुद्धिपूर्वक किया है तथा मूल ग्रन्थ को आधार बना उनके पावन चरित्रों द्वारा जैनदर्शन और भारतीयदर्शन के आदर्शों को प्रस्तुत करने की कोशिश की है।

हरिवंशपुराण में लोक का जो विस्तृत वर्णन है, वह अवश्य ही उल्लेखनीय है; क्योंकि अन्य कथा ग्रन्थों में लोक आदि का वर्णन संक्षेप में ही होता है। धर्म और अध्यात्म के वर्णन में भगवान नेमिनाथ की दिव्यध्वनि को निमित्त बनाकर ग्रन्थकार ने सात तत्त्वों का निरूपण बहुत विस्तार से किया है, जिसका मूल आधार आचार्य उमास्वामी का तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) और पूज्यपादस्वामी की सर्वार्थसिद्धि है।

मात्र कथावस्तु का ज्ञान कराना पुराणकारों का उद्देश्य नहीं होता; कथानक के माध्यम से ग्रन्थकार पाठकों को सदाचार और नैतिकता के साथ-साथ निश्चय एवं व्यवहार मोक्षमार्ग का संदेश भी देना चाहते हैं।

मूलग्रन्थ में तीन लोक का स्वरूप, तीर्थंकर अदिनाथ से लेकर भगवान महावीरस्वामी का सामान्य जीवन चरित्र तथा नेमिकुमार के सम्पूर्ण जीवन का विस्तृत विवरण, पंचकल्याणकों का स्वरूप, समवशरण एवं धर्मोपदेश आदि का वर्णन बृहदाकार ६६ सर्गों में किया गया है।

आज अर्थप्रधान युग के व्यस्ततम जीवन में अध्ययन की भावना होते हुए भी किसी को इतना समय नहीं मिल पाता है कि वह इतने बड़े ग्रन्थ के अध्ययन का लाभ ले सके; एतदर्थ बहुत समय से इस हरिवंश पुराण के कथानक के आधार पर संक्षिप्त, सरल और आध्यात्मिक संस्करण लिखने की भावना मन में संजोये था; परन्तु प्रत्येक कार्य का अपना 'स्वकाल' होता है। जब उसकी पर्यायगत योग्यता होती है, तभी वह कार्य होता है। अन्य कारण तो निमित्तमात्र हैं, बस इसी विचार से अबतक समता रखे रहा। यदि यह काम निर्विघ्न समाप्त हो सका तो मुझे प्रसन्नता होगी।

दसवें तीर्थंकर भगवान शीतलनाथ के युग में महाराजा आर्य और महारानी मनोरमा नामक विद्याधर राजा हुये। इन्हीं महाराजा आर्य और मनोरमा के 'हरि' नामक पुत्र हुआ। राजकुमार 'हरि' ही इस हरिवंश की उत्पत्ति का कारण बना। यह 'हरि' हरिवंश का प्रथम राजा था। हरिवंश के राजाओं की परंपरा में हरि के पुत्र हिमगिरि, हिमगिरि के पुत्र वसुगिरि और वसुगिरि के पुत्र गिरि आदि अनेक राजा-महाराजा हुये।

इसी हरिवंश में परम्परागत मगधदेश के स्वामी राजा सुमित्र हुये। उनकी पटरानी पद्मावती थीं, जो

जिनभक्तपरायण थीं। सुमित्र की राजधानी कुशाग्रपुर थी। ये सुमित्र और पद्मावती ही २०वें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के माता-पिता थे। इसी हरिवंश के राजा सुव्रत ने आगे चलकर अपने पुत्र दक्ष को राज्य देकर अपने ही पिता तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ से दीक्षा ली थी। इसप्रकार हम देखते हैं कि कुरुवंश कुलोत्पन्न कौरव-पाण्डव एवं यदुवंशी कृष्ण और तीर्थंकर नेमिनाथ भी इसी हरिवंश की परम्परा में हुये हैं।

यद्यपि प्रस्तुत ग्रंथ में पात्रों की बहुलता है, परन्तु प्रत्येक पात्र कुछ न कुछ सीख देता है। प्रबुद्ध पाठक पात्रों के साथ स्वयं को साधारणीकरण करता हुआ चलता है अर्थात् पात्र के साथ पात्र का जीवन जीता है, तभी तो उसके भले काम की अनुमोदना और प्रशंसा तथा बुरे काम की निन्दा और उसका निषेध होता है। इससे वह बहुत कुछ सीखता है एवं अपने जीवन को गढ़ता जाता है।

वह सोचता जाता है कि “यदि इसकी जगह मैं होता तो.....अमुक काम ऐसे नहीं,.....ऐसे करता।” इससे पाठक की सोच और चिन्तन सही दिशा में सक्रिय होता है, विकसित भी होता है।

यदि सभी स्वाध्यायी इसीतरह कथानक के साथ, पात्रों के साथ, साधारणीकरण के सिद्धान्त के साथ, स्वाध्याय में तन्मय होते रहे तो निश्चित ही आशातीत लाभ होगा - आशा है पाठक ऐसा ही करेंगे।

- रतनचन्द भारिल्ल

हरिवंश कथा

(आचार्य जिनसेन के हरिवंश पुराण पर आधारित)

मंगलाचरण

(कुण्डलिया)

नमन नेमि जिनेन्द्र को, नमन नाथ चौबीस ।

नमन नगन मुनिनाथ को, नमन सिद्ध पद ईश ॥

प्रमुख पात्रों का परिचय

ग्रन्थ की विषयवस्तु सहज ग्राह्य होने हेतु प्रमुख पात्रों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया गया है ।

१. तीर्थकर भगवान नेमिनाथ

यादव कुल में मूलतः हरिवंशीय महाराजा सौरी हुए । उनसे अन्धकवृष्णि और भोगवृष्णि ये दो पुत्र हुए । उनमें राजा अंधकवृष्णि के दस पुत्र थे, जिनमें बाल तीर्थकर नेमिकुमार के पिता, सौरीपुर के राजा समुद्रविजय सबसे बड़े और श्रीकृष्ण के पिता राजा वसुदेव सबसे छोटे भाई थे । दस भाइयों में ये दोनों ही सर्वाधिक प्रभावशाली, धीर-वीर और सर्व गुणसम्पन्न पुराण-प्रसिद्ध पुरुष हुए । राजा समुद्रविजय की रानी शिवा देवी से वैशाख शुक्ला त्रयोदशी के दिन शुभ घड़ी में नेमिकुमार का जन्म हुआ ।

तीर्थकर नामकर्म के साथ बंधे पुण्यकर्म के प्रभाव से सौधर्म इन्द्र आदि देव-देवेन्द्रों ने उनका विशेष प्रकार से जन्मोत्सव मनाया । सुमेरु पर्वत के शिखर पर ले जाकर हर्षोल्लासपूर्वक १००८ कलशों से क्षीर-सागर के निर्मल निर्जन्तुक जल से उनका जन्माभिषेक किया गया । नेमिकुमार परमशान्त, अत्यन्त सुन्दर और १००८ शुभलक्षणों से युक्त श्याम वर्ण होते हुए भी अत्यन्त आकर्षक व्यक्तित्व के धनी और अतुल्यबल के धारक थे । वे जन्म से ही मति-श्रुत-अवधिज्ञान के धारक भी थे ।

नेमिकुमार और श्रीकृष्ण सगे चचेरे भाई थे। राजा समुद्रविजय और वसुदेव - दोनों सहोदर न्यायप्रिय, उदार, प्रजावत्सल, धीर-वीर-गंभीर और अत्यन्त रूपवान, बलवान तथा शलाका पुरुषों के जनक थे।

यद्यपि नेमिकुमार जन्म से ही वैरागी प्रकृति के थे, तथापि कुरुक्षेत्र की रणभूमि में जब एक ओर राजा जरासंध और दूसरी ओर समुद्रविजय की सेनायें अपने-अपने चक्रव्यूह बनाकर युद्ध के लिए तैयार खड़ीं थीं, तब उस युद्ध में समुद्रविजय के पक्ष में बलभद्र, श्रीकृष्ण और नेमिकुमार भी युद्ध करने के लिए तैयार थे और इनका सेनापति राजा अनावृष्टि था।

इनके विरुद्ध युद्ध करनेवाले राजा जरासंध की ओर सेनापति के रूप में राजा हिरण्यगर्भ था। दोनों ओर की सेनाओं में युद्ध के समय बजनेवाली भेरियाँ और शंख गंभीर शब्द करने लगे तथा दोनों ओर की सेना युद्ध करने के लिए परस्पर सामने आ गईं।

शत्रु सेना की प्रबलता और अपनी सेना को पीछे हटती देख नेमिकुमार, अर्जुन और अनावृष्टि युद्ध विशारद श्रीकृष्ण का संकेत पाकर स्वयं युद्ध करने को तैयार हो गये और इन्होंने जरासंध के चक्रव्यूह को भेदने का निश्चय कर लिया। उससमय शत्रुओं के हृदय में भय उत्पन्न करने के लिए नेमिकुमार ने इन्द्र प्रदत्त शाक नामक, अर्जुन ने देवदत्त नामक और अनावृष्टि ने बलाहक नामक शंख बजाया। शंखनाद होते ही उनकी सेना में युद्ध के प्रति पुनः उत्साह बढ़ गया और शत्रु सेना भयाक्रान्त हो गई।

सेनापति अनावृष्टि ने शत्रु द्वारा रचित सेना के चक्रव्यूह का मध्यभाग, नेमिकुमार ने दक्षिण भाग और अर्जुन ने पश्चिमोत्तर भाग भेद डाला। यद्यपि जरासंध शत्रु सेना ने भी अपने पूरे पराक्रम के साथ युद्ध करते हुए समुद्रविजय की सेना का सामना किया; परन्तु वह श्रीकृष्ण और नेमिकुमार के बल एवं पराक्रम के सामने टिक नहीं पाई और तितर-बितर हो गई।

नेमिकुमार के अतुल्यबल को सिद्ध करनेवाली एक घटना भी प्रसिद्ध है -

एक दिन युवा नेमिकुमार कुबेर के द्वारा भेजे हुए वस्त्राभूषणों से सुशोभित होकर श्रीकृष्ण के साथ यदुवंशी राजाओं से भरी सभा में गये। राजाओं ने अपने-अपने आसन छोड़कर उन्हें नमस्कार किया। पश्चात् श्रीकृष्ण और नेमिकुमार अपने-अपने आसनों पर विराजमान हो गये। सिंहासन पर बैठे हुए वे दोनों दो इन्द्रों के सदृश सुशोभित हो रहे थे।

उस सभा में बलवानों के बल की चर्चा चल पड़ी तब किसी ने अर्जुन की प्रशंसा की तो किसी ने युधिष्ठिर, भीम की और किसी ने नकुल, सहदेव, बलभद्र और श्रीकृष्ण के बल की प्रशंसा की। तब बलदेव बोले तुम लोग जो इन सबकी बढ़ाई करते हो सो सब अपने-अपने अनुराग से ऐसा कह रहे हो। वस्तुतः बात यह है कि नेमिकुमार-सा बल अभी तीन लोक में किसी के भी नहीं है।

ज्ञातव्य है कि - वे तीर्थकर हैं और तीर्थकर जन्म से ही अतुल्यबल के धनी होते हैं - ऐसा नियम है। अतः उनके शारीरिक बल से किसी की तुलना नहीं होती; किन्तु श्रीकृष्ण ने नेमिकुमार की बढ़ाई सुनकर कौतूहलवश मुस्कराते हुए उनसे मल्लयुद्ध में बल की परीक्षा करने को कहा।

उत्तर में नेमिकुमार ने बहुत ही विनम्र शब्दों में कहा “हे अग्रज ! इसमें मल्लयुद्ध की क्या आवश्यकता है? यदि आपको मेरा बल जानना ही है तो लो मेरे पाँव को इस आसन से सरका दो” श्रीकृष्ण द्वारा अपनी शक्ति लगाने पर भी नेमिकुमार का पाँव सरकाना तो दूर रहा, वे पाँव की एक अँगुली को भी सरकाने में समर्थ नहीं हो सके। उनका समस्त शरीर पसीना -पसीना हो गया और मुख से लम्बी-लम्बी साँस निकलने लगी। अन्त में उन्होंने उनके बल को न केवल स्वीकार ही किया, वरन् उसकी प्रशंसा भी की और उनके बल को लोकोत्तर बताया।

ह
रि
वं
श
क
था

सामान्य रूप से बालक-बालिकाओं का जन्म ९ मास में ही होता है, परन्तु श्रीकृष्ण का जन्म कंस की बहिन देवकी की कूख से कंस के कारागार में सात माह में ही हो गया। जिसकी खबर कंस के पहले बलदेव और वसुदेव ने ज्ञात कर ली थी। बलदेव यह जानते थे कि कंस ने ज्योतिषी के बताये अनुसार देवकी की सभी संतानों को जन्मते ही मारने की व्यवस्था कर रखी है; किन्तु कंस ९ माह के भरोसे में कृष्ण के जन्म से अनजान रह गया।

यह भी एक सुखद संयोग और भली होनहार ही थी। यदि श्रीकृष्ण का जन्म सामान्य बालकों की भांति पूरे ९ माह में ही होता तो कंस ने उन्हें जन्म लेते ही मरवा डालने की जो पूर्व नियोजित योजना बना रखी थी, उसमें वह सफल हो जाता। कंस से कृष्ण को बचाने के लिए जन्मते ही तत्काल उन्हें गुप्त रूप से गोप सुनन्द एवं गोपिका यशोदा के यहाँ भेज दिया गया था। बलदेव और वसुदेव ने बालक कृष्ण को उन्हें यह कहकर सौंपा कि 'तुम इसे अपना पुत्र समझ कर इसका पालन-पोषण करना तथा इस बात को गुप्त ही रखना। ध्यान रहे, इसका भेद किसी को भी ज्ञात न हो अन्यथा कंस द्वारा इसे मार दिया जायेगा।'

उसी दिन जन्मी यशोदा की पुत्री को देवकी के पास लाकर सुला दिया गया था। इसतरह श्रीकृष्ण को कंस से बचाया जा सका। कंस की योजना देवकी के सभी पुत्रों को मार डालने की थी; क्योंकि भविष्यवक्ता के द्वारा कंस को यह ज्ञात हो गया था कि उसकी मृत्यु का कारण देवकी का ही कोई पुत्र बनेगा; किन्तु वसुदेव और बलदेव की बुद्धिमानी से वह अपने उद्देश्य में सफल न हो सका।

कंस अपनी मृत्यु के भय से 'न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी' की खोटी नीति के अनुसार अपनी सगी बहिन देवकी के पुत्रों को अर्थात् अपने भानजों को जन्म से ही मारना चाहता था; परन्तु होनहार को कोई टाल नहीं सकता, हुआ वही जो होना था। श्रीकृष्ण का शरीर शंख, चक्र आदि उत्तमोत्तम लक्षणों से युक्त था। वे लम्बी उम्र लेकर जन्मे थे और उनके द्वारा लोकमंगल के बहुत से कार्य होने थे। कंस उन्हें कैसे मार सकता था ?

संयोग से श्रीकृष्ण के जन्म के समय पिछले सात दिनों से बराबर घनघोर वर्षा हो रही थी। बालक को ले जाते समय गोपुर के द्वार के पास पानी की एक बूँद बालक श्रीकृष्ण की नाक में चली गयी, जिससे उसे जोर की छींक आ गई। गोपुर के द्वार के ऊपर ही कंस के पिता राजा उग्रसेन कंस के द्वारा बंधन में रह रहे थे, उन्होंने छींक की आवाज सुनी तो सहज ही उसे परोक्ष आशीर्वाद दिया कि 'हे बालक ! तू निर्विघ्न रूप से चिरकाल तक जीवित रहेगा।' उनके इस प्रिय आशीर्वाद को सुनकर बलदेव तथा वसुदेव बहुत प्रसन्न हुए और उग्रसेन से कहने लगे कि 'हे पूज्य! आप इस रहस्य को रहस्य ही रखें। देवकी के इस पुत्र से ही कंस द्वारा किए इस बन्धन से तुम्हारा छुटकारा होगा। इसके उत्तर में उग्रसेन ने विश्वास दिलाते हुए आश्वस्त किया कि यह बालक शत्रु से अज्ञात रहकर ही वृद्धि को प्राप्त होगा। उग्रसेन के उक्त वचन की प्रशंसा कर दोनों शीघ्र ही नगरी से बाहर निकले और वृन्दावन की ओर चले गये, जहाँ गोप सुनन्द और उसकी पत्नी यशोदा को बालक श्रीकृष्ण को सौंपा तथा उसे सब घटनाओं से अवगत कराया। गोपी यशोदा और गोप सुनन्द श्रीकृष्ण को पाकर अत्यन्त हर्षित हुए और उन्होंने अपने जीवन को धन्य माना।

भारतीय संस्कृति में भी कृष्ण का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। श्रीकृष्ण का चरित्र बहुत व्यापक है। श्रीकृष्ण के विषय में अनेक प्राचीन वृत्तान्त हैं, जो उनके अन्तर-बाह्य व्यक्तित्व के विषय में बहुत कुछ बताते हैं।

जैन हरिवंश पुराण में हरिवंश की एक शाखा यादव कुल और उसमें उत्पन्न दो शलाका पुरुषों के चरित्र विशेषरूप से वर्णित हैं। इन शलाका पुरुषों में एक बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ और दूसरे नववें नारायण लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं। नेमिकुमार ने अपने विवाह के अवसर पर प्रतिबंधित पशुओं की दीन दशा देख और उनका आक्रन्दन सुनकर संसार से विरक्त हो परिणय से पूर्व ही संन्यास धारण कर मुक्ति का मार्ग अपना लिया और दूसरे श्रीकृष्ण ने कौरव-पाण्डव युद्ध में अर्जुन का सारथी बनकर अपना बल कौशल दिखलाया तथा कालिया मर्दन और पर्वत को सिर पर उठा लेने अर्थात् पर्वत पर बसे लोगों को संकट से निकालने जैसे अनेक लोक-कल्याण के कार्य किये।

एक ने आध्यात्मिक उत्कर्ष का मानदण्ड स्थापित किया और दूसरे ने गोवंश वृद्धि, भौतिक समृद्धि और लौकिक लीलाओं का विस्तार किया। एक ने निर्वृत्ति का मार्ग दिखाया तो दूसरे ने प्रवृत्ति का पथ प्रशस्त किया। एक ने स्वयं अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त कर जगत को आत्मसाधना का पथ प्रशस्त किया तो दूसरा जनमंगल में ही प्रवृत्त रहा।

वैदिक धर्म में श्रीकृष्ण को प्रवृत्ति के माध्यम से निर्वृत्ति का समर्थक सिद्ध किया गया है। यद्यपि यहाँ व्यवहारतः श्रीकृष्ण प्रवृत्तिमार्गी दिखाई पड़ते हैं, तथापि मूलतः वे भी निर्वृत्तिमार्गी ही हैं, प्रवृत्ति इनका साधन अवश्य रही है, पर साध्य तो सदा निर्वृत्ति ही रही। जैन पुराणों में श्रीकृष्ण को भावी तीर्थंकर के रूप में प्रतिपादित किया है। वर्तमान में इनकी गणना ६३ शलाका महापुरुषों में होती है।

कंस को जब यह ज्ञात हो गया कि मेरी मौत का कारण जीवित है और अज्ञातवास में रहकर मेरा सबसे बड़ा शत्रु कहीं पल-पुस रहा है। बल-वृद्धि को प्राप्त हो रहा है तो उसने अपनी उपकृत देवियों को कृष्ण का पता लगाने तथा उसे मार डालने की आज्ञा दे दी।

एक देवी भयंकर पक्षी का रूप धारणकर आयी और चोंच द्वारा प्रहार कर बालक कृष्ण को मारने का प्रयत्न करने लगी; परन्तु बालक कृष्ण ने उसकी चोंच पकड़कर इतनी जोर से दबाई कि वह भयभीत हो भाग गई।

दूसरी देवी भूतनी का रूप रखकर कुपूतना बन गई और वह कृष्ण को अपने विष से भरे स्तनपान कराने लगी। कृष्ण ने उसके हाव-भाव से उसकी खोटी भावना पहचान ली और उसके स्तन का अग्रभाग इतने जोर से चूसा कि वह पीड़ा से बैचेन होकर चीखने-चिल्लाने लगी।

एक दिन कृष्ण के अधिक उपद्रव करने के कारण यशोदा ने कृष्ण का पैर रस्सी से कस कर बांध दिया। उसी दिन शत्रु की दो देवियाँ वृक्ष का रूप रखकर उन्हें पीड़ा पहुँचाने लगी; परन्तु श्रीकृष्ण ने उस बंधन की दशा में भी उन दोनों को मार भगाया।

कंस को एक ज्योतिषी ने बताया था कि जो कोई नागशय्या पर चढ़कर धनुष पर डोरी चढ़ा देगा और पाँचजन्य शंख को फूँख देगा, वही तुम्हारी मौत का कारण बनेगा; अतः ज्योतिषी के बताये अनुसार शत्रु का पता लगाने के लिए कंस ने नगर में यह घोषणा करवा दी कि जो कोई यहाँ आकर सिंहवाहिनी नागशय्या पर चढ़ेगा, अजितंजय धनुष पर डोरी चढ़ा देगा और पाँचजन्य शंख को मुख से फूँकेगा, कंस उसको अपना मित्र समझेगा तथा उसे अलभ्य इष्ट वस्तु देकर सम्मानित करेगा।”

कंस की घोषणा सुनकर अनेक राजा वहाँ आये; परन्तु वे सब इस कार्य में असफल ही रहे, परन्तु कृष्ण महा नागशय्या पर सामान्य शय्या के समान चढ़ गये। तदनन्तर उन्होंने साँपों के द्वारा उगले हुए घूम को बिखेरने वाले धनुष पर प्रत्यंचा भी चढ़ा दी और शब्दों से समस्त दिशाओं को भरनेवाले पाँचजन्य शंख को खेद रहित अनायास ही फूँक दिया।

बस, फिर क्या था; कंस ने कृष्ण को निष्प्राण करने के लिए समस्त गोपों के समूह को यमुना के उस पार हृद पर भेजा, जो प्राणियों के लिए अत्यन्त दुर्गम और जहाँ विषैले साँप लहलहाते रहते थे। उनमें एक कालिया नाम का भयानक साँप भी था, परन्तु कृष्ण ने उस कालिया नामक नाग का अपने बाहुबल से मर्दन कर डाला।

कंस ने पुनः एक बार कृष्ण को मारने के लिए मल्लों से मल्लयुद्ध हेतु कृष्ण को बुलाया; परन्तु कृष्ण ने चाणूर जैसे महामल्ल को भी अपने बाहुबल से मार डाला।

जब कंस ने देखा कि कृष्ण ने चाणूर और मुष्टिक दोनों महामल्लों को मार डाला तब स्वयं कंस हाथ में पैनी तलवार लेकर कृष्ण को मारने के लिए दौड़े, तब कृष्ण ने सामने आते हुए कंस के हाथ से तलवार छीन ली और मजबूती से उसके बाल पकड़ उसे क्रोधावेश में आकर पृथ्वी पर पटक दिया तथा पछाड़कर मार दिया।

जब जीवद्यशा ने अपने पिता जरासंध को श्रीकृष्ण के द्वारा की गई अपने पति कंस की मृत्यु का समाचार

सुनाया तो जरासंध को कृष्ण पर बहुत क्रोध आया। जरासंध ने अपने पुत्र कालयवन को उसका बदला लेने के लिए भेजा। कालयवन ने कृष्ण से सत्रह बार भयंकर युद्ध किया; परन्तु अन्त में वह कालयवन भी मारा गया।

श्रीकृष्ण नारायण तो थे ही, वे अर्द्धचक्रवर्ती अर्थात् तीन खण्ड के अधिपति महाराजा भी थे। उनका अपार वैभव था, वे परोपकारी भी थे, अतः लोकमान्य होने से भगवान की तरह पूजे जाते थे। उनकी एक-दो नहीं अनेक रानियाँ थीं; उनके अधीनस्थ बड़े-बड़े राजा-महाराजा अपनी एक से बढ़कर एक कन्याओं का विवाह उनके साथ करके अपने को धन्य मानते थे। अनेक स्त्रियों को उन्होंने स्वयंवर के द्वारा, अनेकों पर आकर्षित होकर अपहरण करके वरा था। उस काल में राजा-महाराजाओं द्वारा अपनी शक्ति प्रदर्शन करके विवाह करना अन्याय-अनीति नहीं, बल्कि बहादुरी (वीरता) का प्रतीक माना जाता था।

श्रीकृष्ण की प्रमुख रानियों में कुछ नाम इसप्रकार हैं - सत्यभामा, रुक्मणी, जाम्बवती, लक्ष्मणा, सुसीमा, गौरी, पद्मावती, गान्धारी आदि।

श्रीकृष्ण का न केवल सम्पूर्ण जीवन; बल्कि जन्म और मृत्यु भी कर्मयोग का पाठ पढ़ाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। उनके जीवन में जन्म से ही संघर्ष की शुरूआत हो गई, जन्म जेल में हुआ और मरण जंगल में। जन्म के समय कोई मंगलगीत वाला नहीं मिला और मरणसमय कोई पानी देनेवाला नहीं था।

ये दोनों घटनायें हमें देश और राष्ट्रहित में संघर्ष करने की प्रेरणा देती है। जब नारायण जैसे शक्तिशाली और पुण्यवान जीव अपने जीवन-मरण और सुख-दुःख की परवाह किए बिना कर्मयोगी बनकर अपना जीवन जीते हैं तो और यदि हम अपने को उनका अनुयायी मानते हैं, कहते हैं तो हम भी उन जैसे कर्मयोगी बनें।

और यदि संसार के कामों में रुचि नहीं है तो उन्हीं के चचेरे भाई तीर्थंकर नेमिनाथ के आदर्शों का अनुकरण करके संसार से मुँह मोड़ आत्मसाधना के अपूर्व पुरुषार्थ द्वारा पूर्णता प्राप्त कर मुक्ति के मार्ग की ओर अग्रसर हों, ज्ञान मार्ग की ओर अग्रसर हों।

रास्ते सब खुले हैं, चुनाव अपने हाथ में है।

३. कुमार वसुदेव

बाल तीर्थकर नेमिकुमार के पिता राजा समुद्रविजय ने अपने आठ भाईयों के विवाह किये। उनमें श्रीकृष्ण के पिता सबसे छोटे वसुदेव कामदेव के समान अत्यन्त सुन्दर थे। जब वे नगर में क्रीडार्थ निकलते थे, तब नगर की स्त्रियाँ उन्हें देख काम-विह्वल हो जाती थीं। इसलिए नगर के प्रतिष्ठित लोग राजा समुद्रविजय के पास गये और निवेदन करने लगे “हे राजन् ! आप के राज्य में हम सभी प्रकार से सुखी हैं। धन-धान्य की समृद्धि और व्यापार में भी वृद्धि है। हमें किसी बात की कमी नहीं है; पर हम आपसे यह निवेदन करने आये हैं कि आपके लघु भ्राता कुमार वसुदेव का अतिशय रूप-लावण्य हमारी समस्या बन गया है।

यद्यपि इसमें उनका कोई दोष नहीं है; पर हमारी समस्या यह है कि जब वसुदेव शहर में घूमने निकलते हैं तो उन्हें देखकर हमारी स्त्रियाँ एवं बहू-बेटियाँ सुध-बुध खो बैठती हैं। कुछ के तो मन भी मलिन एवं चलायमान हो जाते हैं।

यद्यपि वसुदेव सदाचारी हैं, हमारी बहू-बेटियाँ भी सुशील हैं; परन्तु सूर्य को जैसे किसी से द्वेष नहीं, पर उसकी गर्मी से पित्त की उत्पत्ति तो हो ही जाती है। वैसे ही यद्यपि कुमार में कोई मनोविकार नहीं है; पर उनके रूप-लावण्य के अतिशय से स्त्रियों का चित्त स्वतः ही चलायमान हो जाता है। अतः आप ही जो उचित समझें, हमें मार्गदर्शन करें, जिससे कुमार सुखी रहें, उन्हें कोई मानसिक कष्ट न हो और नगरवासियों की व्याकुलता भी मिट जाये।

राजा समुद्रविजय ने नगरवासियों को आश्वासन देकर विदा किया और फिर जब वसुदेव स्वतः ही मिलने के लिए बड़े भाई के पास पहुँचे, तब उन्होंने उन्हें अपने खाने-पीने की सुध रखने और आत्मसुरक्षा के दृष्टिकोण से बाहर न घूमने की सलाह दी। राजा उन्हें अपने साथ रानी के पास ले गए और रानी के समक्ष उन्हें अपनी सुरक्षा के दृष्टिकोण से समझाकर महल के उद्यान में ही घूमने को कहा। कुमार वसुदेव ने अपने

पितातुल्य पूज्य अग्रज की आज्ञा स्वीकार कर ली।

एक दिन कुब्जा नाम की दासी रानी के लिए सुगन्ध-पानादि लिए जा रही थी। वसुदेव ने उससे कौतूहलवश सुगन्ध छीन ली। तब वह ताना देती हुई कहने लगी - “तुम्हारे इस कौतूहली स्वभाव के कारण तो तुम्हें यहाँ महल में बन्दी बना रखा है।” दासी के मुख से यह वचन सुनकर वसुदेव को विचार आया - “अरे! सुरक्षा के बहाने यह तो मेरे साथ धोखा किया गया है।” यह जानते ही कुमार वसुदेव समुद्रविजय से विमुख हो गये और मन्त्रसिद्धि का बहाना कर एक नौकर को साथ लेकर रात्रि के समय श्मसान में गये। वहाँ नौकर को एक स्थान पर दूर बैठा दिया और कहा कि ‘जब मैं आवाज दूँ तब आना।’ ऐसा कह कर वे स्वयं कुछ दूर चले गये। वहाँ एक मुर्दे को अपने आभूषणों से अलंकृत कर तथा उसे एक चिता पर रखकर उन्होंने जोर से कहा “पिता के समान पूज्य अग्रज और चुगली करने वाले नगरवासी सन्तुष्ट होकर चिरकाल तक सुखी रहें, मैं अग्नि में प्रविष्ट हो रहा हूँ” - इसप्रकार जोर से कहकर तथा दौड़कर अग्नि में प्रवेश करने का नाटकीय प्रदर्शन कर छुप गये और वहाँ से अज्ञातवास में चले गये। दूर बैठे नौकर ने यह सुना; परन्तु उतनी दूर से वास्तविकता नहीं जान सका। इसकारण उसने यह खबर राजा तक पहुँचा दी कि वसुदेव ने अग्नि में जलकर आत्मघात कर लिया है।

वसुदेव ब्राह्मण का भेष धारणकर पश्चिम की ओर चले गये। जहाँ चम्पापुरी नगर में गंधर्वसेना से और विजयखेट नगर में सोमा और विजयसेना से उनका विवाह हुआ।

जीवों के जब तक जैसे पुण्य का उदय होता है तब तक वैसे अनुकूल संयोगों का मिलना सहज में ही होता रहता है।

एक दिन घूमते हुए वे एक सरोवर के किनारे पहुँचे। वहाँ जलतरंग की आवाज सुनकर एक जंगली हाथी ने उपद्रव करते हुए पापोदय से वसुदेव पर भयंकर आक्रमण कर दिया; किन्तु पूर्व पुण्योदय और वर्तमान

पराक्रम से वसुदेव ने हाथी को काबू में कर लिया।

वहाँ वसुदेव ने यह सुना कि जो सोमश्री को वेद विद्या में जीतेगा, वह ही उससे विवाह करेगा; एतदर्थ वसुदेव ब्रह्मदत्त गुरु के पास गये। ब्रह्मदत्त ने पहले उन्हें जैनधर्म की अध्यात्म विद्या पढ़ाई, बाद में वेद विद्या; क्योंकि उनकी मान्यता के अनुसार अध्यात्म विद्या ही सब विद्याओं की जननी है। वसुदेव ने दोनों विद्याओं में निपुणता प्राप्त कर सोमश्री से विवाह किया।

एक बार वसुदेव उद्यान में जैन मन्दिर के पास सो रहे थे कि एक मांसभक्षी नर ने वहाँ आकर उन्हें जगाया। वह उन्हें मारकर खाना चाहता था; किन्तु वसुदेव ने उसे ही मुष्टियुद्ध में जीत कर प्राणरहित कर दिया।

यद्यपि मार-पीट करना, किसी को भी मार डालना कोई अच्छी बात नहीं है; किन्तु गृहस्थ विरोधी हिंसा का त्यागी नहीं होने पर भी वह स्वयं पहले आक्रमण नहीं करता, आक्रान्त तो महापापी और अपराधी भी है।

इसतरह अनेक उतार-चढ़ावों के बीच संघर्ष करते और सफल होते हुए, अनेक कन्याओं को विवाहते हुए कुमार वसुदेव अरिष्टपुर आये और वहाँ के राजा रुधिर की पुत्री रोहिणी का स्वयंवर में वरण किया। इससे अनेक राजा क्रोधित हुए और उन्होंने वसुदेव से युद्ध करने की ठान ली। जरासंध ने राजाओं को बारी-बारी से वसुदेव से लड़वाया; अन्त में समुद्रविजय भी आये। अब तक समुद्रविजय को यह ज्ञात नहीं था कि मेरा अनुज वसुदेव जीवित ही है और यह वसुदेव मेरा अनुज ही है, जिससे मैं युद्ध करने आया हूँ। इसकारण दोनों भाइयों में युद्ध हुआ। वसुदेव ने अपना कौशल दिखलाने के बाद जब एक बाण पत्रसहित अपने अग्रज समुद्रविजय पर छोड़ा, तब समुद्रविजय ने जाना कि लघु भ्राता वसुदेव अभी जीवित है। यह जानकर वे बहुत हर्षित हुए।

प्रस्तुत वसुदेव के चरित्र से सबसे बड़ी शिक्षा यह मिलती है कि हम जिस पुण्य की चाह करते हैं और

उसके फल में प्राप्त शारीरिक सुन्दरता और शरीर के बल पर गर्व करते हैं, वह पुण्य और शरीर की सुन्दरता भी स्वयं के लिए किसप्रकार दुःखद बन जाती है। वसुदेव की सुन्दरता पर नगर की नारियाँ मिठाई पर मक्खियों की तरह मंडराने लगी थीं, जिससे सम्पूर्ण नगरवासियों ने मिलकर राजा से जो अपनी तकलीफ बतलाई, उसी के कारण वसुदेव को राजमहल के बन्धन में डालना पड़ा, जबकि वसुदेव ने अपनी ओर से किसी भी नारी के साथ कोई अनुचित व्यवहार नहीं किया था। यदि नारियाँ उनके रूप पर आकर्षित हुईं तो इसमें उनका क्या दोष है ? पुण्योदय से प्राप्त रूप ही तो उनकी बदनामी का और प्रतिबंध में रहने का कारण बना। जब बन्धन में रखने का यह रहस्य वसुदेव को ज्ञात हुआ तो उन्होंने अपना अपमान अनुभव किया और छुपकर भाग गये, फिर आत्मघात करने का जो नाटकीय प्रदर्शन किया, उससे उन्हें अज्ञातवास में रहना पड़ा।

यह सब पुण्य-पाप का ही तो खेल है, अतः ऐसी आकुलता में नहीं पड़ना हो तो हमें अपने आत्मस्वभाव को जानकर पहचानकर मुक्ति के मार्ग में लगना चाहिए।

थोड़ी-सी बाह्य अनुकूलता पाकर, यदि चूक गये यह स्वर्ण अवसर
तो दुर्गति में हमारा ही आत्मा हम से पूछेगा-
क्या पाया है तूने ! पर व पर्यायों में उलझकर ?
अतः क्यों न सीख लें/समझ लें इन सुखद सिद्धान्तों को
और सफल कर लें अनुकूल संयोगों को
इसी में है हम सबका भला
यही है सुखी जीवन की कला

- सुखी जीवन : आत्मकथ्य का अन्तिम तथ्य

४. कौतुक स्वभावी विनोदप्रिय नारद

शौर्यपुर में सुमित्रा तापस और सोमयशा नामकी उसकी स्त्री चन्द्रकान्ति से नारद का जन्म हुआ। एक दिन वह दम्पति बालक नारद को एक वृक्ष के नीचे सुलाकर और उसे अकेला छोड़ भिक्षावृत्ति के लिए चला गया। इसी बीच पूर्वभव के स्नेह वश एक जृम्भकदेव उस बालक को उठा कर वैताढ्य पर्वत पर ले गया। वहाँ उसने उस बालक का भलीभाँति पालन-पोषण तो किया ही, आठवर्ष की अवस्था में ही उसे जिनागम और आकाशगामनी विद्या में निपुण भी कर दिया। यही बालक आगे चलकर 'नारद' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

यद्यपि नारद बालब्रह्मचारी, देशव्रती थे पर उनका स्वभाव कौतूहली था, विनोदप्रिय होने से अपना और दूसरों का मनोरंजन किया करते थे। स्वाभिमानी कुछ अधिक ही थे, इस कारण उचित मान-सम्मान न मिलने पर असंतुष्ट हो जाते और बदले की भावना से प्रतिक्रियायें करने में भी नहीं चूकते। जैसा कि उन्होंने सत्यभामा के साथ बदले की भावना से किया।

अपनी घुमक्कड़ प्रवृत्ति के अनुसार एक बार पूर्व सूचना दिये बिना ही नारद श्रीकृष्ण के अन्तःपुर में पहुँच गये, उस समय सत्यभामा दर्पण के सामने खड़ी अपना श्रृंगार करने में तल्लीन थी। इसकारण वह उनका स्वागत-सत्कार नहीं कर सकी। बस, इतनी-सी बात पर नारदजी नाराज हो गये और उन्होंने सत्यभामा का मानभंग करने की ठान ली। उन्होंने सोचा 'स्त्रियों को सबसे बड़ा दुःख होता है सौतिया डाह का' अतः क्यों न श्रीकृष्ण की शादी एक ऐसी सर्वांग सुन्दर कन्या से करा दी जाय जो सत्यभामा से भी सुन्दर हो।'

बस, फिर क्या था, वे निकल पड़े सुन्दर कन्या की तलाश में और उन्होंने रुक्मणी की ओर कृष्ण का ध्यान आकर्षित करके, उसका अपहरण कराकर उसे सत्यभामा की सौत बनाकर अपने अनादर का बदला ले ही लिया; जबकि सत्यभामा ने बुद्धिपूर्वक उनकी उपेक्षा नहीं की थी।

नारद का पर्यायगत स्वभाव ही कुछ ऐसा था कि उन्हें एक-दूसरे को लड़ाने-भिड़ाने और दुःखी करने में ही मजा आता था, कुछ न कुछ उठा-पटक करने में ही उन्हें आनन्द आता था। वे अपने ऐसे स्वभाव के कारण आज भी बदनाम हैं। जब कोई ऐसा खरा-खोटा काम करता है तो लोग कहते हैं कि 'भैया ! तू यह नारद का काम क्यों कर रहा है।' इससे तुझे बदनामी के सिवाय और क्या मिलने वाला है; परन्तु कुछ व्यक्ति अपनी आदत से मजबूर होते हैं, जिन्हें अपने भविष्य के भले-बुरे का विवेक नहीं रहता और नारदीय प्रवृत्ति में ही वे पड़े रहते हैं।

ऐसे व्यक्तियों से मैं यह कहना चाहता हूँ कि तुम नारदजी की होड़ नहीं कर सकते। वे बहुत विवेकी भी थे। हरिवंश पुराण में उन्हें अन्त में मोक्षगामी कहा है। तात्पर्य यह है कि उन्होंने तो अन्त में यह सब त्यागकर आत्मा की साधना कर परमात्मपद प्राप्त कर लिया। क्या हम अपने जीवन में उन जैसा परिवर्तन लाकर अपना कल्याण कर सकेंगे ?

नारद के विविध प्रकार के बदलते व्यक्तित्व से हम यह शिक्षा ले सकते हैं कि यदि कोई भोगों की तीव्र लिप्सा और क्रोधादि कषायों के आवेश से तथा अपने स्वार्थीपन से बड़े-बड़े पाप करके दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करता रहा है तो फिर वह समय आने पर विरागी होकर अपने एवं संसार का स्वरूप तथा वस्तु व्यवस्था का सच्चा स्वरूप जानकर उसमें श्रद्धा करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

अतः "मैं पापी हूँ, मेरा कल्याण नहीं हो सकता" ऐसा सोचकर निराश नहीं होना चाहिए। ●

५. कौरव और पाण्डव

पाण्डवों एवं कौरवों की पूर्व परम्परा में राजा धृत के धृतराज नामक पुत्र हुआ। उसकी तीन पत्नियाँ थीं - १. अम्बिका, २. अम्बालिका, ३. अम्बा। उनमें अम्बिका के धृतराष्ट्र, अम्बालिका से पाण्डु और अम्बा से विदुर नामक पुत्र हुए।

राजा धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र थे, जो परस्पर एक-दूसरे का हित करने में तत्पर रहते थे। राजा पाण्डु की पत्नी का नाम कुन्ती थी। कुन्ती से युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम - ये तीन पुत्र हुए। इन्हीं पाण्डु की माद्री नामक दूसरी पत्नी से नकुल और सहदेव हुए। पाण्डु से उत्पन्न होने के कारण ये पाण्डव कहलाए।

जब राजा पाण्डु और उनकी पत्नी माद्री का निधन हो गया, तब पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर आदि पाण्डव और धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि कौरव राज्य के बंटवारे को लेकर परस्पर विरोधी हो गये। जब इनका विरोध बढ़ने लगा तब भीष्म पितामह, गुरु द्रोण, विद्वान विदुर और मंत्री शकुनि आदि ने मध्यस्थ बनकर राज्य के बराबर दो भाग कर दिये। एक भाग ५ पाण्डवों को और दूसरा भाग दुर्योधनादि १०० कौरवों को दे दिया; क्योंकि बंटवारा पाँच पाण्डवों और सौ कौरवों के बीच नहीं होना था; बल्कि इन दोनों के पिता की पीढ़ी में पाण्डु और धृतराष्ट्र के बीच होना था, अतः बंटवारा में मध्यस्थता करनेवालों ने किसी के साथ पक्षपात और अन्याय नहीं किया था; फिर भी राज्य का यह बंटवारा कौरवों को अभीष्ट नहीं था, अतः वे इस बंटवारे से संतुष्ट नहीं हुए। उनकी विरोधी भावनायें बढ़ती ही रहीं।

यद्यपि कर्ण भी कुन्ती और पाण्डु का ही पुत्र होने से पाण्डवों का सगा भाई था; किन्तु वह पाण्डु के साथ विधिवत् हुए विवाह के पहले गुप्तरूप से गाँधर्व विवाह करके लोकदृष्टि से कुन्ती के उदर से कौमार्यकाल में ही हो गया था। अतः वह पाण्डु की अवैधानिक सन्तान होने से राज्य के बंटवारे में उसे कोई हिस्सा नहीं मिला। इसकारण कर्ण को भी पाण्डवों से विरोध हो गया था। 'शत्रु का शत्रु मित्र हो जाता है' इस उक्ति के अनुसार कर्ण की कौरवों से मित्रता हो गई।

अर्जुन के लोकोत्तर प्रताप और अनुपम सूझ-बूझ से ईर्ष्या कर कौरव राज्य के विषय में हुई संधि में पक्षपात का दोषारोपण करने लगे। उनका आरोप यह था कि कुरुवंशियों की राज्य सत्ता पर एक ओर तो मात्र पाँच पाण्डवों को आधा राज्य और दूसरी ओर हम सौ भाइयों को आधा राज्य – यह न्यायोचित नहीं है। इससे बढ़कर और अन्याय क्या होगा ?

पाण्डवों में युधिष्ठिर शान्तिप्रिय व्यक्ति थे, अतः उन्होंने कौरवों के विरोध पर अपनी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की; परन्तु शेष चार भाई गंभीर होने पर भी शान्त नहीं रह सके। वे क्षुभित हो गये और उन्होंने नाना प्रकार से अपनी प्रतिक्रियायें व्यक्त कीं; किन्तु युधिष्ठिर ने सबको तत्त्वज्ञान का उपदेश देकर शान्त कर दिया।

कौरव अभी भी द्वेष की ज्वाला में जल रहे थे। उन्होंने एक दिन गहरी नींद में सो रहे पाण्डवों के आवासगृह में आग लगा दी। सद्भाग्य से समय पर उनकी नींद खुल गई और पाँचों पाण्डव माता कुन्ती को साथ लेकर सुरंग के रास्ते से निकलकर निर्भय हो अज्ञातवास में चले गये; किन्तु कौरव के कुटुम्बी जनों ने यह समझ लिया कि वे सब जलकर भस्म हो गये। अतः उन्होंने मरणोपरान्त होनेवाले सब क्रिया-कर्म कर दिये।

इस घटना से जनता के हृदय में दुर्योधन के प्रति विद्वेष की ज्वाला प्रज्वलित हो गई।

इधर पाण्डव गंगानदी को पार कर तथा वेश बदलकर पूर्व दिशा की ओर कौशिक नगरी पहुँचे। वहाँ के राजा वर्ण की पुत्री कुसुमकोमला ने युधिष्ठिर को देखा और उस पर आकर्षित हो जाने से मन में इच्छा की कि इस जन्म में यही मेरा पति हो। कन्या के अभिप्राय को जानकर युधिष्ठिर को भी उसके प्रति प्रेम जागृत हो गया और वे विवाह की आशा बंधाकर मनुष्यों के चित्त को आकर्षित करते हुए आगे चले गये और बारह वर्ष तक अज्ञातवास में रहकर अपना अधिकार प्राप्त करने के लिए अपनी शक्ति बढ़ाते रहे। ●

६. महासती द्रौपदी

द्रौपदी माकुन्दी नगरी के राजा द्रुपद की पुत्री थी। जिसका अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व अनेक कलाओं से अलंकृत एवं सर्वांग सुन्दर था।

राजा द्रुपद ने यह घोषणा करा दी कि जो गाण्डीव नामक धनुष को गोल करेगा, मोड़ देगा एवं चन्द्रक को वेधेगा वही द्रौपदी का वर होगा। इस घोषणा को सुनकर कर्ण, दुर्योधन आदि अनेक राजा वहाँ आए, पर वे अपने लक्ष्य में सफल नहीं हुए।

उसीसमय पाण्डव बारह वर्ष का अज्ञातवास व्यतीत करते हुए उस स्वयंवर सभा में पहुँच गये। अर्जुन ने उस लक्ष्य को बेध दिया। उसीसमय द्रौपदी ने आकर वर की इच्छा से अर्जुन की ग्रीवा में वरमाला डाल दी। द्रौपदी के पाँच पति होने का कथन विकृति मात्र है।

यह विकृति फैलने का कारण यह बना कि - अर्जुन द्वारा गाण्डीव चक्र को बेधने पर द्रौपदी ने उन्हें अपना वर स्वीकार करके उनके गले में वरमाला डाली तो संयोग से वह वरमाला टूट गई और हवा के झोंके से माला के पुष्प पास में खड़े हुए पाँचों पाण्डवों के शरीर पर जा पड़े। किसी विवेकहीन चपल मनुष्य ने मजाक में यह जोर-जोर से कहना शुरू कर दिया कि द्रौपदी ने पाँचों राजकुमारों को वरा है; जबकि वस्तुतः द्रौपदी ने अर्जुन को ही अपने पति के रूप में चुना था। अर्जुन के ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर और भीम द्रौपदी को बहू जैसा मानते थे तथा अर्जुन के छोटे भ्राता नकुल और सहदेव द्रौपदी भाभी को माता के समान पूज्य मानते थे। द्रौपदी भी युधिष्ठिर एवं भीम को अपने श्वसुर पाण्डु के समान सम्मान देती थी तथा दोनों नकुल और सहदेव को पुत्रवत् मानती थी। वस्तुतः द्रौपदी पतिपरायण महासती नारी थी।

अर्जुनादि पाँचों पाण्डव बारह वर्ष का अज्ञातवास करते हुए राजा विराट की विराट नगरी में पहुँचे। विराट की रानी का नाम सुदर्शना था। एक दिन चूलिका नगरी का राजकुमार कीचक अपनी बहिन सुदर्शना से मिलने के लिए विराटनगर आया। वहाँ उसने द्रौपदी को देखा और वह उस पर मोहित हो गया। वह वहाँ

से अन्यत्र कहीं भी जाता, परन्तु उसका मन द्रौपदी में ही लगा रहता। कीचक ने स्वयं अनेक उपायों से द्रौपदी को लुभाया, दूसरों के द्वारा भी अनेक प्रलोभन दिखलाये, पर उसके हृदय में स्थान प्राप्त नहीं कर सका।

नारद से द्रौपदी की प्रशंसा सुन राजा पद्मनाभ ने जब देवांगना के समान द्रौपदी को देखा तो वह भी उसके रूप पर मोहित हो गया। अपना परिचय देते हुए वह बोला – मैं राजा पद्मनाभ हूँ। नारद ने मुझे तुम्हारे विषय में बताया था कि तुम अत्यन्त सुन्दर हो और मेरे योग्य हो; इसलिए मेरा आराधित देव मेरे लिए तुम्हें यहाँ अपहरण करके लाया है।

ये वचन सुनकर महासती द्रौपदी सोचने लगी – “अहो ! नारद ने नाराज होकर यह क्या किया ? यह तो एक नया संकट आ गया है। अब तो जब तक अर्जुन के दर्शन नहीं होंगे तब तक मेरा अन्न-जल-श्रृगांरादि का त्याग रहेगा” – ऐसा संकल्प कर उसने अपनी वेणी भी बाँध ली, जिसे अब अर्जुन ही छोड़ेंगे।

द्रौपदी ने पद्मनाभ से कहा – “हे पद्मनाभ ! यदि तू अपना कल्याण चाहता है तो मुझे सर्पिणी के समान विषधर समझकर शीघ्र ही वापस भेज दे।” परन्तु मोहान्ध पद्मनाभ ने द्रौपदी का कहना नहीं माना, तब महासती द्रौपदी ने पुनः कहा – “मुझे एक माह का मौका दे। मेरे स्वजन यदि एक मास में यहाँ न आए तो तुम्हारी जो इच्छा हो वह करना।” यह सुनकर पद्मनाभ चुप तो हो गया; पर द्रौपदी को अपने अनुकूल करने के परोक्षरूप से प्रयत्न करता रहा, किन्तु वह सती अपने दृढ़ निश्चय पर डटी रही। अर्जुन के वहाँ से ले जाने पर्यन्त टस से मस नहीं हुई।

इन सब बातों से द्रौपदी के सतीत्व की शंकायें स्वतः निर्मूल हो जाती हैं।

राजमती राजुल भोजवंशी राजा उग्रसेन की पुत्री थी। उनका विवाह सौरीपुर के राजा समुद्रविजय के पुत्र नेमिकुमार के साथ होना निश्चित हुआ था; जब नेमिकुमार राजुल को ब्याहने के लिए ठाट-बाट से बारात लेकर आये; जिसमें बहुत अधिक संख्या में बाराती आये थे। बारात के व्यवस्थित शुभागमन एवं स्वागत की जोरदार तैयारी की गई थी। श्रावण का महीना और सायंकाल गोधूलि का समय होने से जंगल से पशुओं की वापसी की पूरी-पूरी संभावना थी। अतः नगर के सभी मार्गों के दोनों ओर बांस-वहलियाँ लगाकर बारात आने के मार्ग को निर्विघ्न बनाया गया था। जंगल से आते पशुओं को अपने-अपने घर पहुँचने का कोई मार्ग नहीं था और गायों के छोटे-छोटे बछड़े दिनभर से घर पर बंधे माँ की प्रतीक्षा में रंभा रहे थे। गायें दूध से भरे थनों को भूखे बछड़ों को पिलाने की आकुलता में व्याकुल होने से रंभा रही थीं। उनकी इसतरह करुण आवाजें सुनकर रथ में बैठे श्री नेमिकुमार ने सहज ही पूछ लिया - यह गायों-बछड़ों के रंभाने की चारों ओर से दुःख भरी आवाज क्यों आ रही है ?

एक ने कहा - “आपकी बारात ही इनके दुःख का कारण है। जब तक इतनी बड़ी बारात राजा उग्रसेन के दरवाजे तक नहीं पहुँच जाती, तबतक ये इसीतरह रंभाते चीखते-चिल्लाते रहेंगे; क्योंकि सब मार्गों को सब ओर से अवरुद्ध कर दिया गया है।”

बस, फिर क्या था करुणानिधान तद्भव मोक्षगामी तीर्थंकर पद के धारक नेमिकुमार का माथा ठनका। उन्होंने सोचा - “अरे ! यह जगत इतना स्वार्थी है, अपने क्षणिक सुखाभास के लिए स्वभावतः दीन-हीन दुःखी प्राणियों को इसतरह दुःखी करता है। धिक्कार है ऐसे सांसारिक सुख को, बारम्बार धिक्कार है ऐसे गृहस्थ जीवन को, मेरे निमित्त से एक भी प्राणी को किसी भी प्रकार से किंचित् भी पीड़ा या बाधा नहीं होनी चाहिए।

उन्होंने अपने रथ के सारथी को आज्ञा दी, रथ को वापिस मोड़ दो, अब मेरी शादी नहीं होगी। आत्मकल्याण के योग्य यह अवसर इस तरह के राग-रंग में, विषय-वासना के कीचड़ में गंदा करने के लिए

नहीं मिला है। यह भव तो भव का अभाव करने के लिए मिला है। मैं तो प्राप्त पर्याय में अटक कर, सन्मार्ग से भटक कर यह भूल ही गया था। यह तो बहुत अच्छा हुआ कि सही बात सही समय पर समझ में आ गई। अन्यथा शादी-ब्याह के बन्धन में बंध कर संसार के दल-दल में फंस ही जाता।”

बुजुर्ग बारातियों ने उन्हें समझाने का बहुत प्रयत्न किया; पर उन्होंने किसी की नहीं सुनी और बारात वापिस हो गई।

जिनको भली होनहार से जब आत्मकल्याण करने का सुअवसर प्राप्त हो जाता है तो फिर वह ऐसा मंगलमय अवसर कैसे चूक सकता है। नेमिकुमार ने दृढ़ निश्चय कर लिया कि अब वे गृहस्थ जीवन के दलदल में नहीं फसेंगे। अबतक जो विवाह नेमिकुमार को मांगलिक (सुखद) लग रहा था, वही विवाह अब उन्हें दुःखद दिखने लगा।

जब इस बात की खबर राजुल तक पहुँची तो प्रथम तो उसे क्षणिक आश्चर्य हुआ, परन्तु वह भी विवेकवान विराग प्रकृति की धर्मात्मा नारी थी, तत्काल संभल गई। उसे भी जो शादी रागवश मांगलिक लग रही थी, सुखद लग रही थी; वही दुःखद लगने लगी। अतः स्वयं को संभाल कर उसने भी नेमिकुमार की भांति ही आत्मसाधना के लिए अपना मानस बना लिया।

शादी के राग-रंग का वातावरण गंभीरता में बदल गया, नेमिकुमार और राजुल तो जिनदीक्षा लेकर तपश्चरण हेतु गिरनार की ओर चले गये और भी अनेक राजाओं ने आत्मकल्याण करने का मानस बना लिया।

राजीमती (राजुल) कथाप्रसंग में नेमिकुमार के साथ उनके विवाह की जो रूपरेखा अंकित हुई है, उसमें ब्याहने आई बारात के लौटने की बात को लेकर रागी जीवों को राजमती पर दया आती प्रतीत होती है। प्रायः सभी कथाकार राजमती के चरित्र को इसीप्रकार चित्रित करते हैं कि - “बेचारी राजमती रोती-बिलखती रह गई और निर्दयी नेमिकुमार बारात वापिस लेकर राजा उग्रसेन के दरवाजे से लौट गये। बहुत बुरा हुआ.....।”

“मैं जानना चाहता हूँ क्या सचमुच बुरा हुआ ? अरे ! रागी क्या जाने विरागियों की बातें। वो दया की नहीं, श्रद्धा की पात्र बन गई, श्रद्धेय बन गई, पुजारिन से पूज्य बन गई। राजमती बारात वापिस जाने के कारण आर्यिका नहीं बनी थी, बल्कि उनका भी राग टूट गया था, आर्यिका के व्रत लेना उनकी मजबूरी नहीं, अहो भाग्य था ! अहो भाग्य !! महाभाग्य !!!

राजमती और नेमिकुमार के इस विवाह प्रसंग से हम राजमती के अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व का सहज अनुमान लगा सकते हैं। राजमती (राजुल) ने तत्काल विरागी होकर स्वतंत्र रूप से आर्यिका के व्रत लेने का कल्याणकारी निर्णय लेकर सच्चे सुख का मार्ग अपना लिया था। वे रोने नहीं बैठी थी; उनकी आँखों से एक आंसू भी नहीं निकला था, क्योंकि वे यह जान गयी थीं कि “नेमिकुमार ने जो निर्णय लिया है, वही मंगलमय है, वही मंगलकरण है। अतः मैं भी उन्हीं के पद चिह्नों पर चलकर अपना कल्याण करूँगी।”

भला ऐसी विवेकी नारियाँ रोने कैसे बैठ सकती थीं ? सचमुच वे बिल्कुल भी नहीं रोई थीं; क्योंकि यह रोने का नहीं खुशी मनाने का अवसर था।

“जब श्रीकृष्ण ने मल्लयुद्ध का प्रस्ताव रखा तब नेमिकुमार ने युद्ध न कर अपने पैर को जमीन पर जमा कर उसे हिलाने के प्रस्ताव द्वारा अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया था।

इस घटना से भी नेमिकुमार और राजुल का तथा उनके निमित्त से विरक्त हुए लाखों जीवों का कल्याण तो हो ही गया था। आज भी जो उनके इस आदर्शजीवन चरित्र को पढ़ेंगे, उनका भी कल्याण होगा।

इसप्रकार हरिवंश कथा में इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त और भी बहुत से महत्त्वपूर्ण प्रेरणाप्रद पात्र हैं, जिनसे बहुत कुछ सीखा जा सकता है। उन सबका चरित्र-चित्रण यथास्थान सर्गों में किया ही गया है। अनेक पात्र तो ऐसे हैं, जिन पर स्वतंत्र पौराणिक कथायें या चरित्र लिखे गये हैं। जैसे कि - प्रद्युम्न चरित्र, पाण्डव पुराण, चारूदत्त चरित्र आदि।

वर्तमान पाठकों के मनोविज्ञान को ध्यान में रखकर अति विस्तार करना ठीक नहीं समझा, अतः विस्तार पर नियंत्रण रखने के कारण ही यहाँ पृथक् से सभी पात्रों का परिचय नहीं दिया गया। ●

प्रथमानुयोग : प्रयोजन, विधान, पद्धति

प्रयोजन :- प्रथमानुयोग अर्थात् कथा ग्रन्थों में संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल, महन्त पुरुषों की शुभाशुभ प्रवृत्ति आदि निरूपण से पुण्य-पाप से हटाकर संसारी-अज्ञानी जीवों को धर्म में लगाया जाता है। यद्यपि महन्त पुरुषों में राजाओं की सुख-दुःख की कथायें ही अधिक हैं; पर सर्वत्र प्रयोजन पाप को छुड़ाकर धर्म में लगाने का ही प्रगट करते हैं। पाठक पहले उन महन्त पुरुषों की कथाओं की जिज्ञासा से उन्हें पढ़ते हैं और फिर पाप को बुरा जान एवं धर्म को भला जान धर्म में रुचिवन्त होते हैं।

जैसे - सुभटों की प्रशंसा जिसमें हो - ऐसे पुराण पुरुषों की कथा सुनने से सुभटपने में रुचि रखनेवालों के अति उत्साहवान होता है, उसीप्रकार धर्मात्माओं की प्रशंसा एवं पापियों की निन्दा जिसमें हो - ऐसे पुराण पुरुषों की कथायें सुनने से धर्म में अति उत्साहवान और पाप कार्यों में अरुचि होती है, इसप्रकार प्रथमानुयोग का प्रयोजन जानना।

विधान :- प्रथमानुयोग में मूल कथायें तो जैसी हैं, वैसी ही निरूपित करते हैं तथा उनमें जो प्रसंगोपात् व्याख्यान होते हैं, वह कोई तो ज्यों का त्यों होता है और कोई ग्रन्थकर्ता के विचारानुसार भी होता है, परन्तु प्रयोजन अन्यथा नहीं होता। जैसे - तीर्थकरों के कल्याणकों में इन्द्र आये, यह बात तो यथार्थ है; किन्तु इन्द्र ने जिन शब्दों में स्तुति की थी, वैसा ही शास्त्र में निरूपण संभव नहीं है, अतः स्तुति आदि तो ग्रन्थकर्ता के विचारानुसार ही होती है।.....

पद्धति :- प्रथमानुयोग में रस, छन्द और अलंकार शास्त्र की पद्धति मुख्य है तथा परोक्ष बातों को कुछ को बढ़ा-चढ़ाकर निरूपण करते हैं; किन्तु इसका प्रयोजन एकमात्र यह ही है कि जो शलाका पुरुष पहले संग्रामों और विषय भोगों में इतने अधिक रचे-पचे रहे, वे ही बाद में जब उन सबका त्याग करके मुनि हुए और मुक्त हुए तो हम लोग भी जो अभी तक पाप पंक में आकण्ठ डूबे हैं। अब इनका त्याग कर अपना कल्याण क्यों नहीं कर सकते ? कर सकते हैं - यह विश्वास दृढ़ होता है।

- आधार, मो.मा. प्र. अ.-८, आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी

१

(कुण्डलिया)

तत्त्वज्ञान कुनैन बिन, आस्रव ज्वर नहिं जाय ।

हो मिठास हरिवंश की, तत्त्व सहज रुच जाय ॥

तत्त्व सहज रुच जाय, यह ही एक उपाय है ।

ज्वर अज्ञान असाध्य, समकित कुनैन से जाय है ॥

वस्तुस्वरूप विवेक बिन, रहे सदा बैचेन ।

औषधि यही अमोघ है, तत्त्वज्ञान कुनैन ॥

आजकल ग्रन्थ में आये महत्त्वपूर्ण विषयों की सूची ग्रन्थ के प्रारंभ में ही पृथक् से प्रकाशित करने की प्रथा है; उसी की पूर्ति आचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण के प्रथम सर्ग में श्लोकों के माध्यम से की है ।

पाठक हरिवंश पुराण के प्रथम सर्ग का सार पढ़कर सम्पूर्ण ग्रन्थ में कहाँ-क्या कथन आया है ? यह जान सकते हैं ।

मूल ग्रन्थ में आये विषय मूलतः निम्नांकित आठ अधिकारों में हैं -

१. लोक वर्णन, २. राजवंशों की उत्पत्ति, ३. हरिवंश अवतार, ४. वसुदेव की चेष्टाओं का कथन, ५. नेमिनाथ का चरित्र, ६. द्वारिका का निर्माण, ७. युद्ध का वर्णन और ८. निर्वाण । ये सभी अधिकार अपने अवान्तर अधिकारों से अलंकृत है ।

दसवें तीर्थंकर भगवान् शीतलनाथ के समय हरिवंश की उत्पत्ति और उसी हरिवंश में आगे २०वें तीर्थंकर

भगवान् मुनिसुव्रत का जन्म, राजा वसु का वृत्तान्त, विष्णुकुमार मुनि का चरित्र, सेठ पुत्र चारुदत्त का चरित्र, बलदेव की उत्पत्ति, कंस, जरासंध, सिंहरथ, राजा उग्रसेन, श्रीकृष्ण के पिता कुमार वसुदेव का अनेक सर्गों में वर्णन तथा भगवान् नेमिनाथ के भवतापहारी चरित्र, अनेक सर्गों में कृष्ण की उत्पत्ति, गोकुल में कृष्ण की बाल चेष्टायें, बलदेव के उपदेश से समस्त शास्त्रों का ग्रहण, श्रीकृष्ण के जीवन सम्बन्ध में एवं कृष्ण से संबंधित संपूर्ण परिवार का प्रासंगिक विस्तृत वर्णन है।

भगवान् नेमिनाथ के कथानक में उनकी दिव्यध्वनि के माध्यम से ६३ शलाका पुरुषों की उत्पत्ति, तीर्थकरों के कालसंबन्धी अन्तर का विस्तार, द्वीपायन मुनि के क्रोध की घटना, पाण्डवों के तप आदि की चर्चा जो-जो भी महत्त्वपूर्ण प्रेरणादायक वैराग्यवर्द्धक प्रसंग समय-समय पर घटित हुए, प्रस्तुत ग्रन्थ में उन सभी को यथास्थान सविस्तार लिखा गया है।

दसवें तीर्थकर शीतलनाथ के तीर्थकाल में हरिवंश की उत्पत्ति हुई, उसी हरिवंश का परिचय हमें मोक्षमार्ग प्रकट करने के लिये प्रेरणा स्रोत बनेगा। अतः प्रस्तुत हरिवंश कथा में इन्हीं विषयों की विशेष चर्चा की गई है।

दसवें तीर्थकर शीतलनाथ भगवान् के तीर्थकाल में राजा आर्य ने अपने भुजदण्ड से समस्त राजाओं को वश में करके अपना आज्ञाकारी बनाया और प्रेममूर्ति मनोरमा के साथ चिरकाल तक राजसुख एवं विषयसुख का उपभोग किया; परन्तु वह दम्पति उस सांसारिक सुख से तृप्त नहीं हुआ, होता भी कैसे? राज-काज और विषयों में सुख है ही कहाँ? जो उसके मिलने से व्यक्ति तृप्त हो जाये। कहा भी है -

जो संसार विषे सुख होता, तीर्थकर क्यों त्यागें।

काहे को शिवसाधन करते, संयम सों अनुरागे ॥

कालान्तर में इन्हीं राजा आर्य और मनोरमा के 'हरि' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो इन्द्र के समान प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। राजा आर्य और रानी मनोरमा ने चिरकाल तक पुत्र की असीम धन-सम्पत्ति और अपार वैभव का सुख भोगा। तत्पश्चात् दोनों अपने-अपने कर्मों के अनुसार परलोकवासी हो गये।

यह राजा हरि और उनके नाम पर चले यशस्वी हरिवंश की उत्पत्ति का प्रथम चरण है। इन राजा हरि के महागिरि नामक पुत्र हुआ। महागिरि के उत्तम नीति का पालक हिमगिरि पुत्र हुआ। हिमगिरि के वसुगिरि और वसुगिरि के 'गिरि' नामक पुत्र हुआ।

ये सभी यथायोग्य स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त हुए, तत्पश्चात् हरिवंश के तिलकस्वरूप इन्द्र के समान सैकड़ों राजा हुए जो क्रम से विशाल राज्य और तप का भार धारण करते हुए कुछ तो मोक्ष गये और कुछ स्वर्ग गये।

इसप्रकार क्रम से बहुत राजाओं के होने पर उसी हरिवंश में बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के जीव की स्वर्ग से आयु पूर्ण होने के कुछ समय पूर्व मगध देश का स्वामी राजा सुमित्र हुआ। वह विशिष्ट ज्ञान से विभूषित था। वह अपनी जिनभक्त प्रिया पद्मावती के साथ सुख का उपभोग करता हुआ चिरकालतक शासन करता रहा।

ज्ञातव्य है कि राजा सुमुख और वनमाला के जीव ही हरिवंश के जन्मदाता राजा आर्य और रानी मनोरमा के पूर्वभव के जीव हैं।

राजा सुमुख और वनमाला

राजा सुमुख का बाह्य व्यक्तित्व प्रतापवन्त, वीर्यवान, शारीरिक सौन्दर्यवान, अनेक कलाओं में निपुण, प्रजारक्षक, दुष्टों का निग्रह और सज्जनों का अनुग्रह करनेवाला था। साथ ही धर्म, अर्थ एवं काम पुरुषार्थों में परस्पर सामंजस्य स्थापित करते हुए आगत ऋतुओं के अनुकूल भोगों में तन्मय होना भी उनकी रुचि का विषय था।

भूमिकानुसार भोग तो ज्ञानी/धर्मात्माओं के भी होते हैं; परन्तु राजा सुमुख से इस विषय में कुछ अति हो दिखाई गई है। वह अनेक रानियों के होने पर भी परस्त्री में आसक्त हो गया था। फिर भी उसका परभव बिगड़ा नहीं, यह कौतूहल और जिज्ञासा का विषय है, इसका समुचित समाधान भी इसी

में है तथा सुमुख और वनमाला के प्रेम-प्रसंग और रतिक्रीड़ा का भी वर्णन अत्यन्त सटीक है, जिसे साहित्यिक दृष्टि से संयोग श्रृंगार का चरमोत्कर्ष कहा जा सकता है।

वनमाला मूलतः वीरक वैश्य की पत्नी थी। नगर का निरीक्षण करते हुए राजा सुमुख की दृष्टि उस पर पड़ गई और वह उस पर मोहित हो गया। वनमाला भी राजा को देखकर आकर्षित हो गई।

वनमाला पर अत्यधिक आसक्ति के कारण वह उसे पाने के लिए तड़पने लगा। उसका मुख मण्डल मलिन और विषादयुक्त हो गया। स्वामी को उदास देख उसके सुमति नामक मंत्री ने एकान्त में राजा से उदासी का कारण पूछा और सच्चे सेवक के नाते सभी प्रकार के मनोरथ को यथाशक्ति पूर्ण करने का विश्वास दिलाया।

बुद्धिमान और विश्वासपात्र मंत्री के वचनों से आश्वस्त होकर राजा सुमुख ने वीरक वैश्य की रूपवती पत्नी वनमाला के आकर्षण और उस पर आसक्त होने की अपनी सारी व्यथा-कथा कह दी।

मंत्री आदि राजकर्मियों का काम अपने स्वामी की तात्कालिक समस्याओं का समाधान एवं निराकरण करना ही प्रमुख होता है, अतः सुमति मंत्री ने अपने अधीनस्थ सेवकों द्वारा वनमाला को राजा सुमुख से मिलवाने की व्यवस्था कर दी। वनमाला भी राजा के रूप-लावण्य पर मोहित हो गई थी इसकारण मंत्री की यह योजना सहज सुलभ हो गई।

वनमाला के चले जाने से उसका पति वीरक वैश्य पहले तो पत्नी के वियोग में परेशान हुआ; परन्तु बाद में पत्नी की पर-पुरुष के प्रति आसक्ति से संसार की विचित्रता का विचार आने पर वह विरक्त हो गया।

यद्यपि ऐसे कार्यों से इस जन्म में अपयश और आगामी जन्मों में कुगति की प्राप्ति होती है - शास्त्रानुसार ऐसा जानते हुए भी कामपीड़ित-मोहान्ध मानव उसके दुष्परिणाम की परवाह नहीं करते। यह सान्धान्य नीति है।

“विषयासक्त चित्तवाले व्यक्ति के ऐसे कौन से गुण हैं, जो नष्ट नहीं हो जाते। अरे ! न उसमें विद्वत्ता रहती है, न मानवता; न ही अभिजात्यपना तथा न सत्य बोलना ही उसके जीवन में संभव है। कामासक्त व्यक्ति के सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। यही स्थिति राजा सुमुख और वनमाला की हो रही थी।”

राजा सुमुख और वनमाला के प्रेम प्रसंग के अन्तिम दृश्य का पटाक्षेप करते हुए कहा है – राजा सुमुख को वनमाला का वियोग असह्य था, अतः उसे वनमाला को उसके पतिगृह वापिस भेजने का विचार ही नहीं आया। वनमाला भी अन्य रानियों में मुख्य स्थान पाकर एवं राजा का विशेष प्रेम पाकर वहीं रम गई।

ठीक ही है – भवितव्यानुसार ही जीवों की बुद्धि, विचार एवं व्यवसाय होता है और निमित्त आदि बाह्य कारण भी वैसे ही मिल जाते हैं।

यदि राजा सुमुख अपनी भूल सुधारने हेतु वनमाला को अब उसके पतिगृह भेजना भी चाहता और वनमाला अपने पूर्व पति के पास जाना भी चाहती तो भी अब उसका पतिगृह लौटना संभव नहीं था; क्योंकि वनमाला के पति वीरक वैश्य ने संसार से विरक्त होकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली थी।

जिनकी भली होनहार होती है; उनके परिणाम, परिस्थितियाँ और भावनायें बदलते देर नहीं लगती। वीरक वैश्य तो विरागी होकर दिगम्बर मुनि दीक्षा लेकर आत्मसाधना में मग्न हो ही गये। ‘वरधर्म’ नामक मुनिराज का आहार के निमित्त से सहसा राजा सुमुख के यहाँ शुभागमन होने से उनके दर्शन और उपदेश का निमित्त पाकर वनमाला और सुमुख का भी जीवन बदल गया।

दर्शनविशुद्धि से विशुद्ध, उत्कृष्ट तप, व्रत, समिति, गुप्तिरूप चारित्र के धारक जितेन्द्रिय मुनिराज के दर्शन कर राजा सुमुख का मन मयूर हर्षातिरेक से नाच उठा। वह उत्साहित हो उठकर खड़ा हो गया। मुनिराज के प्रति उमड़ी भक्तिभावना से परिणाम उज्ज्वल हो गये, मोह मंद पड़ गया। फलस्वरूप राजा सुमुख ने वनमाला के साथ ही आगे बढ़कर पहले तो मुनिराज की भक्ति की, फिर तीन प्रदक्षिणायें दीं और विनय सहित पड़गाहन कर प्रासुक जलधारा से मुनिराज के चरण धोए तथा अष्टद्रव्य से उनकी

पूजा की। तदनन्तर हर्षपूर्वक आहारदान दिया। उस समय राजा सुमुख और वनमाला के परिणाम एक समान विशुद्ध हो गये थे; इसलिए दोनों को ही एक जैसा फल देनेवाला पुण्यबन्ध हुआ।

आहार के उपरान्त दोनों को उपदेश का पात्र जानकर-वरधर्म मुनिराज ने उन्हें सम्बोधित किया। अपने आध्यात्मिक उद्बोधन में मुनिराज ने कहा - “हे भव्य! यह मानव जन्म पाना अति दुर्लभ है। जो हमें किसी पुण्य विशेष से सहज प्राप्त हो गया है, यदि इसे हमने विषयान्ध होकर यों ही विषयों में खो दिया तो ‘समुद्र में फेंके चिन्तामणि रत्न’ जैसी मूर्खता ही होगी। उसे कोई भी व्यक्ति बुद्धिमान नहीं कहेगा? थोड़े से पुण्य के उदय में उलझकर वह अज्ञानी प्राणी अपने दुर्लभ मनुष्यभव रूप चिन्तामणि रत्न को संसार के भयंकर दुःख समुद्र में डुबोने का कार्य कर रहा है। मोहवश अज्ञानी को इतना भी विवेक नहीं रहता कि - यह सांसारिक सुख बाधा सहित हैं, क्षणिक हैं, इसके आदि, मध्य एवं अन्त में - तीनों काल दुःख ही दुःख है, ये पाप के बीज हैं। इस विषयानन्दी रौद्रध्यान का फल साक्षात् नरक है; अतः समय रहते तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा आत्मानुभूति प्राप्त कर इस मनुष्य जन्म में भव के अभाव का बीज बो देने में ही बुद्धिमानी है। एतदर्थ नियमित स्वाध्याय और यथायोग्य व्रत नियम-संयम के साथ ही जीवन जीने की कला का अभ्यास करना चाहिए।

मुनिराज ने तत्त्वोपदेश देते हुए आगे कहा - परमात्मा दो प्रकार के होते हैं। १. कारण परमात्मा, २. कार्य परमात्मा। अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख एवं अनन्तवीर्य को प्राप्त अरहंत एवं सिद्ध भगवान् कार्य परमात्मा हैं, उन्होंने अपने स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव रूप स्वचतुष्टय के सहारे घातिया-अघातिया कर्मों का अभाव करके कार्य परमात्मा का पद प्राप्त किया है।

हम-तुम और समस्त भव्य जीव स्वभाव से परमात्मा हैं। जिन जीवों में कार्यपरमात्मा बनने के कारण रूप निज की उपादानगत योग्यता विद्यमान है, वे सब कारणपरमात्मा हैं। जो जीव कार्यपरमात्मा के द्वारा प्राप्त जिनवाणी के रहस्य को जानकर वस्तुस्वातंत्र्य आदि सिद्धान्तों को समझकर अपने अनादिकालीन अज्ञान एवं मोहान्धकार का नाश करके आत्मानुभव कर लेते हैं। पर में हुई एकत्व,

ममत्व, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व बुद्धि को त्याग देते हैं। इष्टानिष्ट के संयोग-वियोग की मिथ्या कल्पनाओं से उत्पन्न आर्तध्यान एवं विषयों में आनन्द मानने रूप रौद्र ध्यान के दुष्परिणामों को जान लेते हैं, वे जीव अल्पकाल में मिथ्यामान्यता और इष्टानिष्ट कल्पनाओं से उत्पन्न संसार सागर के भयंकर दुःखों से मुक्त हो सकते हैं।

मुनिराज के ऐसे पावन मंगलमय तत्त्वोपदेश को सुनकर-प्रत्युत्पन्नमति राजा सुमुख गद्-गद् हो गया। उसे ऐसा लगा कि मुनिश्री ने तो अपने ज्ञानाब्ज से मुझ मोहान्ध व्यक्ति के ज्ञान नेत्र ही खोल दिये हैं। बस, फिर क्या था? उसने मुनिराज की प्रेरणा से नियमित स्वाध्याय करने की प्रतिज्ञा तो ले ही ली, परस्त्री को ग्रहण करने जैसे जघन्य अपराध के लिए भी पश्चात्ताप की अग्नि में जलकर अपने पापों का प्रायश्चित्त करने लगा।

उधर वनमाला के पति वीरक-वैश्य ने पत्नी के वियोग में अधिक दुःखी न होकर तत्त्वज्ञान के अभ्यास से तथा पत्नी के परपुरुष की ओर हुए अनुराग की घटना से संसार की असारता और विषयों के सुखों की क्षणभंगुरता जानकर समस्त सांसारिक सम्बन्धों से नाता तोड़कर एवं विषयसुख से मुख मोड़कर जिनदीक्षा धारण कर ली थी, इसकारण अब राजा सुमुख वनमाला को छोड़कर उसे निराश्रय कर दे; यह तो संभव नहीं था; पर उसका मोह भंग अवश्य हो गया था। अतः अब उसे अपनी भूल का अहसास बहुत गहराई से हो रहा था।

इस प्रकार अचानक हुए परिणामों के परिवर्तन से तत्त्वज्ञान के अभ्यास और मुनिराज को भक्ति, पूजा, विनय-सत्कार के साथ दिए गये आहार दान आदि के फलस्वरूप राजा सुमुख-वनमाला का काल सुख से बीत रहा था, इधर तो उनकी आयु का अन्त आया और उधर उन पर उल्कापात हुआ। इस तरह सोते-सोते ही उल्कापात के निमित्त से मृत्यु को प्राप्त होकर दोनों विजयाब्द पर्वत पर विद्याधर-विद्याधरी के रूप में उत्पन्न हुए।

राजा सुमुख का जीव विजयाब्द पर्वत की उत्तर श्रेणी पर स्थित हरिपुर नगर के रक्षक पवनगिरि विद्याधर और उसकी पत्नी मृगावती विद्याधरी के घर पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। इस भव में उसका

नाम 'आर्य' था। आर्य को कुछ समय बीतने पर अपनी पूर्वभव की प्रेमिका वनमाला का जातिस्मरण ज्ञान हो गया।

उसी विजयाब्द पर्वत की उत्तरश्रेणी में मेघपुर नामक नगर के राजा पवनवेग और उसकी पत्नी मनोहारी के कूँख से वनमाला के जीव ने पुत्री के रूप में जन्म लिया। इस भव में वनमाला का नाम 'मनोरमा' था। मनोरमा को भी अपने पूर्वभव का जातिस्मरण ज्ञान हो गया था। वे दोनों बालक-बालिका अपने-अपने पितृगृहों में चन्द्रकलाओं की भाँति बढ़ रहे थे। युवा होने पर आर्य का विवाह पूर्व संस्कारों के कारण सहज ही मनोरमा के साथ हो गया और उनका काल सभी प्रकार की सांसारिक अनुकूलताओं में सुख से व्यतीत होने लगा।

राजा सुमुख के द्वारा पत्नी वनमाला के हरण रूप में ठगा हुआ 'वीरक सेठ' प्रारंभ में तो वनमाला के विरह में बहुत दुःखी रहा; क्योंकि अचानक अपनी प्रियतमा पत्नी के हरण हो जाने पर किसे कष्ट नहीं होगा? परन्तु तत्त्वज्ञान के सहारे उसने संसार की दशा का विचार कर अपने आप को संभाला और विरागी होकर साधु बनकर आत्मा-परमात्मा की साधना-आराधना करने लगा। फलस्वरूप वह समाधिमरण द्वारा मृत्यु का वरण करके प्रथम स्वर्ग में वैभववान देव हुआ।

यद्यपि वहाँ वह एक से बढ़कर एक अनेक देवांगनाओं का स्वामी था; परन्तु पूर्व का अनुभूत स्नेह का संस्कार बड़ी कठिनाई से छूटता है। उसने अपने अवधिज्ञान से वनमाला की वर्तमान स्थिति को जानने का प्रयत्न किया तो उसको मनोरमा का पता लग ही गया। वनमाला के भव की स्मृतियाँ भी चित्रपट की भाँति मानस पटल पर उभरकर आ गईं। वह विचार करने लगा कि "देखो! जिस दुष्ट सुमुख ने पूर्व भव में प्रभुता के अहं में मुझे कमजोर, असहाय मानकर मेरा तिरस्कार करके मेरी पत्नी का अपहरण किया था; वह इस भव में भी उसी स्त्री के साथ राग-रंग करता हुआ एवं रतिक्रीड़ा करता हुआ दिखाई दे रहा है। यदि समर्थ होने पर भी मैंने अपने शत्रु से बदला नहीं लिया तो ऐसी प्रभुता से क्या लाभ? ऐसा सोचकर वह राजा सुमुख के जीव वर्तमान 'आर्य' विद्याधर से बदला लेने की

भावना से पृथ्वी पर उतरा। उस समय आर्य विद्याधर अपनी विद्याधरी मनोरमा (पूर्वभव की वनमाला) के साथ हरिवर्ष क्षेत्र में क्रीड़ा करता हुआ इन्द्र के समान सुशोभित हो रहा था। उस विद्याधर नवदम्पति को देखते ही उस (वीरक सेठ के जीव) देव ने अपनी स्वाभाविक अखण्ड माया से उसकी समस्त विद्यायें हर लीं और उसे स्मरण दिलाया कि अरे! परस्त्री को हरने वाले राजा सुमुख ! क्या तुझे इस समय उस 'वीरक वैश्य' का स्मरण है? अरी ! अपने शीलव्रत को खण्डित करनेवाली वनमाला! तुझे अपने पति 'वीरक वैश्य' की याद है? मैं वही वीरक वैश्य का जीव हूँ, जो तपश्चरण करके प्रभुता और वैभव सम्पन्न देव हुआ हूँ और तुम दोनों मुनिराज के आहारदान तथा उनके उपदेशों के अनुसार आचरण करके विद्याधर हुए हो। तुम दोनों ने पूर्वभव में मुझे जो दुःख दिया था, उसे मैं भूलना चाहकर भी नहीं भूल पा रहा हूँ इसलिए मैंने तुम्हारी विद्यायें नष्ट करके आत्मतुष्टि प्राप्त करने की कोशिश की है और ऐसा करके तुम्हें और अन्य पापियों को भी यह सबक सिखाना चाहता हूँ कि भविष्य में कोई ऐसी भूल कभी नहीं करे। दूसरों को दुःख पहुँचा कर जगत में कोई सुखी नहीं रह सकता। अपराधी को अपने अपराध का दण्ड तो भुगतना ही चाहिए; अन्यथा लोक में अराजकता भी तो फैल जायेगी।”

ऐसा कहकर उस देव ने दम्पति युगल का अपहरण कर उन्हें अपने विमान में बिठाकर दक्षिण भरत क्षेत्र की ओर आकाश में लेकर उड़ गया; परन्तु संयोग से उसीसमय चम्पापुरी के राजा चन्द्रकीर्ति का मरण हो चुका था। अतः उस देव ने उस आर्य विद्याधर को हृदय की उदारता से प्रेरित हो यहाँ लाकर चम्पापुरी का राजा बना दिया। इसतरह देव ने उनकी विद्यायें नष्ट कर दण्डित भी कर दिया और चम्पापुरी का राजा बनाकर उसे कृतार्थ भी कर दिया, उस पर उपकार भी कर दिया।

उस विद्याधर दम्पति ने अपनी पूर्व भव की भूल का अहसास करते हुए पंख कटे पक्षियों की भाँति आकाश में चलने में असमर्थ हो जाने पर भी आकाश गमन की इच्छा छोड़कर पृथ्वी पर रहने में ही संतोष धारण किया।

भगवान् शीतलनाथ ने अपनी दिव्यध्वनि द्वारा जो तत्त्वज्ञान दिया, यह वही तत्त्वज्ञान था जो उनके पूर्व और बाद में अन्य तीर्थकर दे रहे हैं। इन चौबीस तीर्थकरों ने कुछ भी नया नहीं कहा, जो अनादि-निधन छह द्रव्यों का स्वतंत्र परिणमन, सात तत्त्वों का स्वरूप, स्व-संचालित विश्वव्यवस्था आदि का उपदेश चला आ रहा है। वही सब तीर्थकरों की वाणी में आता है। जो जीव उनकी दिव्यध्वनि के सार को समझकर तदनुसार श्रद्धान-ज्ञान और आचरण करते हैं, वे अल्प काल में ही सांसारिक दुःखों से सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं।

“संसार में समस्त प्राणी दुःखी दिखाई देते हैं और वे दुःख से बचने का उपाय भी करते हैं; परन्तु प्रयोजनभूत तत्त्वों की सही जानकारी एवं श्रद्धा के बिना दुःख दूर नहीं होता। दुःख दूर करना और सुखी होना ही इस जीव का सच्चा प्रयोजन है और ऐसे तत्त्व जिनकी सम्यक् श्रद्धा और ज्ञान बिना हमारा दुःख दूर न हो सके और हम सुखी न हो सकें, उन्हें ही प्रयोजनभूत तत्त्व कहते हैं। तत्त्व माने वस्तु का सच्चा स्वरूप। जो वस्तु जैसी है, उसका जो भाव, वही तत्त्व है। वे तत्त्व सात होते हैं।

ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा को जीवतत्त्व कहते हैं। ज्ञान-दर्शन स्वभाव से रहित तथा आत्मा से भिन्न समस्त द्रव्य (पदार्थ) अजीवतत्त्व कहलाते हैं। पुद्गलादि समस्त पदार्थ अजीवतत्त्व हैं।

इन शरीरादि सभी अजीव पदार्थों से भिन्न चेतनतत्त्व ही आत्मा है। वह आत्मा ही मैं हूँ, मुझसे भिन्न पुद्गलादि पाँच द्रव्य अजीव हैं।

सामान्य रूप से तो जीव-अजीव दो ही तत्त्व हैं। आस्रवादिक तो जीव-अजीव के ही विशेष हैं; किन्तु यहाँ तो मोक्ष का प्रयोजन है। अतः आस्रवादि पाँच पर्यायरूप विशेष तत्त्वों को भी जानना जरूरी है। उक्त सातों के यथार्थ श्रद्धान बिना मोक्षमार्ग नहीं बन सकता है; क्योंकि जीव और अजीव को जाने बिना अपने पराये का भेद-विज्ञान कैसे हो ? मोक्ष को पहिचाने बिना और हित रूप माने बिना उसका उपाय कैसे करे ? मोक्ष का उपाय संवर निर्जरा है, अतः उनका जानना भी आवश्यक है तथा आस्रव का अभाव सो संवर

है और बंध का एकदेश अभाव सो निर्जरा है, अतः इनको जाने बिना इनको छोड़ संवर निर्जरा रूप कैसे प्रवर्तते ?

जिन मोह-राग-द्वेष भावों के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्म आते हैं, उन मोह-राग-द्वेष भावों को तो भावास्रव कहते हैं। उसके निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मों का स्वयं आना द्रव्यास्रव है।

इसीप्रकार आत्मा का अज्ञान, मोह-राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि विभाव भावों में रुक जाना सो भावबंध है और उसके निमित्त से पुद्गल का स्वयं कर्मरूप बंधना सो द्रव्यबंध है।

पुण्य-पाप के विकारी भाव (आस्रव) को आत्मा के शुद्ध (वीतरागी) भावों से रोकना सो भावसंवर है और तदनुसार नये कर्मों का आना स्वयं रुक जाना द्रव्यसंवर है।

इसीप्रकार ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा के लक्ष्य के बल से स्वरूपस्थिरता की वृद्धि द्वारा आंशिक शुद्धि की वृद्धि और अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्था का आंशिक नाश होना सो भावनिर्जरा है और उसका निमित्त पाकर जड़ कर्म (द्रव्यकर्मों) का अंशतः खिर जाना सो द्रव्यनिर्जरा है।

अशुद्धदशा का सर्वथा सम्पूर्ण नाश होकर आत्मा की पूर्ण निर्मल पवित्र दशा का प्रकट होना भावमोक्ष है और निमित्त कारण द्रव्यकर्म का सर्वथा नाश (अभाव) होना सो द्रव्यमोक्ष है।

उक्त सात तत्त्वों को भलीभांति जानकर एवं समस्त परतत्त्वों से दृष्टि हटाकर अपने आत्मतत्त्व पर दृष्टि ले जाना ही सम्यग्दर्शन है और यही सच्चा सुख प्राप्त करने का सच्चा उपाय है।

इसके विपरीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र ही चार गति में भटकने का कारण है।

प्रश्न - यह आत्मा दुःखी क्यों है ? आत्मा का हित क्या है ? कहा जाता है कि ये अष्टकर्म ही दुःखदायी हैं, इस संदर्भ में आठ कर्मों का सामान्य स्वरूप बतायें।

दिव्यध्वनि में समाधान आया - आत्मा का हित निराकुल सुख है, वह आत्मा के आश्रय से ही प्राप्त

किया जा सकता है। पर यह जीव अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा को भूलकर मोह-राग-द्वेष रूप विकारी भावों को करता है, अतः दुःखी है। दुःख के कारण कर्म नहीं हैं ?

जब यह आत्मा अपने को भूलकर स्वयं मोह-राग-द्वेष भावरूप विकारी परिणामन करता है, तब कर्म का उदय उसमें निमित्त कहा जाता है। कर्म आत्मा को जबरदस्ती विकार नहीं कराते हैं।

पुनः प्रश्न - “यह निमित्त क्या होता है ?”

उत्तर - “हे राजन् ! तुम यह क्या सोच रहे हो ? क्या निमित्त भी नहीं जानते ? जब पदार्थ स्वयं कार्यरूप परिणामे, तब कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने का आरोप जिस पर आ सके उसे निमित्त कारण कहते हैं। अतः जब आत्मा स्वयं अपनी भूल से विकारादि रूप (दुःखादिरूप) परिणामे, तब उसमें कर्म को निमित्त कहा जाता है।”

“यह तो ठीक है कि यह आत्मा अपनी स्वयं की भूल से दुःखी है, ज्ञानावरणादि कर्मों के कारण नहीं। पर वह भूल क्या है ?”

दिव्यध्वनि में आया - “अपने को भूलकर पर में इष्ट और अनिष्ट कल्पना करके मोह-राग-द्वेष रूप भावकर्म (विभावभावरूप परिणामन) करना ही आत्मा की भूल है।”

पुनः प्रश्न उठा - “भावकर्म क्या होता है ?”

दिव्यध्वनि में आया - “कर्म के उदय में यह जीव मोह-राग-द्वेष रूपी विकारी भाव करता है, उन्हें भावकर्म कहते हैं और उन मोह-राग-द्वेष भावों का निमित्त पाकर कार्माण वर्गणा (कर्मरज) कर्मरूप परिणामित होकर आत्मा से सम्बद्ध हो जाती हैं, उन्हें द्रव्यकर्म कहते हैं।

पुनः प्रश्न - तो कर्मबंध के निमित्त, आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष भाव भावकर्म हैं और कार्माण वर्गणा का कर्मरूप परिणामित रजपिण्ड द्रव्यकर्म ?

उत्तर - हाँ ! मूलरूप से कर्म आठ प्रकार के होते हैं। इन आठ प्रकार के कर्मों में ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय हो चार घातिकर्म कहलाते हैं और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार अघातिकर्म कहलाते हैं। जो जीव के अनुजीवी गुणों का घात करने में निमित्त हों वे घातिकर्म हैं और जो कर्म आत्मा के अनुजीवी गुणों के घात में निमित्त न हों उन्हें अघातिकर्म कहते हैं।

प्रश्न - “ज्ञान पर आवरण डालनेवाले कर्म को ज्ञानावरण और दर्शन पर आवरण डालने वाले कर्म को दर्शनावरण कहते होंगे?”

उत्तर - “सुनो ! जब आत्मा स्वयं अपने ज्ञान भाव का घात करता है अर्थात् ज्ञान-शक्ति को व्यक्त नहीं करता तब आत्मा के ज्ञानगुण के घात में जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे ज्ञानावरण कहते हैं।”

और जब आत्मा स्वयं अपने दर्शन-गुण (भाव) का घात करता है तब दर्शन-गुण के घात में जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे दर्शनावरण कहते हैं। ज्ञानावरण पाँच प्रकार का और दर्शनावरण नौ प्रकार का होता है।

“और मोहनीय.....?”

“जीव अपने स्वरूप को भूलकर अन्य को अपना माने या स्वरूपाचरण में असावधानी करे तब जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है - दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। मिथ्यात्व आदि तीन भेद दर्शन मोहनीय के हैं और २५ कषायें चारित्र मोहनीय के भेद हैं।”

“अब घाति कर्मों में एक अन्तराय और रह गया ?”

“हाँ, जीव के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य के विघ्न में जिस कर्म का उदय निमित्त हो, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।”

अब कृपया अघाति कर्मों को भी.....?

हाँ ! हाँ !! सुनो !

जब आत्मा स्वयं मोह भाव के द्वारा आकुलता करता है तब अनुकूलता, प्रतिकूलता रूप संयोग प्राप्त होने में जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। यह साता वेदनीय और असाता वेदनीय के भेद से दो प्रकार का होता है।

जीव अपनी योग्यता से जब नारकी, तिर्यच, मनुष्य या देव शरीर में रुका रहे तब जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे आयुर्कर्म कहते हैं। यह भी नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु और देवायु के भेद से चार प्रकार का है।

तथा जिस शरीर में जीव हो उस शरीरादि की रचना में जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे नामकर्म कहते हैं। यह शुभ नामकर्म और अशुभ नामकर्म के भेद से दो प्रकार का होता है। वैसे इसकी ९३ प्रकृतियाँ हैं।

और जीव के उच्च या नीच आचरण वाले कुल में पैदा होने में जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे गोत्रकर्म कहते हैं। यह भी उच्चगोत्र और नीचगोत्र, इसप्रकार दो भेद वाला है।

राजा श्रेणिक - तो बस, कर्मों के आठ ही प्रकार हैं ?

दिव्यध्वनि - इन आठ भेदों के भी १४८ प्रभेद हैं, जिन्हें कर्मों की प्रकृतियाँ कहते हैं।

श्रोता तत्त्वों एवं कर्मों का स्वरूप समझकर हर्षित तो हुए; पर इस प्रसंग में जो आत्मा-परमात्मा की बात आई है, उसको जानने की जिज्ञासा जाग्रत हो गई। उसके समाधान में दिव्यध्वनि में आत्मा-परमात्मा का जो स्वरूप आया, वह इसप्रकार है - “ज्ञानस्वभावी जीवतत्त्व को ही आत्मा कहते हैं। वह अवस्था की अपेक्षा तीन प्रकार का होता है -

१. बहिरात्मा २. अंतरात्मा ३. परमात्मा।

शरीर को आत्मा तथा अन्य पदार्थों और रागादि में अपनापन माननेवाला या शरीर और आत्मा को एक माननेवाला जीव ही बहिरात्मा है, अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) है।

आत्मा को छोड़कर अन्य बाह्य पदार्थों में (अपनापन) आत्मपन मानने के कारण ही यह बहिरात्मा कहलाता है। अनादिकाल से यह आत्मा शरीर की उत्पत्ति में ही अपनी उत्पत्ति और शरीर के नाश में ही अपना नाश तथा शरीर से संबंध रखनेवालों को अपना मानता आ रहा है। जब तक यह भूल न निकले तब तक जीव बहिरात्मा अर्थात् मिथ्यादृष्टि रहता है।

जो व्यक्ति भेदविज्ञान के बल से निज आत्मा को देहादिक से भिन्न, ज्ञान और आनन्दस्वभावी जानता है, मानता है और अनुभव करता है; वह ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) आत्मा ही अंतरात्मा है। आत्मा में ही अपनापन मानने के कारण तथा आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी में भी अपनापने की मान्यता छोड़ देने के कारण ही वह अंतरात्मा कहलाता है।

यही अंतरात्मा गृहस्थावस्था त्यागकर शुद्धोपयोगरूप मुनि-अवस्था धारण कर निज स्वभाव साधन द्वारा परमात्मपद प्राप्त करता है अर्थात् परमात्मा बन जाता है और इसके अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य प्रकट हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि यही अंतरात्मा अपने पुरुषार्थ द्वारा आगे बढ़कर परमात्मा बनता है।

प्रत्येक आत्मा सुखी होना चाहता है। परमात्मा पूर्ण निराकुल होने से अनंत सुखी है। परमात्मा भी दो प्रकार के होते हैं - १. सकल परमात्मा, २. निकल परमात्मा।

चार घातिया कर्मों का अभाव करनेवाले श्री अरहंत भगवान को शरीर सहित होने से सकल परमात्मा कहते हैं और कर्मों से रहित सिद्ध भगवान को शरीररहित होने से निकल परमात्मा कहते हैं।” ●

दसवें तीर्थकर शीतलनाथ भ-गवान के पश्चात् जब कालक्रम से नौ तीर्थकर भरत क्षेत्र से जगत के जीवों के हितार्थ धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति कर मोक्ष चले गये और बीसवें तीर्थकर मुनिसुव्रत नाथ का जीव स्वर्ग से माता के गर्भ में आने के सन्मुख हुआ, तब गर्भ में आने के छह माह पूर्व से इन्द्र की आज्ञानुसार कुबेर प्रतिदिन राजा सुमित्र के घर रत्नों की वर्षा करने लगा।

कोमल शय्या पर शयन करनेवाली रानी पद्मावती ने इसी बीच रात्रि के अन्तिम समय सोलह स्वप्न देखे। प्रातः उठकर रानी पद्मावती राजा सुमित्र के पास गई और राजा से उन सोलह स्वप्नों का फल पूछा।

महाराजा सुमित्र ने हर्षित होते हुए कहा - हम दोनों को शीघ्र ही तीन जगत के स्वामी जिनेन्द्र भगवान मुनिसुव्रतनाथ के माता-पिता बनने का सौभाग्य प्राप्त होगा अर्थात् हमारे घर में तीर्थकर का जीव जन्म लेगा।

यथासमय गर्भ कल्याणक महोत्सव मनाया गया। तदनन्तर रानी पद्मावती ने माघ कृष्णा द्वादशी की शुभ तिथि में श्रवण नक्षत्र में बिना किसी कष्ट के मनुष्यों के नेत्रों को आनन्ददायक मुनिसुव्रत जिनेन्द्र को पुत्र के रूप में जन्म दिया। बालक तीर्थकर का जन्म होते ही तीनों जगत के सभी इन्द्रों के आसन और मुकुट कंपायमान हो गये। उन्होंने अपने अवधिज्ञान से जान लिया कि भरतक्षेत्र में तीन लोक के नाथ बीसवें तीर्थकर मुनिसुव्रत बालक का जन्म हुआ है। देवदुन्दुभियों से सभी देवों को भी यह निश्चय हो गया कि तीर्थकर बालक का जन्म हुआ है। सभी देव देवेन्द्र तीर्थकर बालक का जन्मोत्सव मनाने चल पड़े। कुशाग्रपुर से हर्षोल्लासपूर्वक सभी देव-देवेन्द्र जन्माभिषेक के लिये बालक तीर्थकर को ऐरावत हाथी पर बिठाकर सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहाँ पाण्डुकशिला पर स्थित सिंहासन पर तीर्थकर बालक को विराजमान कर क्षीरसागर के पवित्र प्रासुक जल से १००८ कलशों द्वारा अभिषेक किया गया। नानाप्रकार के स्तोत्रों द्वारा स्तुति की

गई और उनका मुनिसुव्रत नामकरण कर दिया गया। तत्पश्चात् बालक को माँ की गोद में देकर इन्द्रगण अपने-अपने स्थान पर चले गये।

जन्म से ही मति, श्रुत, अवधिज्ञान के धारक बालक मुनिसुव्रत शुक्लपक्ष के चन्द्र की कलाओं की भाँति बढ़ने लगे। युवा अवस्था प्राप्त होने पर नाना अभ्युदयों की धारक सुन्दरतम स्त्रियों का वरण कर उनसे विवाह रचाया। फिर युवराज मुनिसुव्रतनाथ राज्य सिंहासन पर आरूढ़ हो गये। वे हरिवंशरूपी आकाश के मानों सूर्य ही थे। जो प्रजारूपी कमलिनियों को खिला रहे थे। अधीनस्थ राजा-महाराजा और देवगण जिनके चरणों की सेवा करते थे - ऐसे महाराज मुनिसुव्रतनाथ ने चिरकाल तक सबप्रकार से राज्य सुख का उपभोग किया।

एक दिन शरद ऋतु के समस्त धान्यों की शोभा से युक्त दिशाओं को देखते-देखते उन्होंने एक ऐसा मेघ देखा, जो चन्द्रवत् सफेद ऐरावत हाथी-सा जान पड़ता था। प्रचण्ड वायुवेग के आघात से उस मेघ से समस्त अवयव नष्ट हो गये। वह आकाश में ही विलीन हो गया। यह देखकर वे विचार करने लगे - अरे ! यह विलीन हुआ शरद ऋतु का मेघ मानो भोगों में लिप्त संसारी प्राणियों को क्षणभंगुरता का संदेश देने ही आया हो और आते ही शीघ्र विलीन हो गया।

वे आगे विचार करते हैं कि “अपने-अपने परिणामों के अनुसार संचित ये साता कर्म और आयु कर्मरूप मेघ भी इसीतरह निःसार एवं क्षणिक हैं; जिनके कारण ये क्षणिक शरीर व सुख सामग्री के संयोग प्राप्त होते हैं और मृत्युरूपी प्रचण्ड वायुवेग के एक ही झकोरे में सब संयोग नष्ट हो जाते हैं।

शौर्य और प्रभाव के द्वारा सागर पर्यन्त पृथ्वी को जीतनेवाले और विशाल पृथ्वी पर शासन करनेवाले बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं की सत्ता भी काल के प्रचण्ड प्रहारों से ध्वस्त होती हुई दिखाई देती हैं। प्रिय स्त्री तथा सुख-दुःख के साथी मित्र और पुत्र भी दुर्भाग्य रूप प्रलय के प्रकोप से अशुभ कर्मों के उदय आने पर सूखे पत्तों की भाँति नष्ट होते देखे जाते हैं। इस संसार में मनुष्यों की तो बात ही क्या, देवों को प्रिय देवांगनाओं को भी वियोग होते देखा जाता है।

फिर भी बहुत से दीर्घ संसारी प्राणी स्वयं मृत्यु के भय से रहित हैं। यह बहुत बड़ा आश्चर्य है। लगता है इनकी शास्त्र रूपी दृष्टि मोहरूपी अंधकार से आच्छादित हो गई है। इसी कारण इस आत्मकल्याणकारी मार्ग को छोड़कर विषय के गर्त में पड़ रहे हैं।”

इसके बाद महाराज मुनिसुव्रत ने राज-सुख भोगते हुए एक दिन नष्ट होते शरदक्रतु के मेघों की क्षणभंगुरता को देखा देखते ही उनके अन्दर वैराग्य जागृत हो गया और वे विचार करने लगे “अरे ! यह शरदक्रतु का मेघ इतने जल्दी कैसे कहाँ विलीन हो गया ? जान पड़ता है कि विषय-कषायों में लिप्त संसारी प्राणियों को विषयों की क्षणिकता का बोध कराने के लिए ही मानो ये मेघ घुमड़-घुमड़कर शीघ्र लुप्त हो गये हैं। अज्ञानियों को तो यह भी भान नहीं कि इन्हीं क्षणभंगुर मेघों की भाँति ही यह वज्र जैसा सुदृढ़ शरीर भी वृद्धावस्था रूपी आंधी-तूफानों के प्रहारों से नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। अपने शौर्य और प्रभाव द्वारा समस्त पृथ्वी तक को वश में करनेवाले बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी कालचक्र के प्रचण्ड आघातों से चूर-चूर हो जाते हैं। प्राणों के समान प्रिय स्त्रियाँ, पुत्र, मित्र भी दुर्भाग्यरूपी प्रबल वायु के वेग से सूखे पत्तों की भाँति नष्ट हो जाते हैं। मृत्यु को प्राप्त होकर यत्र-तत्र धूल में मिल जाते हैं।

जिसप्रकार ईंधन से अग्नि कभी तृप्त नहीं होती, हजारों नदियों के पानी से भी समुद्र कभी संतुष्ट नहीं होता, उसीप्रकार संसार के संचित काम-भोग की सामग्री से संसारी जीवों की भोगाभिलाषा कभी तृप्त नहीं होती।

इसके विपरीत जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि एवं इन्द्रियविजयी मानव उन विषयों से व्यावृत्त हो जाते हैं, वे तत्त्वज्ञान की जलधारा से उस विषयाग्नि को बुझा देते हैं। मैं भी इन सारहीन विषयसुखों को छोड़कर क्यों न शीघ्र ही हितरूप मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हो जाऊँ ? अब मुझे इन्हें त्यागने में एक क्षण भी विलम्ब नहीं करना चाहिए।”

मैं सर्वप्रथम स्वचतुष्टय के आश्रय से अपने उत्कृष्ट प्रयोजन अनन्त चतुष्टय को सिद्ध करने के पश्चात् पर के हित के लिए यथार्थ धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करूँगा।

इसप्रकार मति-श्रुत और अवधिज्ञानरूपी ज्ञान नेत्रों से युक्त स्वयम्भू भावी भगवान मुनिसुव्रतनाथ जब स्वयं प्रतिबुद्ध हो गये तब समस्त इन्द्रों के आसन कम्पायमान हो गये। उसीसमय निश्चल मनोवृत्ति और श्वेत

दीप्ति के धारक सारस्वत आदि लोकान्तिक देव औपचारिक रूप से उन्हें संबोधनार्थ एवं उनके वैराग्य की अनुमोदना करने आ गये तथा हाथ जोड़कर नमस्कार कर तीर्थकर के जीव मुनिसुव्रतनाथ के वैराग्य की अनुमोदना कर, उनकी स्तुति करने लगे।

“हे जिनचन्द्र ! सम्यग्ज्ञानरूपी किरणों से मोहरूपी अंधकार के समूह को नष्ट करनेवाले हे नाथ ! आप जयवन्त हों। आपकी आत्मसाधना सफल हो, आप अपने निर्मल अनन्त गुणों से समृद्ध हों। आप भव्य जीवों रूपी कुमुदिनियों को खिलाने के लिए सूर्य समान हैं।

हे त्रिलोकीनाथ ! आप उस धर्मतीर्थ रूप अमृत वर्षा का प्रवर्तन करें, जिससे संसार विषयाग्नि के दुःख से संतप्त प्राणी अपने दाह्य दुःख को दूर कर और समस्त मोहरूप मल को धोकर निर्मल हो सकें तथा शीघ्र संसार सागर से पार होकर सदा के लिए आनन्दस्वरूप मुक्ति को प्राप्त कर लें।”

लौकान्तिक देव इसप्रकार स्तुति और अनुमोदना कर ही रहे थे कि उसी समय नाना विमानों के समूहों से आकाशमार्ग को आच्छादित करते हुए सौधर्म आदि चारों निकाय के देव वहाँ तपकल्याणक महोत्सव मनाने आ गये। उत्साह से भरे सभी देवों और इन्द्रों ने अपनी महोत्सव की सभी औपचारिकतायें पूरी कीं। विरागी राजा मुनिसुव्रत अपनी प्रभावती स्त्री के पुत्र सुव्रत को राज्यपद पर अभिषिक्त करके पालखी पर विराजमान होकर वन में चले गये। वहाँ कार्तिक शुक्ल सप्तमी के दिन एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ली। सर्वप्रथम केशलोंच किया, इन्द्र ने उन केशों को पिटारे में रखकर विधिपूर्वक क्षीरसमुद्र में क्षेप दिया।

तदनन्तर मुनिराज मुनिसुव्रत आगामी दिन जब आहार की विधि प्रगट करने के लिए कुशाग्रपुरी में आहार लेने के लिए निकले तो वृषभदत्त ने उन्हें विधिपूर्वक खीर का आहार दिया।

आश्चर्य की बात यह थी कि मुनिराज मुनिसुव्रत को आहार हेतु बनाई गयी खीर हजारों लोगों ने खाई; फिर भी वह खीर समाप्त नहीं हुई। उसी समय पंचाश्चर्य हुए। देव दुन्दुभि बजने लगी, धन्य-धन्य के शब्दों ने समस्त आकाश को व्याप्त कर दिया, सुगन्धित वायु बहने लगी, पुष्पों की वर्षा होने लगी, आकाश से

रत्न बरसने लगे – इन पंचाशचर्यों को देवों ने चिरकाल तक देखा तथा देवों ने आहारदान देनेवाले वृषभदत्त का सम्मान किया और देवलोक को चले गये। तत्पश्चात् एक वर्ष एक माह का छद्मस्थ काल बिताकर मुनिसुव्रत मुनि ने ध्यानाग्नि द्वारा घातिया कर्मों को दग्ध करके मगसिर मास की शुक्ल पंचमी को केवलज्ञान प्राप्त किया। उस समय समस्त इन्द्रों ने अपने-अपने आसनों से सात-सात डग (कदम) आगे चलकर तथा हाथ जोड़कर जिनेन्द्र को परोक्ष नमन किया और केवलज्ञान कल्याणक मनाने हेतु वहाँ उपस्थित हुए। सभी ने मिलकर तीर्थंकर भगवान मुनिसुव्रतनाथ के केवलज्ञान की भक्तिभाव से पूजा की और अपने-अपने स्थान चले गये।

समवशरण में विराजमान तीर्थंकर परमात्मा से समक्षविशाख नामक गणधर देव के मन में तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि का सार समझाने का विकल्प उठा, तब उनके उस विकल्प का निमित्त पाकर तीर्थंकर भगवान मुनिसुव्रतनाथ की दिव्यध्वनि द्वारा द्वादशांग के साररूप अमृत झरने लगा, जिसे सभी श्रोताओं ने अंजुलि भर-भर कर पिया।

गणधरदेव ने दिव्यध्वनि का सार संक्षेप में समझाते हुए कहा कि – *सम्यग्दर्शन ही एकमात्र धर्मरूप बृहद् वृक्ष की गहरी जड़ है, जिसके आधार पर चारित्ररूप धर्म टिका रहता।*

तदनन्तर तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ का समवशरण धर्मामृत की वर्षा करता हुआ अनेक देशों में विहार करने लगा। इस धर्मसभा में अठारह गणधर और तीस हजार मुनि थे, पचास हजार आर्यिकायें, एक लाख व्रती/अव्रती श्रावक एवं तीन लाख श्राविकायें थीं।

मुनिसुव्रतनाथ की पूर्ण आयु तीस हजार वर्ष की थी, जिसमें साढ़े सात हजार वर्ष कुमारकाल में, पंद्रह हजार वर्ष राज्यकाल में तथा साढ़े सात हजार वर्ष संयमी/मुनि और केवलीकाल में व्यतीत हुये। आयु के अन्त में सम्मेदाचल (शिखरजी) से कर्मबन्धन से आप मुक्त हुए। मुक्त होने पर पूजन/अर्चन द्वारा इन्द्रों ने उनका मोक्षकल्याणक मनाया।

इधर राजा मुनिसुव्रतनाथ के पुत्र सुव्रत हरिवंश के स्वामी हुए। उन्होंने समस्त पृथ्वी को तो जीत ही लिया था, साथ ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि आत्मा के अन्तरंग शत्रुओं को भी जीत लिया था; इसप्रकार वे धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ रूप त्रिवर्ग-मार्ग के प्रवर्तक थे।

राजा सुव्रत के दक्ष नाम का अत्यन्त कामी और चतुर पुत्र हुआ। वे दक्ष को राज्य का पदभार सौंपकर अपने पिता तीर्थकर मुनिसुव्रतनाथ के समीप जाकर दीक्षित हो गये और तपोबल द्वारा उग्र पुरुषार्थ कर अपवर्ग (मोक्ष) को प्राप्त हुए, संसार सागर के दुःखों से मुक्त हो गये।

राजा दक्ष को 'इला' नामक रानी से एलेय नामक पुत्र एवं मनोहारी नाम की पुत्री हुई। जिसप्रकार शुक्ल पक्ष में ज्यों-ज्यों चन्द्र बढ़ता है, उसकी चाँदनी भी बढ़ जाती है; उसीप्रकार एलेय के साथ उसकी बहिन मनोहारी भी दिन-प्रतिदिन बढ़ती गयी। जब 'मनोहारी' यौवन अवस्था को प्राप्त हुई तो वह अपने सौन्दर्य से सर्वांग सुन्दर रति को भी लज्जित करनेवाली यथा नाम तथा गुण सम्पन्न हो गई। उसके सौन्दर्य से और की तो बात ही क्या, उसके पिता राजा दक्ष का भी मन विचलित हो गया। वह भी काम के वशीभूत होकर, उसे पत्नी के रूप में पाने की युक्तियाँ सोचने लगा।

जब व्यक्ति कामान्ध हो जाता है तो उसका सारा विवेक समाप्त हो जाता है, उसे न्याय-अन्याय तो दिखाई देता ही नहीं, इस जन्म में लोकनिन्दा का भय भी नहीं रहता और परलोक में पाप के फलस्वरूप कुगति के दुःखों को भोगना पड़ेगा, इसकी भी वह परवाह भी नहीं करता।

नीतिनिपुण वादीभसिंह सूरि ने कहा भी है -

विषयासक्त चित्तानां गुण को वा न नश्यति।

न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक् ॥

जिनका चित्त विषयों में आसक्त हो जाता है, उनमें न तो विद्वत्ता रहती है, न मनुष्यता, न कोई बड़प्पन और न वे सत्यवादी ही रह पाते हैं, उनके सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।

अपनी पुत्री पर मोहित राजा दक्ष ने अपनी पुत्री मनोहारी के साथ ब्याह रचाने पर जनता का विरोध न सहना पड़े, एतदर्थ एक कुयुक्ति सोची। एक दिन उसने प्रजा को अपने घर बुलाकर उनसे छल से पूछा “आप सब पूर्वापर विरोध रहित विचार कर उत्तर दें। हमारी एक समस्या का समाधान करें। आप लोग व्यवहार कुशल हैं, सोच-समझकर ही मार्गदर्शन करेंगे। आप लोग जैसा कहेंगे हम वैसा ही करेंगे। आप लोग यह बतायें कि - यदि हाथी, घोड़ा, स्त्री आदि कोई वस्तु जो संसार में बहुमूल्य हो, अमूल्य हो और प्रजा के योग्य न हो, प्रजा की सामर्थ्य-शक्ति से बाहर हो तो उसका स्वामी राजा हो सकता है या नहीं?”

यद्यपि प्रजाजनों में कितने ही प्रबुद्ध थे; परन्तु वे राजा के छल को नहीं पहचान पाये। सीधे, सरल लोग कुटिलता की ऐसी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। अतः वे लोग बहुत देर तक सोच-विचार कर इसी निर्णय पर पहुँचे कि जो प्रजा के अधिकार या शक्ति से परे हो, प्रजा की हैसियत से बाहर हो, उस पर तो राजा का ही अधिकार बनता है, राजा ही उसका स्वामी हो सकता है; अतः सबने एकमत से कहा कि महाराज! राजा के सिवाय उसका स्वामी और कौन हो सकता है? जिसप्रकार समुद्र हजारों नदियों और उत्तम रत्नों की खान है, इसी कारण वह रत्नाकर कहलाता है, उसीप्रकार राजा भी इस लोक में अमूल्य वस्तुओं का उपभोक्ता है, स्वामी है; अतः समस्त पृथ्वी, जो आपके आधीन है, उसमें उपलब्ध सभी उत्तमोत्तम वस्तुओं के आप ही अधिकारी हैं, उन्हें आप निःसंकोच भोगें।

इसप्रकार राजा दक्ष ने छल-कपट से प्रजा से हाँ में हाँ भराकर उन्हें अपने पक्ष में करके कहा कि - “आप लोगों की जो राय है, वही करूँगा।”

तदनन्तर राजा दक्ष ने अपनी पुत्री के साथ विवाह कर लिया। राजा दक्ष की रानी इला पति के इस कुकृत्य से बहुत रुष्ट हुई, इसलिए उसने पुत्र एलेय को पिता से छुड़ा लिया।

सज्जन लोग भले कामों का ही साथ देते हैं, बुरे कामों का साथ कभी नहीं दे सकते। जब मनुष्य पतित हो जाता है, पाप प्रवृत्ति में पड़ जाता है तो उसका पुण्य भी क्षीण होने लगता है और सब अनुकूल संयोग साथ छोड़ देते हैं; भले ही वह पत्नी एवं पुत्र ही क्यों न हों ?

बड़े-बड़े सामन्तों से घिरी राजा दक्ष की पत्नी इला रानी अपने एलेय पुत्र को लेकर दुर्गम स्थान में चली गई और वहाँ स्वर्गपुरी के समान एक नगर बसाया, जो इलावर्धन नाम से प्रसिद्ध हुआ। वहाँ अपने पुत्र एलेय को राजा बनाया, जो हरिवंश के तिलक के रूप में जाना जाने लगा। एलेय ने भी अन्य अनेक नगर बसाये और अन्य छोटे-छोटे राजाओं को जीतकर अपने राज्य का विस्तार किया। जीवन के अन्तिम चरण में वह भी अपने पुत्र कुणिक को राज्य सौंपकर मुनिव्रत अंगीकार कर तपश्चरण करने हेतु वन में चला गया।

कुणिक के बाद अगली १६ पीढ़ियों में एक से बढ़कर एक - अनेक उत्तराधिकारी राजा हुए। सभी पूर्व पीढ़ियों ने अपनी अगली पीढ़ी को राज्यसत्ता सौंपकर मानव जीवन को सार्थक करनेवाली जैनेश्वरी दीक्षा ली और मुनिव्रतों का पालन करते हुए आत्मसाधना एवं समाधिमरण कर सद्गति को प्राप्त होते रहे। १६ पीढ़ियों के उपरान्त राजा अभिचन्द्र हुए। अभिचन्द्र ने विंध्याचल के ऊपर चेदिराष्ट्र की स्थापना की तथा शुक्तिमती नदी के किनारे शुक्तिमती नाम की नगरी बसाई।

अभिचन्द्र की वसुमती नाम की रानी से वसु नाम का पुत्र हुआ। वसु आर्द्र हृदयी था। उसी नगरी में वेदों का वेत्ता एक क्षीरकदम्ब नाम का ब्राह्मण रहता था, जो अध्यापन कार्य करता था। उसके पर्वत नामक पुत्र था। गुरु क्षीरकदम्ब ने राजकुमार वसु, अपने पुत्र पर्वत और नारद इन तीनों शिष्यों को समस्त शास्त्र पढ़ाये। एक बार क्षीरकदम्ब उक्त तीनों शिष्यों को आरण्यक वेद पढ़ा रहा था कि उसने किसी चारण ऋद्धिधारी मुनि द्वारा अपनी भविष्यवाणी के रूप में यह वचन सुने थे कि - वेदों के अध्ययन-अध्यापन में संलग्न इन चार मनुष्यों में अपने पाप परिणामों के कारण दो तो अधोगति को प्राप्त होंगे और दो पुण्य परिणामों के फलस्वरूप ऊर्ध्वगति प्राप्त करेंगे। वे चारणऋद्धि के धारक मुनिराज अवधिज्ञानी थे, दयालु थे और संसार की सब स्थिति जानते थे। मुनिराज तो उक्त चारों प्राणियों के सम्बन्ध में समाधान करके वहाँ से अन्यत्र चले गये, परन्तु मुनिराज के श्रीमुख से अपनी भविष्यवाणी सुनकर क्षीरकदम्ब शंकित हो उठा। दिन ढलने पर उसने तीनों शिष्यों को तो घर भेज दिया और स्वयं अन्यत्र चला गया। उसकी पत्नी स्वस्तीमती

ने शिष्यों के साथ अपने पति क्षीरकदम्ब को घर पर आया न देख शंकित होकर शिष्यों से पूछा - आपके उपाध्यायजी कहाँ गये? साथ में घर क्यों नहीं आये?

शिष्यों का उत्तर था - आते ही होंगे। आप चिंतित न हों। स्वस्तीमती दिनभर तो प्रतीक्षा करती हुई चुप बैठी रही; परन्तु जब क्षीरकदम्ब रात्रि में भी घर नहीं आये तो उसके शोक की सीमा नहीं रही। वह पति की भावनाओं से सुपरिचित थी; इसकारण उसने सोचा - “संभवतः उन्होंने दीक्षा ले ली है, यह सोचकर वह रातभर रोती रही। प्रातः होने पर पर्वत एवं नारद अपने गुरु उपाध्याय क्षीरकदम्ब को खोजने निकले। वे कितने ही दिन भटकते-भटकते थक गये, अन्त में उन्होंने देखा कि हमारे पिता (गुरु) क्षीरकदम्ब वन में अपने गुरु के पास निर्ग्रन्थ मुद्रा में बैठे पढ़ रहे हैं। पिता को इसप्रकार बैठा देखकर पर्वत का धैर्य छूट गया उसने दूर से ही लौटकर माँ के लिए सब समाचार सुनाये। यह समाचार जानकर प्रारंभ में तो स्वस्तीमती बहुत दुःखी हुई; किन्तु धीरे-धीरे सामान्य हो गई और माँ-बेटे सुख-शान्ति से रहने लगे।

पर्वत तो पिता क्षीरकदम्ब को मुनि मुद्रा में देख उनसे बिना मिले ही लौट आया था; परन्तु नारद विनयवान था, अतः उसने गुरु के पास जाकर प्रदक्षिणा दी, नमस्कार किया, उनसे वार्तालाप कर अणुव्रत धारण किए और उसके बाद वह घर वापस आया। अतिशय-निपुण नारद ने आकर शोक से सन्तप्त पर्वत की माता को आश्वासन दिया, नमस्कार किया और उसके बाद अपने घर की ओर प्रस्थान किया। तदनन्तर वसु के पिता राजा अभिचन्द्र भी संसार से उदासीन हो गये, वे अपना राज्य वसु को सौंपकर तपोवन में चले गये।

राजनीति के वेत्ता राजा वसु ने समस्त पृथ्वी को वशीभूत कर लिया था। वह सभा में आकाश स्फटिक के ऊपर स्थित सिंहासन पर बैठते थे, इसलिए अन्य राजा उसे आकाश में स्थित मानते थे। वह स्फटिक पर ही चलता था और सदा सत्य बोलता था तथा सत्य पक्ष का ही पोषण करता था, वह सत्य के आचरण और उसके प्रदर्शन - दोनों को आवश्यक मानता था। इसकारण सम्पूर्ण राज्य में उसका यश फैल रहा था

कि वह धर्म के प्रभाव से आकाश में चलता है। उसकी एक पत्नी इक्ष्वाकुवंश की और दूसरी पत्नी कुरुवंश की थी। दोनों से दस पुत्र हुए। ये सभी पुत्र वसु के ही समान पराक्रमी थे, उनके साथ राजा वसु अत्यधिक राज्यसुख का अनुभव कर रहा था।

एक दिन बहुत से छत्रधारी शिष्यों से घिरा नारद पर्वत से मिलने आया और परस्पर उचित अभिवादन के बाद नारद वहीं बैठ गया। उस समय पर्वत छात्रों के समक्ष वेद वाक्यों की व्याख्या कर रहा था, जिसमें 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वेद वाक्य में जो 'अज' शब्द आया उसका अर्थ करते हुए पर्वत ने कहा - 'अज' का अर्थ बकरा है, अतः स्वर्ग के वांछकजनों को 'बकरे' का होम देकर ही यज्ञ करना चाहिए।

युक्ति और आगम के अवलम्बन से अज्ञानांधकार का नाश करने वाले नारद ने अपने गुरु भाई पर्वत के द्वारा किये गये उक्त अर्थ का विरोध करते हुये कहा कि - तुम 'अज' शब्द का इसप्रकार हिंसक, पाप प्रवृत्ति को बढ़ावा देनेवाला अनर्थकारी अर्थ क्यों कर रहे हो? तुम्हारी इस व्याख्या से धर्म के नाम पर जो कल्पनातीत हिंसा की परम्परा चलेगी, उस पाप के भागीदार तुम बनोगे। तुम मेरे सहपाठी रहे हो, तुम्हें यह अनर्थ परम्परा को बढ़ानेवाला अर्थ कहाँ से प्राप्त हुआ है? गुरुजी ने तो अज शब्द का ऐसा अर्थ कभी नहीं बताया, उन्होंने तो यह कहा था कि जिसमें अंकुर उत्पन्न होने की शक्ति नहीं रहती - ऐसा पुराना धान्य 'अज' कहलाता है और यही सनातन धर्म है। नारद के इसप्रकार समझाने पर भी पर्वत ने अपना हठ छोड़ना तो दूर, उल्टी इस बात को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया और ऐसी कठोर प्रतिज्ञा कर ली कि यदि मैं इस बात में हार जाऊँगा तो अपनी जीभ कटा लूँगा। *सचमुच जिसकी होनहार खोटी हो, उसे सद्बुद्धि नहीं आ सकती।*

नारद ने कहा - पर्वत ! तुम खोटा पक्ष लेकर स्वयं को दुःख की ज्वाला में जलाने का काम क्यों कर रहे हो?

उत्तर में पर्वत ने कहा - यदि तुम्हें अपने ज्ञान और धर्म का इतना ही अभिमान है तो कल राजा वसु की सभा में दूध का दूध और पानी का पानी हो जायेगा। तुम शास्त्रार्थ के लिए तैयार रहो।

वितण्डवाद बढ़ता देख नारद यह कहकर घर चला गया कि - “पर्वत ! मैं तुम्हें देखने आया था, देख लिया; तुम भ्रष्ट हो गये हो”।

नारद के चले जाने पर पर्वत इस बात से चिन्तित हो गया कि - “कहीं ऐसा न हो कि राजा वसु नारद के पक्ष में निर्णय दे दें।” वह माता के पास गया और नारद से हुई सारी बात कह सुनाई।

पर्वत की हिंसा पोषक बात सुनकर पहले तो उसकी माँ का हृदय भी बहुत दुःखी हुआ। उसने पर्वत की बहुत निन्दा की। उसके मुँह से बार-बार यही निकल रहा था कि ‘हे पर्वत ! तेरा कहना सही नहीं है। नारद का कहना ही सही है। समस्त शास्त्रों के पूर्वापर संदर्भ के ज्ञान से जिनकी बुद्धि अत्यन्त निर्मल थी, ऐसे तेरे पिता ने जो कहा था, वही नारद कह रहा है’ इसप्रकार पर्वत से कहने पर भी जब उसने अपनी हठ नहीं छोड़ी तो पुत्रानुराग वश वह राजा वसु के पास गई। अध्ययन के पश्चात् गुरु के समीप धरोहर रूप रखी हुई गुरु दक्षिणा का स्मरण दिलाते हुए वसु को सब वृत्तान्त सुनाकर कहने लगी - ‘यद्यपि नारद का कथन ही सत्य है, परन्तु तुम्हें पर्वत के जीवन की रक्षा हेतु पर्वत का ही समर्थन करना है और नारद की बात को मिथ्या बताना है।’ स्वस्तिमती द्वारा राजा वसु को गुरु दक्षिणा स्मरण कराने से वसु को उसकी बात मानने को बाध्य होना पड़ा।

तत्पश्चात् अगले दिन जब राजा वसु सभासदों और आम जनता के साथ राजसभा में स्फटिक के सिंहासन पर बैठा था तब पर्वत एवं नारद ने राजसभा में प्रवेश किया। अन्तरीक्ष सिंहासन पर स्थित राजा वसु को अभिवादनपूर्वक आशीर्वाद देकर नारद एवं पर्वत अपने-अपने सहायकों के साथ यथायोग्य स्थानों पर बैठ गये। वहाँ अनेक जटाधारी तापसी और विद्वान पण्डित भी उपस्थित थे।

जब सब विद्वान यथास्थान यथायोग्य आसनों पर बैठ गये तब जो ज्ञान और अवस्था में वृद्ध थे, उन्होंने राजा वसु से निवेदन किया कि - ‘हे राजन ! ये नारद और पर्वत किसी विसंवाद को सुलझाने के लिए आपके पास आये हैं। आप न्यायमार्ग के वेत्ता हैं, इसलिए आपकी अध्यक्षता में इन सब विद्वानों के बीच

ये दोनों आपसे 'दूध का दूध और पानी का पानी' की नीति के अनुसार न्याय प्राप्त करने आये हैं। वृद्धजनों के कहने पर राजा वसु ने पर्वत को पूर्वपक्ष रखने के लिए अवसर दिया। अपना पूर्वपक्ष रखते हुए पर्वत ने कहा - 'स्वर्ग के इच्छुक मनुष्यों को अजों द्वारा यज्ञ की विधि करनी चाहिए' यह एक श्रुति है, इसमें जो 'अज' शब्द है, उसका अर्थ चार पैर वाला जन्तु विशेष (बकरा) है। 'अज' शब्द न केवल वेद में ही पशु-वाचक है, बल्कि लोक में भी पशुवाचक ही है। पर्वत ने अपनी बात की पुष्टि में आगे कहा - हमें यह आशंका नहीं करना चाहिए कि - घात करते समय पशु को दुःख होता होगा; क्योंकि मंत्रों के प्रभाव से उसकी मृत्यु सुख से होती है। उसे नाममात्र भी दुःख नहीं होता। दीक्षा के अन्त में मंत्रों का उच्चारण होते ही पशु को सुखमय स्थान साक्षात् दिखाई देने लगता है; क्योंकि मणि-मंत्र-तंत्र और औषधियों का प्रभाव अचिन्त्य होता है।

एक बात यह भी है कि - अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा न तो अग्नि में जलती है, न पानी में गलती है, न हवा में उड़ती है और न अस्त्र-शस्त्रों से कटती है तथा याज्ञिक लोग यज्ञ में पशु का घात करके उसके चक्षुओं को सूर्य के पास, कानों को वायु के पास, खून को जल के पास और प्राण वायु को पृथ्वी के पास भेज देते हैं। इस तरह याज्ञिक उसे सुख ही देते हैं न कि कष्ट' इत्यादि तर्कों से पर्वत ने अपना पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया।

उत्तरपक्ष में पशुवध के विरुद्ध बोलते हुए नारद ने कहा - हे सज्जनो ! और हे राजन ! सावधान होकर आप लोग मेरी बात सुनिए ! मैं पर्वत के द्वारा प्रस्तुत आधारहीन पूर्वपक्ष के कुतर्कों का निराकरण आगम एवं युक्तियों से करता हूँ।

'अजैर्यष्टव्यं' इत्यादि वाक्य में पर्वत ने जो भी कहा है, वह बिल्कुल असत्य है; क्योंकि मूलतः अज शब्द का अर्थ जो पशु किया है, वह असत्य है। यह कोरी मनगढ़न्त कल्पना है, वेद में शब्दार्थ की व्यवस्था अपने अभिप्राय से नहीं होती; किन्तु वह वेदाध्ययन के समान गुरुओं के उपदेश की अपेक्षा रखती है। अतः गुरुओं की पूर्व परम्परा से शब्दों के अर्थ का निश्चय करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि - यदि

अध्ययन गुरु परम्परा की अपेक्षा रखता है तो अर्थज्ञान भी गुरु परम्परा की अपेक्षा रखेगा – यह न्याय सिद्ध बात है।

शब्दों के अर्थ में जो प्रवृत्ति है, वह या तो रूढ़ि से होती है या गुरु के बताये अनुसार – क्रिया के आधीन होती है; परन्तु जिनके हृदय में गुरु का उपदेश चिरकाल तक स्थिर नहीं रहता, वे गुरु के द्वारा प्रतिपादित अर्थ को भूल जाते हैं। वस्तुतः ‘अजैर्यष्टव्यं’ इस वेद वाक्य में ‘अज’ शब्द का अर्थ रूढ़िगत अर्थ से दूर ‘न जायन्ते इति अजः’ अर्थात् जो उत्पन्न न हो सके वे अज हैं। इस व्युत्पत्ति से क्रिया सम्मत ‘तीन वर्ष पुराना धान्य’ गुरु द्वारा बताया गया है। यद्यपि प्रसंगानुसार ‘अज’ शब्द का अर्थ बकरा भी होता है; परन्तु यहाँ इस प्रसंग में ‘अज’ शब्द का अर्थ – पृथ्वी, खाद-पानी आदि के रहते हुए भी जिस धान्य में अंकुर आदि प्रगट न हों सके ऐसा तीन वर्ष पुराना धान ‘अज’ कहलाता है। ऐसे धान से यज्ञ करना चाहिए – यह ‘अजैर्यष्टव्यम्’ इस वाक्य का अर्थ है।

यज् धातु का अर्थ देवपूजा है, इसलिए द्विजों को पूर्वोक्त धान से ही पूजा करना चाहिए। साक्षात् पशु की बात तो दूर ही रहो, पशुरूप से कल्पित चून के पिण्ड से भी पूजा नहीं करना चाहिए; क्योंकि अशुभ संकल्प से भी भयंकर पाप होता है। नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव निक्षेप से जो चार प्रकार का पशु कहा गया है, उसकी हिंसा का कभी मन में विचार भी नहीं आना चाहिए।

यह जो कहा है कि – मंत्रों द्वारा होनेवाली मृत्यु से दुःख नहीं होता, वह बात सर्वथा मिथ्या है; क्योंकि यदि दुःख नहीं होता तो जिसप्रकार पहले स्वस्थ अवस्था में मृत्यु नहीं हुई थी; उसीप्रकार अब भी मृत्यु नहीं होनी चाहिए। यदि पैर बाँधे बिना और नाक मूँदे बिना अपने आप पशु मर जावे तब तो उक्त बात मानी भी जा सकती थी; परन्तु यह असंभव बात है। बंध्य पशु के चीत्कार तथा आँखों से झरते आँसुओं से ही उसके दुःख का अनुमान हो जाता है कि वह कितना बेबस है।

अध्यात्म की आड़ लेकर जो यह कहा जाता है कि “आत्मा तो सूक्ष्म है, वह आग में जलता नहीं, पानी में गलता नहीं, अस्त्रों-शस्त्रों से कटता नहीं” यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि यह कुतर्क है। यह

अध्यात्म की बात कह कर मानव हिंसा और क्रूरता के महापाप से नहीं बच सकता। उस कथन का हिंसा-अहिंसा के आचरण से कोई संबंध नहीं है।

यह निर्विवाद सिद्ध है कि संसारी जीव शरीर प्रमाण है और मंत्र-तंत्र व अस्त्र-शस्त्र आदि किसी भी साधन से शरीर का घात होने पर जीव को नियम से दुःख ही होता है।”

पूर्वपक्ष का यह कहना भी ठीक नहीं है कि - “जिन जीवों की यज्ञ में आहुति देने से मृत्यु होती है, याजक लोग मंत्रों द्वारा उनके चक्षु आदि को सूर्य आदि के पास भेज देते हैं।’ पर्वत ने कहा था कि - “होम करते ही मंत्रों द्वारा पशु को स्वर्ग भेज दिया जाता है और वहाँ वह पशु भी याजकों के समान ही कल्पकाल तक सुख भोगता है।” सो यह बात सर्वथा मिथ्या है। प्राणियों के घातक होने से - उन याजकों को भी स्वर्ग कैसे मिल सकता है? उन्हें तो धर्म के नाम पर प्राणियों के वध करने से नरक ही मिलना चाहिए।”

पर्वत ने जितने कुतर्क अपनी मिथ्यामान्यता के पोषण में दिए, नारद ने उन सभी का सुयुक्तियों द्वारा खण्डन कर दिया और अपने पक्ष को प्रबल युक्तियों द्वारा स्थापित किया। सभा में उपस्थित जनसाधारण ने भी नारद के पक्ष का अनुमोदन करते हुए करतल ध्वनि से सभा भवन को गुंजायमान करते हुए नारद को बारम्बार धन्यवाद दिया।

तदनन्तर अनेक शास्त्रों के ज्ञाता शिष्टजनों ने अन्तरिक्षचारी राजा वसु से पूछा - “हे राजन्! आप गुरु के द्वारा सुने हुए सत्य अर्थ को कहें। आपने भी तो उन्हीं गुरु से पढ़ा है, जिनसे इन्होंने पढ़ा। आप भी तो इनके सहपाठी रहे हैं। अतः निष्पक्ष, और सत्य निर्णय देकर ‘दूध का दूध और पानी का पानी’ कहावत को सत्य चरितार्थ करें।”

यद्यपि राजा वसु दृढ़बुद्धि था और गुरु के वचनों का उसे भलीभाँति स्मरण था, तथापि मोहवश सत्य का अपलाप करते हुए उसने कहा -

‘हे सभाजनो! यद्यपि नारद ने युक्तियुक्त कहा है, तथापि पर्वत ने जो कहा, वही उपाध्याय का भी मत

था।' इतना कहते ही पृथ्वी फट गई और राजा वसु का स्फटिक मणिमय आसन पृथ्वी में धंस गया। मानो पृथ्वी भी राजा वसु के मिथ्या-भाषण को सह नहीं सकी; क्योंकि वसु के थोड़े से मोह ने जो मिथ्यामान्यता की पुष्टि की, उसका दुष्फल बिचारे पशु आजतक भुगत रहे हैं और न जाने आगे कब तक यह मिथ्यामान्यता चलती रहेगी और धर्म के नाम पर पशु होम में झोंके जाते रहेंगे। यह मोह ही भयंकर पाप है; जिसके परिणामस्वरूप राजा वसु सिंहासन के जमीन में धँसते ही मृत्यु को प्राप्त कर सातवें नरक में गया।

हिंसानन्द और मृषानन्द रौद्रध्यान से कलुषित होकर राजा वसु भयंकर दुःखद नरक में गया। जिसे ऐसे नरकों में नहीं जाना हो, वे वसु की भाँति मोहवश पक्षपात में न पड़ें और मिथ्यामान्यता का समर्थन न करें।

यहाँ पाठकों को प्रस्तुत कथा के द्वारा यह संदेश है कि कोई भी संसारी संज्ञी प्राणी ध्यान के बिना तो रहता नहीं है और मिथ्यात्व की भूमिका में धर्मध्यान किसी को होता नहीं है, इस कारण उनको या तो आर्तध्यान होता रहता है या रौद्रध्यान! आर्तध्यान दुःखरूप ही होता है। इसके मुख्यतः चार भेद हैं - (१) इष्टवियोगज (२) अनिष्टसंयोगज (३) पीड़ाचिन्तन और (४) निदान। जगत में जो वस्तु या व्यक्ति सुखदायक प्रतीत होता है, वह इष्ट लगता है, प्रिय लगता, भला लगता है और जो दुःखदायक प्रतीत होता है, वह अनिष्ट लगता है, बुरा लगता है अप्रिय लगता है। जो इष्ट लगता है उसके वियोग में दुःखी होना - यह इष्टवियोगज आर्तध्यान है। जो अनिष्ट लगता है, उसके संयोग में दुःखी होना - यह अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान है। पीड़ा दो तरह से होती है - एक मानसिक, दूसरी शारीरिक। असाता कर्म के उदयानुसार दोनों तरह की पीड़ा होती है, उसमें दुःखी रहना पीड़ा चिन्तन आर्तध्यान है तथा थोड़ा-बहुत बाह्य धर्माचरण करके उसके फल में लौकिक विषयों की कामना होना निदान आर्तध्यान है - अज्ञानी जीव चौबीसों घंटे इसी में उलझा रहता है और इसके परिणामस्वरूप उसे तिर्यचगति की प्राप्ति होती है।

यदि हमें पशु पर्याय पसंद न हो, एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय में जन्म-मरण करना और अनन्त दुःख भोगना पसंद न हो तो तत्त्वज्ञान के अभ्यास से पर पदार्थों में इष्टानिष्ट की मिथ्याकल्पना का त्याग आवश्यक

है; अन्यथा हम इस आर्तध्यान से नहीं बच सकेंगे ।

इसीप्रकार मुख्यतः मिथ्यात्व की भूमिका में ही रौद्रध्यान होता है – वह रौद्रध्यान भी चार प्रकार का है । (१) हिंसानन्दी रौद्रध्यान (२) मृषानन्दी रौद्रध्यान (३) चौर्यानन्दी रौद्रध्यान (४) परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान । यह रौद्रध्यान आनन्द रूप होता है । इसके फल में जीव नरक में जाता है । जैसे कि राजा वसु ने मोहवश 'अज' शब्द का मिथ्या अर्थ प्रचारित करके हिंसा की परम्परा को तो प्रश्रय दिया ही, झूठ भी बोला और पर्वत का पक्ष लेकर हिंसा एवं झूठ को बढ़ावा देकर मन ही मन आनन्दित भी हुआ । परिणामस्वरूप सातवें नरक गया ।

यह तो सभी जानते हैं कि द्रव्य हिंसा करना किसी के वश की बात नहीं है; क्योंकि कुन्दकुन्दस्वामी स्वयं ही समयसार के बन्ध अधिकार में लिखते हैं कि –

निज आयुक्षय से मरण हो, यह बात जिनवर ने कही ।

तुम मार कैसे सकोगे, जब आयु हर सकते नहीं ॥

हम आयु हर सकते नहीं, तो मरण हमने कैसे किया ? इसप्रकार की एक नहीं अनेक गाथायें हैं; अतः यदि प्रमाद एवं कषायवश हमने मारने या बचाने का अशुभ या शुभभाव किया तो हमें उन्हीं भावों का फल प्राप्त होता है । अज्ञानी जीव दिन-रात राग-द्वेष और मोहवश मारने/बचाने के अशुभ-शुभभावों से पाप-पुण्य बाँधता ही रहता है । फलस्वरूप कभी नरक तो कभी स्वर्ग के दुःख-सुख भोगता रहता है । यदि संसार में जन्म-मरण के दुःख नहीं भोगना हों तो इस हिंसानन्दी रौद्रध्यान से बचें । रौद्रध्यान तो अशुभ ही होता है, जिसका फल नरक है ।

सब लोगों के समक्ष जब वसु पाताल (नरक) में चला गया तब सब ओर आकुलता से भरे हा! हा!! धिग्! धिग्!! शब्द गूँजने लगे । जिसे तत्काल असत्य बोलने का फल मिल गया था, उस राजा वसु की सब लोगों ने निन्दा की और दुष्ट पर्वत का तिरस्कार करके उसे नगर से बाहर निकाल दिया । तत्त्ववादी, गंभीर एवं वादियों को परास्त करने वाले नारद को लोगों ने ब्रह्मरथ पर सवार किया तथा उसका सम्मान कर सब

यथास्थान चले गये। इधर तिरस्कार पाकर पर्वत भी अनेक देशों में परिभ्रमण करता रहा। अन्त में उसने द्वेषपूर्ण दुष्ट महाकाल नामक असुर को देखा। पूर्वभव में जिसका तिरस्कार हुआ था, उस महाकाल असुर के लिए अपने परभव का समाचार सुनाकर पर्वत उसके साथ मिल गया और दुर्बुद्धि के कारण हिंसापूर्ण शास्त्र की रचना कर लोक में ठगिया बन हिंसापूर्ण यज्ञ का प्रदर्शन करता हुआ प्राणी हिंसा में तत्पर होकर मूर्खजनों को प्रसन्न करने लगा।

अन्त में पापोपदेश के कारण पापरूपी शाप के वशीभूत होने से पर्वत भी मरकर मानो वसु की सेवा करने के लिए नरक ही चला गया।

बड़े खेद की बात है कि एक ओर तो वसु सत्यजनित प्रसिद्धि को पाकर भी अन्त में मोहवश हिंसा एवं झूठ पापों के प्रचार में कारण बनकर नरक गया तथा अभिमान के वशीभूत हुआ पर्वत भी उसके पीछे नरक में ही गया; वहीं दूसरी ओर सम्यग्दृष्टि दिवाकर नामक विद्याधर मित्र को पाकर एवं पर्वत के मिथ्यामत का खण्डन कर नारद कृत-कृत्य होता हुआ स्वर्ग गया।

जीवों पर दया करना व्यवहार से अहिंसाधर्म है। निरन्तर हिंसा के त्यागरूप ऐसा दयाधर्म का पालन करना और अपने प्राण जाने पर भी जीव वध से दूर रहना हिंसा का त्याग है, यही व्यवहार धर्म है। आदरपूर्वक आचरण किया हुआ यह धर्म मोह को भेदकर साक्षात् स्वर्ग और परम्परा मोक्ष के उत्तम सुख में पहुँचा देता है।

राजा वसु की अनेक पीढ़ियों का संक्षिप्त परिचय कराते हुए कहा है कि वसु से बृहद्ध्वज और बृहद्ध्वज से सुबाहु नामक धर्मनिष्ठ पुत्र हुए। बृहद्ध्वज मथुरा का राजा था, उसके पुत्र सुबाहु, सुबाहु से दीर्घवायु, दीर्घवायु से वज्रबाहु आदि अनेक राजा हुए, जो अपने-अपने पुत्रों को राज्य देकर जिनदीक्षा लेते रहे।

वर्तमान चौबीसी के बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के धर्मतीर्थ प्रवर्तनकाल में हजारों राजा हुए और प्रायः सबने जिनदीक्षायें ग्रहण कर आत्मा का कल्याण किया।

तदनन्तर इसी वंश में २२ वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ हुए। भगवान नेमिनाथ की मनुष्यपर्याय की आयु एक हजार वर्ष की थी। हरिवंश रूपी उदयाचल पर ही सूर्य के समान तेजस्वी 'यदु' नाम का राजा उदित

हुआ। इसी यदु राजा के नाम से यादव कुल की उत्पत्ति हुई।

राजा यदु के नरपति नाम का पुत्र था, जिस पर उस पर राज्यभार सौंपकर राजा यदु तप करके स्वर्ग गया। राजा नरपति के शूर एवं सुवीर नामक दो पुत्र हुए। नरपति उन्हें राज्य सिंहासन पर बैठाकर तप करने लगा। राजा शूर ने अपने छोटे भाई सुवीर को मथुरा के राज्य पर अधिष्ठित किया और स्वयं ने कुराद्य देश में एक उत्तम शौर्यपुर नामक नगर बसाया।

शूर से अन्धकवृष्टि आदि अनेक शूरवीर पुत्र हुए। अन्धकवृष्टि की सुभद्रा नामक स्त्री से उसके दस पुत्र हुए, जो देवोंसमान कान्तिवाले तथा स्वर्ग से आये थे। इनके सिवाय कुन्ती और माद्री नाम की लक्ष्मी और सरस्वती के समान दो कन्यायें भी थीं।

राजा अन्धकवृष्टि के भाई भोजकवृष्टि की पद्मावती पत्नी से उग्रसेन, महासेन और देवसेन नामक तीन पुत्र हुए। राजा वसु का सुवसु नामक पुत्र जो कुंजरावर्तपुर (नागपुर) में रहने लगा था, उसके बृहद्रथ नामक पुत्र हुआ और वह मागधेशपुर में रहने लगा। बृहद्रथ की परस्पर में लाखों पीढ़ियाँ गुजर जाने के बाद द्वितीय बृहद्रथ नामक राजा हुआ। यह राजगृहनगर का स्वामी था, जिसके पृथ्वी को वश में करनेवाला जरासंध नामक पुत्र हुआ। जरासंध विभूति में लंकाधिपति रावण के समान त्रिखंडी अर्द्धचक्रवर्ती था तथा नौ वां प्रतिनारायण था। उसके कालयवन आदि अनेक नीतिनिपुण पुत्र एवं अपराजित आदि अनेक भाई थे, जो हरिवंश रूप महावृक्ष की शाखाओं पर लगे फलों के समान थे। राजा जरासन्ध अपनी द्वितीय माता का अद्वितीय वीर पुत्र था। वह राजगृह नगर में रहते हुए दक्षिण श्रेणी में रहनेवाले समस्त विद्याधर और उत्तरापथ एवं दक्षिणापथ के राजाओं पर शासन करता था।

एकबार शौर्यपुर के उद्यान में गन्धमादन पर्वत पर रात्रि के समय सुप्रतिष्ठ नामक मुनिराज प्रतिमायोग लेकर विराजमान थे। पूर्व वैर के कारण सुदर्शन यक्ष ने उन मुनिराज पर अग्निवर्षा, प्रचण्डवायु तथा तेज मेघवृष्टि आदि करके अनेक कठिन उपसर्ग किए; परन्तु उन सब पर साम्यभाव से विजय पाकर तथा घातिया

कर्मों का क्षय करनेवाले उपसर्गजयी मुनिराज ने - केवलज्ञान प्राप्त कर अर्हन्त अवस्था प्राप्त कर ली।

‘सुप्रतिष्ठित मुनिराज को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई’ - यह समाचार जानकर भक्तिभाव से प्रेरित हो उनकी वन्दना के लिए सौधर्म आदि इन्द्रों के समूह तो चारों निकायों के देवों के साथ आये ही, शौर्यपुर का राजा अन्धकवृष्टि भी अपने परिवार और सेना समूह सहित आया। सभी आगंतुक भव्य जीव जब भक्तिभाव सहित वन्दना करके यथास्थान बैठ गये तो भव्यजीवों के भाग्य का निमित्त पाकर भगवान सुप्रतिष्ठित केवली की दिव्यध्वनि के रूप में धर्मोपदेश हुआ।

उनकी दिव्यध्वनि में आया कि - “तीनों लोकों में त्रिवर्ग (अर्थ, काम एवं मोक्ष) की प्राप्ति धर्म से ही होती है। इसलिए त्रिवर्ग के इच्छुक प्राणियों को धर्म की साधना/आराधना एवं उपलब्धि करना चाहिए। धर्म ही सर्वोत्कृष्ट मंगलस्वरूप है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित अहिंसा, संयम, तप आदि वस्तुस्वभावरूप वीतराग धर्म के आधार हैं। वह वीतराग धर्म ही जीवों को उत्तम शरणभूत है; क्योंकि वह धर्म ही जीवों को उत्तम सुख की प्राप्ति कराता है। उस धर्म से ही पर्याय में वीतरागता और सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है।

वह धर्म छह द्रव्य, सात तत्त्व, वस्तुस्वभाव की समझपूर्वक ही होता है। इन छह द्रव्यों को ही वस्तु कहते हैं। जब तक छह द्रव्य के स्वतंत्र परिणामन का यथार्थ ज्ञान एवं सात तत्त्व या नौ पदार्थों की यथार्थ जानकारी और सही श्रद्धा नहीं होती तब तक वीतराग चारित्ररूप यथार्थ धर्म प्रगट नहीं होता। संयम एवं तप की सार्थकता भी सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होती है।

सम्यग्दर्शन में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के स्वरूप का यथार्थ निर्णय और सात तत्त्वों की सच्ची समझपूर्वक यथार्थश्रद्धा का होना अनिवार्य है।

वीतरागी देव, निर्ग्रन्थ गुरु और अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप की प्रतिपादक स्याद्वादमयी जिनवाणी ही सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु की श्रेणी में आते हैं। इनके सिवाय अन्य कोई भी मुक्तिमार्ग में पूज्य एवं आराध्य नहीं है।

साधना और आराधना की दृष्टि से धर्मसाधना को दो वर्गों में बाँटा गया है – एक मुनिधर्म तथा दूसरा गृहस्थ धर्म। गृहस्थधर्म साक्षात् तो स्वर्गादिक अभ्युदय का कारण है और परम्परा से मुक्ति का कारण है तथा मुनिधर्म मुक्ति का साक्षात् कारण है।

वस्तुतः मुक्ति तो मुनिधर्म की साधना से ही होती है। मुनि हुए बिना तो तीनकाल में कभी भी मोक्ष की प्राप्ति संभव ही नहीं हैं। अरहन्तपद प्राप्त करने की प्रक्रिया ही यह है कि जो गृहस्थपना छोड़ मुनिधर्म अंगीकार कर निजस्वभाव साधना द्वारा चार घातिया कर्मों का अभाव होने पर अनन्त चतुष्टयरूप विराजमान हुए वे अरहन्त हैं। अरहन्त की इस परिभाषा में मुनिधर्म और उसमें भी निजस्वभाव की साधना ही मुख्य है। गृहस्थधर्म तो मात्र एक तात्कालिक समझौता है। जब तक पूर्णरूप से पापों को छोड़ने और निजस्वरूप में स्थिर होने की सामर्थ्य प्रगट नहीं होती तब तक पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत – इसतरह बारह व्रतों का एकदेश पालन करते हुए मुनिधर्म को धारण करने की सामर्थ्य (योग्यता) प्रगट करने का प्रयत्न ही गृहस्थ धर्म है। ज्यों ही कषाय के तीन चौकड़ीजन्य सम्पूर्ण पापभाव और पापप्रवृत्ति छूट जाती हैं त्यों ही जीवन में मुनिधर्म आ जाता है, फिर मुनि होने से कोई नहीं रोक सकता। वैसे तो गृहस्थ धर्म का प्रारंभ-सम्यग्दर्शन रूप मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी से ही होता है; किन्तु उसके भी पहले सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए अष्ट मूलगुणों का पालन, सात व्यसनों का त्याग और सच्चे वीतरागी देव, निर्ग्रन्थ गुरु तथा स्याद्वादमयी वाणी (जिनवाणी) रूप सच्चे शास्त्र का यथार्थ निर्णय एवं उनका श्रद्धापूर्वक दर्शन, श्रवण और पठन-पाठन अति आवश्यक है। इन साधनों के बिना निजस्वभाव में स्थिरतारूप मुनिधर्म की साधना/आराधना तथा रत्नत्रयधर्म का प्राप्त होना कठिन ही नहीं असंभव है।

प्रारंभ में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के माध्यम से छह द्रव्यों के स्वतंत्रपने का, साततत्त्व की हेयोपादेयता का, नौ पदार्थ का एवं स्व-पर भेदविज्ञान का ज्ञान तथा परपदार्थों में अनादिकालीन हो रहे एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व की मिथ्या-मान्यता का त्याग भी अनिवार्य है।

अतः इनका प्रयोजनभूत ज्ञान भी आवश्यक है। यह सब प्रक्रिया मन्दकषाय में ही संभव है तथा छह द्रव्य, साततत्त्व आदि की सच्ची समझ और उसके स्वतंत्र परिणामन की सही समझ के लिए इसी जाति के ज्ञान की प्रगटता (क्षयोपशम) का होना भी आवश्यक है। इसे ही शास्त्रीय भाषा में *क्षयोपशमलब्धि* कहा गया है और कषायों की मंदता को *विशुद्धिलब्धि* कहा गया है। इन दो लब्धियों के होने पर देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से प्राप्त उपदेश भी *देशनालब्धि* के रूप में ही प्राप्त हो जाता है।

यह सब तो सम्यग्दर्शन की पूर्व भूमिका में ही होता है – ऐसी पात्रता बिना आत्मानुभूति रूप सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता; अतः मनुष्य जन्म की सफलता के लिए हमें ऐसी पात्रता तो प्राप्त करना ही है। देखो, जो प्राणी मोह के वश हो संसारचक्र में फँसे रहते हैं – ऐसे कर्मकलंक से कलंकित अनंत जीव हैं, जिन्होंने आज तक त्रस पर्याय प्राप्त ही नहीं की। ये प्राणी चौरासी लाख कुयोनियों तथा अनेक कुल-कोटियों में निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं। कदाचित् हम भी यह अवसर चूक गये तो चौरासी लाख योनियों में न जाने कहाँ फँस जायेंगे, फिर अनन्तकाल तक यह स्वर्ण अवसर नहीं मिलेगा।”

इसप्रकार केवलज्ञानी सुप्रतिष्ठित प्रभु ने दिव्यवाणी द्वारा धर्मोपदेश देते हुए धर्म को उत्कृष्ट मंगलस्वरूप प्रतिपादित किया तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित सम्यक्चारित्र के रूप में अहिंसा, संयम, तप आदि का उपदेश दिया। संसार, शरीर और भोगों की क्षणभंगुरता का ज्ञान कराते हुए बारह भावनाओं के बारम्बार चिन्तन करने की प्रेरणा देते हुए कहा – “ये प्राणी कर्मोदय के वशीभूत हो स्थावर तथा त्रस पर्यायों में असंज्ञी (मन रहित) होकर जन्म-मरण के असह्य दुःख सागरों पर्यन्त भोगते हैं। यदि इन दुःखों से मुक्त होना चाहते हो तो एक वीतराग धर्म की आराधना करो जीव ने अनन्तबार निगोद में जा-जाकर एक इन्द्रिय (मात्र स्पर्शन इन्द्रिय) पर्याय में जन्म लिया और एक श्वास में अठारह-अठारह बार जन्म-मरण किया। यह मनुष्यपर्याय अत्यन्त दुर्लभता से प्राप्त हुई है, अतः भोगों में पड़कर पापार्जन करके पुनः संसार चक्र में फँसने का काम मत करो। ये कुयोनियाँ नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक

जीवों में प्रत्येक-प्रत्येक की सात-सात लाख होती हैं। वनस्पति कायिकों की दश लाख, विकलेन्द्रियों की छह लाख, मनुष्यों की चौदह लाख, तिर्यच, नारकी एवं देवों प्रत्येक की चार-चार लाख - इसप्रकार चौरासी लाख योनियाँ हैं; जिनमें अज्ञानी जीव अनन्त काल तक जन्म-मरण करते रहते हैं।

इसप्रकार यह असार संसार अनेक दुःखों से भरा है। इन सबमें मात्र मनुष्य पर्याय ही मोक्ष की साधक होने से सारभूत है; परन्तु यह अत्यन्त दुर्लभ है, जो हमें हमारे सद्भाग्य से सहज में उपलब्ध हो गई है; अतः बुद्धिमान व्यक्तियों को संसार की इस दुःखद स्थिति को जानकर इससे विरक्त हो मुक्ति की साधना कर इस मानवजन्म को सार्थक कर लेना चाहिए।

अफसोस तो यह है कि जिस लौकिक आजीविका के लिए, भौतिक सुविधाओं के लिए हमें एक क्षण भी बर्बाद करने की जरूरत नहीं है; क्योंकि पूर्वोपार्जित पुण्यानुसार हाथी को मन और चींटी को कन मिलता ही है; उसमें तो हम दिन-रात लगे रहते हैं, २४ घंटे भी कम पड़ते हैं और जिस मुक्ति की साधना के लिए अपूर्व पुरुषार्थ करने और समय देने की जरूरत है, उसके लिए हम समय नहीं दे पा रहे हैं; अतः अपनी दिशा को बदलना चाहिए। दिशा बदलने से ही दशा बदलेगी।”

इसप्रकार केवली भगवान की दिव्यध्वनि के सार को सुनकर अन्धकवृष्टि को अपने पूर्वभव जानने की जिज्ञासा हुई। सुप्रतिष्ठित केवली की दिव्यध्वनि द्वारा उनकी जिज्ञासा का भी समाधान हुआ।

“भगवान ऋषभदेव के तीर्थकाल में अयोध्यानगरी में राजा रत्नवीर्य राज्य करता था। उसके निष्कंटक राज्य में बत्तीस करोड़ दीनारों (तत्कालीन सिक्कों) का धनी सुरेन्द्रदत्त सेठ था। सुरेन्द्रदत्त सेठ जिनधर्म का परम श्रद्धावान था। रुद्रदत्त उसका मित्र था। एकबार सेठ धार्मिक अनुष्ठान कराने के लिए रुद्रदत्त को विपुल धनराशि देकर व्यापार के लिए बाहर गया था। रुद्रदत्त के मन में बेईमानी आ गई। उसने धार्मिक अनुष्ठान हेतु प्राप्त सेठ के धन को धर्म के अनुष्ठान में न लगाकर जुआ, वैश्यागमन आदि कुकर्मों में बर्बाद कर दिया। धन तो नष्ट हो गया और बुरे व्यसनों की आदत छूटी नहीं तो चोरी आदि गलत उपायों से धन जुटाने के अपराध करने लगा। उन अपराधों में वह जेल चला गया। जब जेल से छूटा तो वन में भीलों के साथ रहकर लोगों

को लूटने लगा। अन्त में सैनिकों द्वारा मारा गया।

देव-द्रव्य हड़पने और सातव्यसनों के सेवन के परिणामस्वरूप वह रुद्रदत्त तैंतीस सागर तक सातवें नरक में गया, जहाँ भयंकर दुःख भोगकर वहाँ से निकलकर संसार में परिभ्रमण करता हुआ कदाचित् पापकर्म के उपशम से हस्तिनापुर में गौतम नामक महादरिद्र मनुष्य हुआ। इधर-उधर भिक्षावृत्ति करके पेट-पालते हुए उसे समुद्रदत्त नामक मुनिराज के दर्शन हो गये। वह उनके चरणों में वन्दना कर बैठ गया और अपने दुःखों को कहकर उनसे मुक्त होने का उपाय पूँछने लगा। मुनिराज ने उसे भव्य जानकर जिनधर्म का उपदेश दिया और अपने पास रख लिया। जब वह तत्त्वज्ञानी हो गया तो उसे मुनिधर्म की दीक्षा दे दी। गौतम ने मुनिव्रत धारण कर एक हजार वर्ष तक कठिन तपस्या की उसके प्रभाव से उसे बीजबुद्धिऋद्धि उपलब्ध हो गई।

गुरु समुद्रदत्त मुनि दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप - इन चार आराधनाओं की आराधना कर छोटे ग्रैवेयक के सुविशाल नामक विमान में अहमिन्द्र हुए और उनके शिष्य गौतम मुनि ने पचास हजार वर्ष तप किया। अन्त में बीजबुद्धि के धारक गौतम मुनि भी अट्टाईस सागर की आयु प्राप्त कर उसी सुविशाल-विमान में उत्पन्न हुए। वहाँ से चलकर गौतम का जीव तू तो अन्धकवृष्टि हुआ और गुरु मुनि समुद्रदत्त का जीव मैं सुप्रतिष्ठित हुआ हूँ।

चाहे इसे मानवीय मनोविज्ञान कहो या मानवीय कमजोरी, पर यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अधिकांश व्यक्ति दूसरों की घटनायें सुनते-सुनते स्वयं अपने जीवन की घटनाएँ सुनाने को उत्सुक ही नहीं आतुर तक हो उठते हैं और कभी-कभी तो भावुकतावश न कहने योग्य बातें भी कह जाते हैं। जिनसे वाद-विवाद बढ़ने की सम्भावना हो, ऐसी बातें कहने से भी अपने को रोक नहीं पाते।

- विदाई की बेला, पृष्ठ-७, दसवाँ हिन्दी

संस्करण

वसुदेव की उपलब्धियाँ

शौर्यपुरी नगरी के राजा समुद्रविजय के नौ लघुभ्राता थे। उनमें आठ भाइयों के नवयौवन आने पर यथासमय विवाह कर दिये गये। अनेक कलाओं में निपुण और गुणों से भरपूर ये आठों भाई और उनकी पत्नियाँ परस्पर बड़े स्नेह से रहती थीं, उनमें बेजोड़ प्रेम था। लघुभ्राता कुमार वसुदेव देवों के समान सर्व गुणसम्पन्न और कामदेवों के समान अतिशय रूपवान, अनेक कलाओं में कुशल, व्यवहार में चतुर चंचल चितवन युक्त, बाल सुलभ क्रीड़ाएँ करते हुए शौर्यपुरी नगरी में यथेष्ट अपना एवं दूसरों का मनोरंजन करते थे। वे अपने रूप-लावण्य, आकर्षक व्यक्तित्व, नाना प्रकार की चतुराई पूर्ण बातों और मन्द-मन्द मुस्कान आदि से हर्ष व्यक्त करने वाले हावभावों से जनता के चित्त को अपनी ओर सहज आकर्षित कर लेते थे।

धीर-वीर वसुदेव एकबार ब्राह्मण का वेष धारण कर निःशंक हो पश्चिम दिशा की ओर चल पड़े। योजनों चलते-चलते वे विजयखेट नामक नगर में पहुँचे। वहाँ क्षत्रिय वंशोत्पन्न सुग्रीव नामक एक गंधवाचार्य से परिचय हुआ। संगीतप्रेमी सुग्रीव वसुदेव के बाह्य व्यक्तित्व से ही प्रभावित हो गया। उस सुग्रीव गंधवाचार्य की सोमा और विजयसेना नामक दो सुन्दर कन्याएँ थीं, दोनों गंधर्व-विद्या में निपुण थीं। इसकारण उनके पिता गंधवाचार्य को उन पर गौरव था। अतः उसने ऐसा निश्चय कर लिया कि जो इन्हें इस विद्या में जीतेगा वही उनका पति होगा। वसुदेव ने उन दोनों कन्याओं को संगीत प्रतियोगिता में जीता और सुग्रीव ने सन्तुष्ट होकर उन दोनों का विवाह वसुदेव से कर दिया। वसुदेव उनके साथ कुछ समय सुखपूर्वक वहीं रहे। विजयसेना से अंकुर नामक पुत्र हुआ। तदनन्तर वसुदेव उन

दोनों पत्नियों को वहीं छोड़ पुनः मिलने का आश्वासन देकर अज्ञातवास में चले गये। मार्ग में जाते हुए उन्होंने एक बहुत बड़ी अटवी में हंस, सारस तथा कमलों से सुशोभित एक सुन्दर सरोवर देखा। वहाँ उन्होंने अपनी प्यास बुझाई और स्नान किया, तत्पश्चात् जल को इसतरह तरंगित किया कि जिससे मृदंग के समान शब्द निकलता था। उस शब्द को सुनकर वहाँ सोया हुआ एक बड़ा हाथी क्रोधित होकर खड़ा हो गया। मारने को आगे बढ़े हुए उस क्रोधित हाथी को वसुदेव ने वश में करके उसके दांतों पर झूले की तरह झूलकर अपना बल-पराक्रम प्रदर्शित किया और उस पर सवार हो गये।

बलवान हाथी को वश में करने वाला बहादुरी का कार्य एकान्त में हुआ था, इसकारण वसुदेव अरण्यरुदन जैसा लगा। वे सोचने लगे - “यदि यह काम जनसमूह के बीच में शौर्यपुर में हुआ होता तो लोग धन्य-धन्य कहने के लिए मुखर हो जाते, धन्यवाद के स्वर से आकाश गूँज जाता।”

वसुदेव यह विचार कर ही रहे थे कि उसी समय दो धीर-वीर विद्याधर हाथी के मस्तक पर बैठे वसुदेव का अपहरण करके उठा ले गये और उसे विजयाब्द पर्वत के उपवन में छोड़ गये। वहाँ जब वसुदेव अशोक वृक्ष के नीचे शोकरहित सुख से बैठ गये तब उन विद्याधर कुमारों ने वसुदेव को नमस्कार कर कहा - “हे स्वामिन् ! तुम यहाँ अशनिवेग नामक विद्याधर राजा के आदेश से हमारे द्वारा लाये गये हो। उसे तुम अपना श्वसुर समझो। मेरा नाम अर्चिमाली कुमार और यह मेरा साथी वायुवेग है” - ऐसा कहकर एक तो वही वसुदेव की रक्षा में खड़ा रहा और दूसरे ने राजा अशनिवेग के पास जाकर कहा - “हे स्वामिन्! हाथी को मर्दन करनेवाले धीर-वीर विनीत और नवयौवन से सुशोभित कुमार को हम यहाँ ले आये हैं।” यह समाचार जानकर अशनिवेग हर्ष विभोर हो गया और समाचार लाने वाले को अपने आभूषण उतारकर पुरस्कार में दे दिये।

वसुदेव को सम्मानपूर्वक नगर में लाया गया। शुभ मुहूर्त देखकर अपनी यौवनवती सर्वगुण सम्पन्न श्यामा नामक बेटी का वसुदेव के साथ विवाह कर दिया। नवदम्पति वहाँ सुख से अपना समय बिताने

लगे। एक दिन श्यामा ने सत्रह तारवाली वीणा बजायी, जिससे वसुदेव ने प्रसन्न होकर मुँह माँगा वरदान माँगने के लिए कहा - श्यामा ने वर में यह माँगा कि “चाहे दिन हो या रात आप मेरे बिना अकेले न रहें” यह वर माँगने का एक मात्र कारण यह है कि - मेरा शत्रु अंगारक तुम्हें हरकर ले जा सकता है - ऐसा मुझे भय है। मेरे रहते वह आपका हरण नहीं कर सकता; क्योंकि मैं विद्याधर कन्या हूँ, मेरे पास उसका सामना करने की विद्या है, जो आपके पास नहीं है।

कालान्तर में यह घटना घट भी गई, जिसकी श्यामा को संभावना थी। एक दिन सोते समय वह शत्रु अंगारक, जो श्यामा का चचेरा भाई भी था, वसुदेव को अपहरण करके उठा ले गया। श्यामा की नींद टूटते ही उसने अंगारक का पीछा किया और श्यामा तथा वसुदेव ने मिलकर अंगारक को मार भगा दिया।

तदनन्तर कुमार वसुदेव श्यामा द्वारा दी हुई ‘पर्णलघ्वी’ विद्या से आकाश से नीचे उतर कर चम्पानगरी के बाह्य उद्यान में कमलों के सरोवर के किनारे पर आ गये। वहाँ मानस्तम्भ आदि सहित भगवान वासुपूज्य का मन्दिर था। वसुदेव ने मन्दिर की वंदना की और वहीं ठहर गये। प्रातः मन्दिर का पुजारी आया। वसुदेव ने उससे पूछा - “यह कौन-सा देश है ? कौन-सी नगरी है ?” उत्तर में पुजारी ने कहा - “यह अंग देश की चम्पानगरी है।” पुजारी ने पूछा - “आप ऐसा क्यों पूछ रहे हो ? क्या आप आकाश मार्ग से उतरे हैं ? वसुदेव ने कहा हाँ, दो यक्ष कुमारियों ने मेरा अपहरण कर लिया था; उनका आपस में झगड़ा होने से मैं आकाश से पृथ्वी पर आ पड़ा हूँ - ऐसा कह कर वसुदेव ने ब्राह्मण का वेष धारण कर उस चम्पानगरी में प्रवेश किया। वहाँ उन्होंने जहाँ-तहाँ मनुष्यों को वीणा हाथों में लिए देखकर पूछा - “ये लोग इसतरह वीणा हाथों में लिए इधर-उधर क्यों घूम रहे हैं ?”

उत्तर में ब्राह्मण ने कहा - “इस नगरी में एक चारुदत्त सेठ रहता है, उसकी गंधर्वसेना पुत्री है वह

सौन्दर्यवान एवं गन्धर्व विद्या में अति निपुण है। उसने यह नियम किया है कि जो मुझे गंधर्व शास्त्र अर्थात् संगीतशास्त्र में जीतेगा, वही मेरा पति होगा। बस उसी को जीतने के प्रयोजन से ये लोग नाना देशों से आये हैं। रूप-लावण्य और मृगनेत्री मनोहर कन्या ने समस्त संसार को व्यामोहित कर रखा है। अब तक अनेक प्रतियोगितायें हो चुकी हैं, उन सभी में उसी कन्या की विजय हुई। यह जानकर वसुदेव ने यह खोज की कि इस ग्राम में संगीत विद्या में निपुण कौन है ? जानकारी मिली कि इस समय सुग्रीव संगीत का सबसे अधिक प्रसिद्ध विद्वान है।

वसुदेव सुग्रीव के पास गये और नमस्कार कर बोले - “मैं गौतम गोत्री हूँ, आपको अपना संगीत विद्या का गुरु बनाना चाहता हूँ, कृपया मुझे अपना शिष्य बनाकर कृतार्थ करें।”

सुग्रीव ने योग्य पात्र जानकर उसे संगीत विद्या सिखाने की स्वीकृति दे दी। व्युत्पन्न होने से अल्पकाल में ही वसुदेव सम्पूर्ण विद्या में पारंगत हो गया तथा अवसर आने पर वह भी गंधर्वसेना की संगीत प्रतियोगिता में सम्मिलित हुआ। क्रम आने पर वसुदेव वीणा बजाने हेतु आसन पर आसीन हुआ। वसुदेव को अनेक वीणायें दी गईं, पर वसुदेव ने उन सबमें कोई न कोई दोष दिखाकर उन्हें निरस्त कर दिया। अन्त में गंधर्वसेना ने अपनी सत्तरह तारों वाली सुधोषणा नाम की वीणा उन्हें दी। उसे बजाकर प्रसन्न होते हुए वे बोले कि “यह वीणा बहुत अच्छी है, निर्दोष है। हे गन्धर्वसेना ! बोलो तुम्हें कौन-सी गदाध्वनि पसन्द है ? जो तुम कहो, मैं वही बजा दूँगा।”

गंधर्वसेना ने कहा - “बलि को बांधते समय देवदूत नारद आदि ने विष्णुकुमार मुनि का जिस रूप में स्तवन किया था, वीणा से जो संगीत सुनाया था, आप वही गीत गायें, वैसा ही संगीत सुनायें।”

वसुदेव ने गंधर्वसेना के कहे अनुसार विषयवस्तु प्रस्तुत करने से पूर्व प्रथम तो सम्पूर्ण संगीत विद्याओं का विशद वर्णन कर सम्पूर्ण सभासदों को भाव-विभोर कर दिया, तत्पश्चात् गंधर्व शास्त्र के विस्तार के साथ जब वसुदेव ने यथायोग्य अवसर के अनुकूल गाना गाया तो सभी श्रोता आश्चर्यचकित रह

गये। लोग कहने लगे कि 'ये क्या देवदूत नारद है ? या कोई गंधर्वदेव है ? अथवा किन्नरदेव है ? क्योंकि ऐसी वीणा बजाना किसी दूसरे साधारण कलाकार को कहाँ से आ सकती ?

इसप्रकार जब सभा में वसुदेव ने विजय पताका ग्रहण की तब चारों ओर से साधु-साधु का शब्द गूँज उठे। वे स्वाभाविक अनुराग से भरी गंधर्वसेना ने सभा में ही वसुदेव के गले में वरमाला डालकर उनका पति के रूप में वरण कर लिया तथा चारुदत्त सेठ ने सन्तुष्ट होकर अपनी कन्या गंधर्वसेना का विधिवत विवाह वसुदेव से कर दिया।

वसुदेव के संगीत गुरु सुग्रीव और यशोग्रीव ने भी अपनी-अपनी कन्यायें वसुदेव को प्रदान कर प्रसन्नता का अनुभव किया। पुण्यवान और परोपकारी पुरुष जहाँ भी जाते हैं, वहीं उन्हें समस्त प्रकार से अनुकूलता प्राप्त होती है। दो हाथ यदि उन्हें धक्का देते हैं, गिराते हैं तो हजार हाथ उन्हें झेलने को तैयार मिलते हैं। यह लोक प्रचलित उक्ति कुमार वसुदेव के जीवन के उतार-चढ़ाव के द्वारा साकार होती देखी जा सकती है। अतः हमें सदैव धर्म की शरण में रहकर सदैव स्व-पर कल्याण में ही अपना जीवन समर्पित करना चाहिए।

धर्म में श्रद्धा रखनवाले गुणवान एवं पुण्य पुरुष कुमार वसुदेव की विचित्र घटनाओं से हमें यह बात सीखने को मिलती है। वसुदेव जहाँ भी पहुँचे, उन्हें सब जगह आदर सम्मान तो मिला ही, लोगों ने अपनी संस्त्यायें जोड़कर हैं-उन्हें स्वेच्छया जन्मोत्सव भी ह्वै-आप जाने के पहले यदि वह कुछ ऐसे काम कर ले, जिनसे स्व-पर कल्याण हो सके तथा अपने स्वरूप को जान ले, पहचान ले, उसी में जम जाये, रम जाये, समा जाये तो उसका जीवन धन्य हो जाता है, सार्थक हो जाता है, सफल हो जाता है।

- सुखी

जीवन, पृष्ठ ११

एक सभासद ने जिज्ञासा प्रगट की - संगीत सुनाने के संदर्भ में गंधर्वसेना ने जिन देवदूत नारद, मंत्री बलि और मुनि विष्णुकुमार को याद किया, ये कौन हैं ?

उत्तर मिला - उज्जैनी नगरी में श्रीधर्मा नाम का राजा राज्य करता था। उसकी श्रीमती नाम की पटरानी थी। वह श्रीमती वास्तव में श्रीमती अर्थात् उत्तम शोभा सम्पन्न और महा गुणवती थी। राजा श्री धर्मा के बलि, बृहस्पति, नमुचि और प्रह्लाद - ये चार मंत्री थे। इन चारों में जैन साधुओं के प्रति इकतरफा द्वेष की भावना थी।

किसी समय जिनश्रुत के पारगामी महामुनि अकम्पन अपने सातसौ मुनि शिष्यों के साथ उज्जैनी के बाह्य उपवन में पहुँच कर विराजमान हुए ही थे कि समस्त नगर में पानी में तेल की भांति मुनिसंघ के आने की खबर फैल गई। उन मुनिराजों के संघ की वन्दना के लिए नगरवासी सागर की तरह उमड़ पड़े। महल पर खड़े राजा ने नगरवासियों की भारी भीड़ को उपवन की ओर जाता देख मंत्रियों से पूछा कि ये लोग असमय में कहाँ जा रहे हैं? चारों मंत्रियों में मुनियों के प्रति ईर्ष्याभावना तो थी ही, अतः तीन तो चुप ही रहे, बलि मंत्री ने उत्तर दिया कि ये लोग अज्ञानी जैन मुनियों की वन्दना को जा रहे हैं। उमड़ती भीड़ को जाता देख राजा श्रीधर्मा ने भी वहाँ जाने की इच्छा प्रगट की। मंत्रियों ने राजा को प्रथम तो वहाँ जाने से रोकने का प्रयास किया; परन्तु राजा ने उनकी बात नहीं मानी; क्योंकि वे मुनियों के प्रति मंत्रियों की अरुचिभावना को पहचानते थे। जब राजा स्वयं वन्दनार्थ वहाँ गये तो चारों मंत्री भी विवश होकर राजा के साथ गये। अकम्पनाचार्य को पहले से ही ऐसा कुछ आभास हो गया था कि यहाँ कुछ गड़बड़ हो सकती है, संघ पर उपसर्ग भी आ सकता है; अतः उन्होंने सबको मौन रहने का आदेश दे रखा था, परन्तु उससमय श्रुतसागर

मुनिराज वहाँ नहीं थे, वे आहारचर्या को गये थे, इस कारण उन्हें गुरु के आदेश का पता नहीं था। राजा के आने के समय शेष समस्त मुनिराज गुरु अकम्पनाचार्य की आज्ञा से मौन बैठे थे, इसकारण उससमय तो चारों मंत्री विवश होकर लौट आये। लौटकर आते समय उन्होंने रास्ते में श्रुतसागर मुनि को देख राजा के समक्ष ही उनसे वाद-विवाद प्रारंभ कर दिया; क्योंकि वे किसी भी तरह राजा को उनके विरुद्ध भड़काना चाहते थे। श्रुतसागर मुनि अपने नाम को सार्थक करनेवाले सचमुच श्रुत के सागर थे, जिनवाणी के मर्मज्ञ थे, अतः उन्होंने चारों मंत्रियों को निरुत्तर कर दिया। यहाँ तक तो कोई झंझट नहीं हुई, किन्तु श्रुतसागर ने उनके पूर्वभवों की चर्चा करके उन्हें भड़का भी दिया।

मुनि श्रुतसागर ने इस घटना को गुरु अकम्पनाचार्य को सुनाकर अपने अपराध का प्रायश्चित्त करने के लिए गुरु से निवेदन किया। आचार्य अकंपन ने बहुत दूरदर्शिता से विचार कर उन्हें प्रायश्चित्त स्वरूप उसी वाद-विवाद के स्थान पर प्रतिमावत निश्चल ध्यानस्थ रहने का आदेश दिया। तदनुसार मुनि श्रुतसागर वहाँ पहुँच कर ध्यानस्थ हो गये। बदले की भावना से वे चारों मंत्री उन्हें रात्रि में मारने आये; परन्तु जिनभक्त किसी देव द्वारा उन्हें वहीं कीलित कर दिया, बन्धनबद्ध कर दिया गया, यह घटना जब राजा को ज्ञात हुई तो राजा ने चारों मंत्रियों को न केवल नौकरी से, बल्कि देश से ही निकाल दिया।

उस समय हस्तिनापुर में महापद्म नामक चक्रवर्ती था। उसकी आठ कन्यायें थीं, जिन्हें आठ विद्याधर हरकर ले गये थे। शुद्ध शील की धारक वे कन्यायें जब वापिस लायीं गईं तो उन्होंने संसार से विरक्त होकर दीक्षा धारण कर ली। वे आठ विद्याधर भी संसार को असार जानकर तप करने लगे। इस घटना से प्रभावित होकर चरमशरीरी महापद्म चक्रवर्ती भी संसार से विरक्त हो गये और अपने बड़े पुत्र पद्म को राज्य देकर छोटे पुत्र विष्णुकुमार के साथ दीक्षा धारण कर ली। रत्नत्रय की उत्कृष्ट साधना के साथ उग्र तपश्चरण करने से वे अनेक ऋद्धियों के धारक भी हो गये।

देशकाल की परिस्थितियों से सुपरिचित वे चारों मंत्री उज्जैनी से निकाले जाने के बाद हस्तिनापुर में राजा पद्म की सेवा करने लगे। उस समय राजा पद्म बली मंत्री के सहयोग एवं मार्गदर्शन से दुर्भेद किले में स्थित राजा सिंहबल को पकड़ने में सफल हो गया, इसलिए राजा पद्म ने बलि को इच्छित वर माँगने का वचन दे दिया। बलि बहुत चतुर और राजनीतिज्ञ खिलाड़ी था; अतः उसने उस 'वचन' को धरोहर के रूप में राजा के पास ही रख दिया।

उज्जैनी से विहार करते हुए जब अकम्पनाचार्य का संघ हस्तिनापुर आया और चार माह के वर्षायोग में नगर के बाहर विराजमान हो गया तो बलि आदि मंत्री अपना भेद खुलने की शंका से भयभीत हो गये और उन्हें वहाँ से हटाने का उपाय सोचने लगे। एतदर्थ बली मंत्री ने राजा पद्म के पास जाकर अपनी धरी हुई 'वचन' रूप धरोहर के बदले में सात दिन का राज्य शासन मांग लिया। राजा पद्म मांगे 'वरदान' को देकर ७ दिन को अज्ञातवास में चले गये।

राज्याधिकार पाकर उन बलि आदि चारों मंत्रियों ने 'अकम्पनाचार्य आदि ७०० मुनिराजों' पर भारी उपद्रव किया। उसने चारों ओर से मुनियों को घेरकर तीखे पत्तों का घनीभूत धुँआ करवाया तथा चारों ओर जवारे (दूब) उगाने के लिए जौ आदि अनाज उगाया। इसकारण समस्त मुनि संघ ने यह संकल्प कर अवधि सहित सन्यास धारण कर लिया कि "जब उपसर्ग दूर हो जायेगा, तभी आहार-विहार करेंगे", उस समय मुनिराज विष्णुकुमार के गुरु मिथला नगरी में थे। दैवयोग से उनके अवधिज्ञान में हस्तिनापुर में अकम्पनाचार्य के संघ पर हो रहे भयंकर उपसर्ग की सारी घटना आ गई और उनके मुँह से निकल पड़ा कि - "आज अकम्पनाचार्य के संघ पर दारुण उपसर्ग हो रहा है।" पास ही में बैठे क्षुल्लक पुष्पदन्त ने वह बात सुनी तो उन्होंने पूछा - गुरुदेव ! इस उपसर्ग के निवारण का क्या उपाय है? आप मुझे बतायें और मेरा मार्गदर्शन करें कि मैं इस काम में क्या योगदान कर सकता हूँ?

उत्तर में गुरुजी ने कहा - विक्रियाक्रुद्धि के धारक मुनि विष्णुकुमार ही यह उपसर्ग दूर कर सकते हैं।

क्षुल्लक पुष्पदन्त ने तत्काल जाकर मुनि विष्णुकुमार को यह सब समाचार सुनाया और गुरु के कहे अनुसार उपसर्ग दूर करने की सामर्थ्य से अवगत कराया।

मुनि विष्णुकुमार को स्वयं ही ज्ञात नहीं था कि उन्हें - विक्रियाऋद्धि प्राप्त हो गई है। ज्ञानी संत लौकिक ऋद्धि-सिद्धि के लिए तप करते भी नहीं हैं, फिर भी तप का फल तो मिलता ही है। मुनि विष्णुकुमार ने ऋद्धि की परीक्षा हेतु अपनी भुजा फैलाकर देखी तो भुजा रुकावट बिना-निर्बाध पहाड़ों जैसी दीवारों को भी भेदती हुई बढ़ती ही चली गई। इससे उन्हें अपनी विक्रियाऋद्धि की प्राप्ति का विश्वास हो गया।

जिनशासन के भक्त, वात्सल्यमूर्ति मुनि विष्णुकुमार ने अपने पद भंग होने की परवाह न करके राजा पद्म के पास जाकर उससे कहा - राजा होकर भी यह क्या अनर्थ कर रखा है? ऐसा कार्य तो रघुवंशियों में कभी हुआ ही नहीं। यदि कोई दुष्ट जन तपस्वियों पर उपसर्ग करता है तो प्रथमतः उसे राजा को ही दूर करना चाहिए। हे राजन! जलती हुई अग्नि कितनी ही उग्र-ज्वलन्त क्यों न हो, जल के द्वारा तो शान्त हो ही जाती है न! यदि जल से ही अग्नि भभकने लगे तो अग्नि को बुझाने का अन्य क्या उपाय बाकी बचेगा? यदि राजा दुष्टों का दमन करने में समर्थ नहीं है तो राजनीति में उस राजा को दूँठवत् नाममात्र का राजा कहा है; इसलिए अविवेकी बलि मंत्री को यह दुष्ट कार्य करने से शीघ्र रोको। मित्र और शत्रुओं पर समभाव रखनेवाले मुनियों पर इसका यह द्वेष? शीतलस्वभावी साधुओं को संताप पहुँचाना और राजा द्वारा मूकदर्शक बने रहने का फल जानते हैं आप? अरे! अभी आपने साधुओं का आशीर्वाद ही देखा है, अभिशाप नहीं। यदि साधु - कदाचित् अपनी साधुता छोड़कर क्रोधित हो जाय तो भस्म भी कर देता है। यदि साधुओं पर अत्याचार हुआ तो कदाचित् साधु अग्नि के समान दाहक भी हो जाते हैं। इसलिए हे राजन! तुम्हारे ऊपर भी कोई वज्रपात न हो जाय, उसके पहले ही बलि के इस कुकृत्य के प्रति की जानेवाली अपनी उपेक्षा को दूर करो।

राजा पद्म ने नम्र होकर कहा - हे नाथ! मैंने बलि के लिए सात दिन का राज्य देने का वचन दे दिया

है। इस कारण यह मेरे अधिकार की बात नहीं है। हे भगवन् ! आप स्वयं ही इस उपसर्ग से साधुओं को बचाने का जो भी उपाय कर सकते हों, वह उपाय अवश्य करें। आपके प्रभाव एवं चातुर्य से बलि अवश्य ही आपकी बात स्वीकार करेगा।

राजा द्वारा असमर्थता व्यक्त करने पर मुनि विष्णुकुमार वेष बदलकर वामन के रूप में स्वयं बलि के पास गये और बलि से कहा - हे भले आदमी तुम अधर्म को बढ़ानेवाला यह निन्दित कार्य क्यों कर रहे हो? मात्र तप में ही लीन रहने वाले इन मुनियों ने तुम्हारा ऐसा क्या अनिष्ट कर दिया? जिससे तुमने उच्च होकर भी नीच की तरह यह कुकृत्य किया? यदि शान्ति चाहते हो तो शीघ्र ही इस उपसर्ग का निवारण करो।

बलि ने कहा - यदि ये मेरे राज्य से चले जाएँ तो ही उपसर्ग दूर हो सकता है, अन्यथा नहीं।

विष्णुकुमार मुनि ने कहा - ये सब ध्यानस्थ हैं, इसकारण ये बिना उपसर्ग हटाये एक पग (डग) भी नहीं चल सकते। ये - अपने शरीर का त्याग भले ही कर देंगे, पर अपने ध्यान को नहीं तोड़ सकते, अपने धर्म का उल्लंघन नहीं कर सकते, अतः इन्हें ठहरने के लिए तुम मुझे मात्र तीन डग (पग) भूमि देना स्वीकार करो! मैंने अभी तक किसी से कभी कोई याचना नहीं की, फिर भी इन मुनियों के निमित्त मैं तुमसे थोड़ी सी भूमि की याचना करता हूँ।

मुनि विष्णुकुमार की बात को सशर्त स्वीकृत करते हुए बलि ने कहा कि “यदि ये उस सीमा के बाहर एक डग का भी उल्लंघन करेंगे तो दण्डनीय होंगे, फिर इसमें मुझे दोष मत देना; क्योंकि लोक में मनुष्य तभी आपत्ति में पड़ता है जब वह अपने वचन से च्युत होता है।”

इसके बाद उस दुष्ट बलि को वश करने के लिए विष्णुकुमार मुनि ने विक्रियाक्रुद्धि से अपने शरीर को इतना बड़ा बना लिया कि वह ज्योतिषपटल को छूने लगा। फिर उन्होंने एक डग सुमेरु पर्वत पर रखी, दूसरी डग मानुषोत्तर पर्वत पर और तीसरी डग के लिए अवकाश न मिलने से आकाश में ही घूमती रही। उस समय मुनि विष्णुकुमार के प्रभाव से तीनों लोकों में क्षोभ मच गया। देवगण आश्चर्यचकित होकर ‘यह क्या’

‘यह क्या’? ऐसे शब्द बोलने लगे। गंधर्व देव अपनी-अपनी देवी पत्नियों के साथ उन मुनिराजों के समीप मनोहर गीत गाने लगे। देवगण कह रहे थे – हे प्रभो ! आपके तप के प्रभाव से आज तीनों लोक चल-विचल हो उठे हैं। यह सब देखकर ‘बलि’ भी घबड़ा गया, किंकर्तव्य विमूढ़-सा हो गया।

तदनन्तर धीर-वीर विद्याधरों और आकाश में विचरण करनेवाले चारण ऋद्धिधारक मुनियों ने जब मुनि विष्णुकुमार को शान्त किया तब धीरे-धीरे वे अपनी विक्रिया का संकोच कर स्वभावस्थ हो गये। उसी समय देवों ने शीघ्र ही मुनियों का उपसर्ग दूर कर दुष्ट बलि को बाँध लिया और उसे दण्डित कर देश से दूर निकाल दिया।

इसप्रकार जिनशासन के प्रति वात्सल्य प्रगट करते हुए मुनि विष्णुकुमार ने गुरु के पास जाकर प्रायश्चित्त द्वारा विक्रिया की शल्य को त्याग दिया और घोर तप द्वारा घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया।

जो मनुष्य विष्णुकुमार के धर्मवात्सल्य, अंकपनाचार्य की निश्चलता तथा श्रुतसागर के प्रायश्चित्त के आदर्श से, अपने परिणामों को निर्मल करता है, वह सातिशय पुण्य के साथ परम्परा मुक्ति को भी प्राप्त करते हैं।”

गम्भीर, विचारशील और बड़े व्यक्तित्व की यही पहिचान है कि वे नासमझ और छोटे व्यक्तियों की छोटी-छोटी बातों से प्रभावित नहीं होते, किसी भी क्रिया की बिना सोचे-समझे तत्काल प्रतिक्रिया प्रगट नहीं करते। अपराधी पर भी अनावश्यक उफनते नहीं हैं, बड़बड़ाते नहीं हैं, बल्कि उसकी बातों पर, क्रियाओं पर शान्ति से पूर्वापर विचार करके उचित निर्णय लेते हैं, तदनुसार कार्यवाही करते हैं और आवश्यक मार्गदर्शन देते हैं।

– इन भावों का फल क्या होगा, पृष्ठ-३८



उदारचरित्र, अत्यन्त लोकप्रिय यदुवंशियों में शिरोमणि वसुदेव ने विद्याधरों के कुल में उत्पन्न, बड़े-बड़े राजाओं की विभूति को तिरस्कृत करनेवाले वैभव सम्पन्न चारुदत्त को देख उनसे पूछा - “हे पूज्य ! आपके भाग्य और पुरुषार्थ को सूचित करने वाली ये सम्पदायें आपने किस तरह प्राप्त कीं? तथा यह बताइए कि यह प्रशंसनीय विद्याधरी गान्धर्वसेना आपके भवन में निवास करती हुई मेरे कानों में अमृत की वर्षा क्यों कर रही है ?

वसुदेव के द्वारा इसतरह पूछे जाने पर चारुदत्त बहुत ही प्रसन्न हुआ और आदर के साथ कहने लगा कि हे धीर! मैं तुम्हें अपना पूर्व वृत्तान्त कहता हूँ।

चम्पापुरी नगरी के सेठ भानुदत्त को पुत्र की प्रतीक्षा थी। एक बार उन्होंने चारणऋद्धिधारी मुनिराज से पूछा - मुनिराज ने उन्हें आश्वस्त किया कि - तुम्हें शीघ्र ही उत्तम पुत्र की प्राप्ति होगी और कुछ समय बाद ही मेरे रूप में उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई। उनके द्वारा मेरा नाम ‘चारुदत्त’ रखा गया। मेरे माता-पिता ने मेरे जन्म का बड़ा भारी उत्सव मनाया। ज्यों-ज्यों मैं बड़ा होता गया; मुझे अणुव्रतों की दीक्षा के साथ-साथ अनेक कलाओं की शिक्षा दी गई। ज्यों-ज्यों मैं कलाओं में कुशलता प्राप्त करता गया, त्यों-त्यों माता-पिता का हर्ष बढ़ता गया।

एक बार मैं अपने मित्रों के साथ क्रीड़ा करता हुआ रत्नमालिनी नदी के तट पर गया। वहाँ मैंने किनारे पर एक ऐसा स्थान देखा, जहाँ मेरे पहले कोई दम्पति पहुँचे थे; परन्तु वहाँ पहुँचने पर रास्ते में उनके पैरों के चिन्ह नहीं उछले थे। इसकारण मुझे किसी के द्वारा विद्याधर दम्पति के अपहरण होने की शंका हुई। मैं और आगे बढ़ा। वहाँ मैंने उस विद्याधर की सूनी रतिशैया देखी। थोड़ा और आगे बढ़ने पर एक वनप्रदेश

में वृक्ष पर वह विद्याधर बंधा देखा, उसके बन्धन काट कर मैंने उसे वृक्ष से छोड़ा तो छूटते वह बिना कुछ बोले उत्तर दिशा की ओर दौड़ा, जहाँ से उसकी पत्नी की रोने की आवाज आ रही थी। थोड़ी ही देर में शत्रु द्वारा हरण की गई अपनी पत्नी को वह छुड़ाकर ले आया और बड़े आदर के साथ मुझसे बोला – हे भद्र ! आपने हमारे प्राण बचाये, हम आपके इस उपकार को कभी नहीं भूल सकते हैं।

विद्याधर ने अपना परिचय देते हुए आगे कहा – “ मेरा नाम अमितगति है। शिवमन्दिर नगर निवासी राजा महेन्द्रविक्रम मेरे पिता हैं। धूमकेतु और गौरमुण्ड नामक विद्याधर मेरे मित्र हैं। एक बार मैं उन दोनों मित्रों के साथ हीमन्त पर्वत पर आया था। वहाँ एक हिरण्यरोम तापस की सुकुमारिका नाम की अति सुन्दर युवा पुत्री थी। मेरा सुकुमारिका के साथ विवाह हो गया। मुझे ऐसा लगा कि मेरा मित्र धूमकेतु भी इसे चाहता है; अतः मैं पत्नी की रक्षा में पूर्ण सजग एवं सावधान रहकर धूमकेतु के साथ विहार करता था; परन्तु एक दिन जब हम दोनों सो रहे थे, तब वह धूमकेतु मुझे वृक्ष पर कीलित करके मेरी पत्नी सुकुमारिका को हर ले गया। आपने वृक्ष से बंधे मेरे बन्धन काटकर मुझे छुड़ाया और मैं उस धूमकेतु से अपनी नवविवाहिता पत्नी को छुड़ाकर लाया हूँ। यह आपका मुझ पर बहुत बड़ा उपकार है, अतः आप मुझे सेवा का अवसर अवश्य दें।” ऐसा कह एवं सबतरह से सहयोग देने का संकल्प कर वह विद्याधर दम्पति आकाश मार्ग से अपने गन्तव्य स्थान की ओर चला गया।

“तरुण होने पर माँ के आग्रहवश मैंने अपने मामा की मित्रवती कन्या के साथ विवाह कर तो लिया। मुझे शास्त्र स्वाध्याय करने में विशेष रुचि होने से अपनी पत्नी में मुझे जरा भी रुचि नहीं थी। इस बात की चिन्ता मेरी माँ को अधिक रहा करती। मेरी माँ चाहती थी कि मैं सांसारिक राग-रंग में रमूँ। ऐसा न हो कि मैं मुनि होकर वनवासी बन जाऊँ। एतदर्थ उन्होंने मेरे काका रुद्रदत्त को मेरे साथ लगा दिया। मेरे काका रुद्रदत्त विषयों में आसक्त और सातों व्यसनों में पारंगत थे।

इसी चम्पानगरी में एक कलिंगसेना नाम की वेश्या थी। उसकी वसंतसेना नाम की सर्वांग सुन्दर नृत्य-गीत आदि कलाओं में कुशल नवयौवना पुत्री थी।

एक दिन वसन्तसेना का नृत्य होनेवाला था। काका के कहने से मैं भी काका के साथ नृत्यमण्डप में बैठा था। वह सुझयों की नोकों पर सूचिनृत्य करनेवाली थी। उस नृत्य में गाये जानेवाले गाने का मुझे ज्ञान था, अतः मैंने उसे पहले ही संकेत कर दिया। सूचिनृत्य के बाद उसने अंगुष्ठ नृत्य किया, उसका भी मुझे ज्ञान था। उसके लिए मैंने 'नापित' राग का संकेत कर दिया। इसी तरह उसने और भी अनेक नृत्य किए, उन सबके रागों का भी मुझे थोड़ा-बहुत ज्ञान होने से मैं उसे संकेत करता रहा। इससे वह मेरे नृत्यकला के राग-रागनी सम्बन्धी ज्ञान से प्रभावित होकर मेरे रूप और गुणों पर रीझ गई। उस समय तो मैं वापिस घर आ गया; परंतु उसने अपनी माँ से जाकर यह कह दिया कि 'वह मेरे बिना जीवित नहीं रह सकती। जबकि मैंने उसमें कोई रुचि नहीं ली थी।

वसन्तसेना की माँ ने बेटी की व्यथा देखकर मुझे उससे मिलाने के लिए मेरे काका रुद्रदत्त को राजी कर लिया। यद्यपि मुझे वैश्याओं के नृत्य-गीत में बिल्कुल भी आकर्षण व रुचि नहीं थी; किन्तु बचपन में अनेक कलाओं के साथ गीत-संगीत कला का भी मुझे ज्ञान मिला था; इसकारण किस नृत्य में कौन-सी राग-रागनी चलती है, इसका ज्ञान मुझे पूर्व से ही था। इसकारण उत्साह में आकर मैंने नृत्यमण्डप में नृत्य में बजाये जाने वाले राग-रागनी के संकेत कर दिये। मुझे क्या पता था कि इसका यह परिणाम होगा।

पूर्व नियोजित कार्यक्रम के अनुसार एक दिन काका रुद्रदत्त ने मार्ग में जाते समय मुझे वसन्तसेना के घर ले जाने के लिए उस नृत्यांगना की गली में मेरे आगे-पीछे दो उन्मत्त हाथियों को लगा दिया। उनसे प्राणों की सुरक्षा पाने के लिए न चाहने पर भी मुझे उस वैश्या के घर में प्रविष्ट होना पड़ा।

घर के अन्दर पहुँचते ही पहले से तैयार बैठी वसन्तसेना की माँ कलिंगसेना ने हम दोनों का खूब स्वागत किया। फिर पूर्व नियोजित योजना के अनुसार मेरे काका रुद्रदत्त और कलिंगसेना ने जुआ खेलना प्रारंभ किया। जुआ में मेरे काका रुद्रदत्त का उसने दुपट्टा तक जीत लिया। तब मुझसे न रहा गया और मेरे काका को हटाकर मैं स्वयं जुआ खेलने को उद्यत हुआ तो कलिंगसेना की जगह उसकी बेटी वसन्तसेना आ पहुँची;

फिर हम दोनों जुआ खेलते रहे। इसी बीच मुझे प्यास लगी तो उसने बुद्धि को मोहित करनेवाली कोई वस्तु पानी में मिलाकर मुझे पिला दी। उसके प्रति बुद्धि विमोहित हो जाने से मेरा उससे इतना अनुराग बढ़ गया कि मैं उसके घर बारह वर्ष रहा।

वृद्ध जनों की सेवा से पहले जो मेरे गुणों में वृद्धि हुई थी, उस तरुणी में विषयासक्ति से उत्पन्न हुए दोषों के कारण वे सब धूलधूसरित हो गये, सब मिट्टी में मिल गये। मेरे पिता सोलह करोड़ दीनारों के धनी थे। वह सब धन धीरे-धीरे वसंतसेना के घर आ गया। जब मेरी पत्नी मित्रवती के आभूषण भी आने लगे तब वसंतसेना की माँ कलिंगसेना से बोली - “हे बेटी! तू अपनी आजीविका की इस जघन्यवृत्ति को तो जानती ही है कि धनवान लोग ही हमारे प्रिय होते हैं। अपने धंधे में जिसका पूरा धन हमने खींच लिया हो, अब वह ईख के छिलके के समान छोड़ने योग्य होता है। आज चारुदत्त की भार्या ने अपने शरीर के आभूषण उतार कर भेजे थे, सो उसे देख मैंने करुणा करके वे आभूषण वापिस कर दिए हैं। अतः अब सारहीन (निर्धन) चारुदत्त का साथ छोड़ और नई रसीली ईख के समान किसी दूसरे धनवान मनुष्य का उपभोग कर!”

कलिंगसेना की बातें सुनकर वसंतसेना को बहुत दुःख हुआ, उसने माता से कहा - “माँ! तूने यह क्या कहा? कुमारकाल से जिसे स्नेह दिया; चिरकाल तक जिसके साथ जीवन समर्पित किया, अब मैं उसको छोड़कर साक्षात् धन कुबेर को भी स्वीकार नहीं कर सकती। प्राण जाने की कीमत पर भी मैं चारुदत्त को नहीं छोड़ सकती। अरे! उसके घर से आये करोड़ों दीनारों से तेरा घर भर गया। फिर भी तू उसे छोड़ने को कहती है? क्या सचमुच ‘स्त्रियाँ ऐसी अकृतज्ञ होती हैं?’ मैं तुझे ऐसा नहीं मानती थी।

हे माता! जो अनेक कलाओं का पारगामी है, अत्यन्त रूपवान है, समीचीन धर्म का ज्ञाता और पालन करने वाला है, त्यागी है, उदार है, उस चारुदत्त का त्याग मैं कैसे कर सकती हूँ?”

चारुदत्त ने आगे कहा - “इसप्रकार वसन्तसेना का विचार सुनकर उसकी माँ उसको मुझमें अति आसक्त जानकर उससमय तो कुछ नहीं कह सकी; किन्तु मन में हम दोनों को अलग करने का उपाय भी सोचती रही।

हम दोनों उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते - हर समय साथ-साथ रहते थे; इसकारण हमारा वियोग करने का अवसर नहीं मिलता था। एक दिन उसने किसी तंत्र/टोटका द्वारा हम दोनों को गहरी निद्रा में निमग्न करके मुझे घर से बाहर निकाल कर नाली में पटकवा दिया। निद्रा भंग होने पर जब मैंने स्वयं को नाली में पड़ा पाया तो मैं उसकी माँ की करामात समझकर अपने घर चला गया। मेरे पिता तब तक मुनि दीक्षा ले चुके थे। इसकारण मेरी माता और पत्नी दोनों बहुत दुःखी थे।

घर की आर्थिक स्थिति खराब तो हो ही चुकी थी, अतः माँ और पत्नी को आश्वस्त करके एवं धैर्य बँधाकर मैं मामा के साथ व्यापार हेतु देशान्तर गया। वहाँ भाग्य की प्रतिकूलता के कारण मैंने पत्नी के आभूषण बेचकर उस पूँजी से कपास खरीदा था, परन्तु उसमें आग लग गई। मैंने हिम्मत नहीं हारी, मामा को वहीं छोड़कर घोड़े पर सवार होकर पूर्व दिशा की ओर आगे बढ़ा तो रास्ते में घोड़ा मर गया।

वस्तुतः जब तक भाग्य साथ नहीं देता और पाप का प्रबल उदय चल रहा हो तो पुरुषार्थ कार्यकारी नहीं होता है। आगम में ठीक ही कहा है “किसी भी कार्य में जबतक भली होनहार न हो तब तक कार्य में सफलता नहीं मिलती।”

वहाँ से साहस जुटा कर व्यापार के लिए ही समुद्र यात्रा पर गया तो मेरा जल जहाज फट गया।

चारुदत्त ने आप बीती सुनाते हुए आगे कहा - “भाग्यवश एक काष्ठ का तख्ता पाकर मैं बड़े कष्ट से समुद्र पार कर जब राजपुर नगर आया तो वहाँ एक सन्यासी वेषधारी दुष्ट पुरुष से भेंट हो गई। पहले तो वह मुझे रसायन का लोभ देकर एक सघन अटवी में ले गया। मैं उसकी चालाकी भरी चाल को समझ न सका। उसने एक तूमड़ी देकर मुझे रस्सी के सहारे एक कुएँ में उतारा। नीचे पहुँच कर जब मैं तूमबी में रसायन भरने लगा तब पहले से ही वहाँ पड़े एक पुरुष ने मुझे सावधान किया। उसने कहा कि “हे भद्र ! यदि तू जीवित रहना चाहता है तो इस भयंकर रसपान को हाथ मत लगाना, अन्यथा इसके छूते ही तू मरणासन्न हो जायेगा।”

मैंने उससे पूछा - “आप कौन हैं? और यहाँ इस हालत में तुम्हें किसने पहुँचाया है?”

वह बोला - “मैं उज्जैनी का एक वणिक हूँ? मेरा जहाज फट गया था। मुझे एक साधु वेषधारी व्यक्ति ने इसी रसायन के लालच के चक्कर में डालकर मेरी यह हालत कर दी।

रसपान प्राप्त करने के लोभ में वह व्यक्ति यह विधि अपनाता है। उसने एक रस्सी में तूम्बी बाँधकर कुएँ में लटकायी और दूसरी रस्सी से मुझे कुएँ में उतार दिया। मैंने रसायन भरकर लूम्बी तैयार की तो उस सन्यासी ने रसायन की रस्सी तो खेंच ली और मेरी रस्सी काट दी। रसायन को मैंने भूल से चख लिया तभी से यहाँ पड़ा यह नारकी जीवन जी रहा हूँ और तिल-तिल गल-गल कर मर रहा हूँ। इसलिए मैंने तुम्हें सचेत किया है कि तुम रसायन को पीने की भूल मत करना, अन्यथा जो दशा मेरी हो रही है, वही हालत तुम्हारी हो जायेगी। देखो, उस सन्यासी ने तुम्हारी रस्सी भी काट दी है और तुम्हारे द्वारा रसभरी तूम्बी ऊपर खेंच कर उसका रस लेकर वह दुष्ट यहाँ से चला गया है।

अब मैं तुम्हें बाहर निकलने का उपाय बताता हूँ। एक गोह रसायन पीने आती है, जब वह वापिस ऊपर चढ़ने लगे तो तुम तुरंत उसकी पूँछ पकड़ लेना। इसतरह तुम इस मुसीबत से बच जाओगे। मुझे यह बात जब समझ में आई तब तक बहुत देर हो चुकी थी। उस समय मैं पूँछ पकड़ने की स्थिति में नहीं रहा था।

उस उज्जैनी के अंधकूप में पड़े मरणासन्न वणिक के द्वारा बताये उपाय से मैं (चारुदत्त) अपने प्राण बचाकर वहाँ से आगे बढ़ा तो मार्ग में उद्धत भैंसा एवं अजगर आदि अनेक उपद्रवों से उत्पन्न कठिनाइयों का सामना करते हुए मैं एक गाँव में पहुँचा।”

चारुदत्त ने आगे कहा - “मैंने वहाँ काका रुद्रदत्त को देखा। मैं कई दिन का भूखा-प्यासा था, रुद्रदत्त ने मेरी खाने-पीने की व्यवस्था कर मुझसे कहा - अब हम दोनों स्वर्णद्वीप चलकर वहाँ बहुत सारा धन कमाकर चम्पापुरी वापिस चलेंगे, जिससे अपने कुल की रक्षा हो सके।”

चारुदत्त काका रुद्रदत्त से सहमत होकर व्यापार के लिए वहाँ से चले और अनेक नदी-पर्वतों को पार कर टंकण देश में पहुँचे। वहाँ से आगे का मार्ग बहुत विषम था, अतः दोनों ने दो ऐसे बकरे खरीदे, जो उस मार्ग को पार करने में सक्षम थे।

आगे बढ़े तो एक नई समस्या सामने आई। भूमि पर चलकर आगे जाने का मार्ग ही नहीं था। तब रुद्रदत्त ने चारुदत्त से ऐसा निर्दयतापूर्ण खोटा प्रस्ताव रखा, जो चारुदत्त की अन्तरात्मा को स्वीकृत नहीं हुआ, फिर भी दुष्ट प्रकृति के रुद्रदत्त ने अपने और चारुदत्त के बकरे को मार कर उसके चमड़े से दो भाथड़ी बनाकर कहा कि हम दोनों इनमें बैठ जाँय। थोड़ी देर में पैनी चोंचवाले भारुण्ड पक्षी आयेंगे और हमारी भाथड़ियों को ले जाकर सुवर्णद्वीप में छोड़ देंगे।

चारुदत्त बकरों के मारने को सहमत तो हुआ ही नहीं, प्रतिकार भी किया, किन्तु जब चारुदत्त की समझ में यह बात आ गई कि - रुद्रदत्त बकरों को मारे बिना मानेगा नहीं तो उसने मरनासत्र बकरों को णमोकार मंत्र सुनाया, फलस्वरूप बकरों के प्राण शान्त परिणामों से छूटे।

उन बकरों की खाल से बनी भाथड़ियों में से एक में रुद्रदत्त स्वयं बैठ गया और दूसरी में चारुदत्त को बैठा दिया। कुछ समय पश्चात् दोनों को दो भारुण्ड पक्षी ले उड़े। चारुदत्त ने कहा - 'मेरी भाथड़ी का एक काना भारुण्ड पक्षी ले गया। अतः उसने मुझे स्वर्णद्वीप के बजाय रत्नद्वीप में ले जाकर छोड़ दिया। मैंने वहाँ रत्नों से देदीप्यमान स्वर्ग के समान एक बहुत सुन्दर द्वीप देखा। जिनमन्दिर भी देखा। जिनमन्दिर के समीप एक चारण ऋद्धिधारी मुनिराज के दर्शन हुए उनके दर्शन कर मुझे अपूर्व आनन्दानुभूति हुई। मैंने जिनमन्दिर के दर्शन कर तीन प्रदक्षिणायें दीं। ध्यान का समय पूरा होने पर मुनिराज मुझसे बोले - "हे चारुदत्त ! यहाँ तुम्हारा आगमन कैसे हुआ? घर पर कुशल मंगल तो है।"

मैंने आश्चर्यचकित होकर पूछा - 'हे नाथ ! आपके प्रसाद से सर्वकुशल मंगल है।' किन्तु मैं जानना चाहता हूँ कि आप मेरा नाम कैसे जानते हैं? मुझे तो ऐसा स्मरण ही नहीं आ रहा कि मैंने पहले भी आपके पावन दर्शन किए हैं ?

मुनिराज ने उत्तर दिया - "मैं वहीं अमितगति नाम का विद्याधर हूँ, जिसे चम्पापुरी में शत्रु ने कील दिया था और तुमने छोड़ा था। उसी घटना ने मेरे हृदय में वैराग्य का भाव भर दिया। फिर मुझे श्रुत के

अवलम्बन से भेदज्ञान और आत्मानुभूति प्राप्त हो गई। इससे पूर्व मेरी विजयसेना पत्नी से गन्धर्वसेना पुत्री और मनोरमा पत्नी से सिंहयश और वाराहग्रीव - ये दो पुत्र हुए थे।

एक दिन मैंने बड़े पुत्र को राज्यपद एवं छोटे को युवराज पद देकर मुनि दीक्षा ले ली।”

अमितगति विद्याधर मुनिराज ने पूछा - “हे चारुदत्त ! यह समुद्र से घिरा कुम्भकंटक नामक द्वीप है। यहाँ तुम कैसे आये?”

“मुनिश्री के पूछने पर मैंने वहाँ पहुँचने की आप बीती पूरी कथा कह सुनाई। उसी समय उन विद्याधर मुनिराज के दोनों पुत्र सिंहयश और वाराहग्रीव आकाश से नीचे उतरे और उनकी वंदना की।

उसी समय दो देव भी विमान से उतरकर आये और उन्होंने पहले मुझे (चारुदत्त) और बाद में मुनिराज को नमस्कार किया। विद्याधर कुमारों ने इस अक्रम का कारण पूछा - ‘हे देवो ! तुमने पहले श्रावक और बाद में मुनि को नमस्कार क्यों किया?’

प्रथम देव ने इसका कारण बताते हुए कहा - “चारुदत्त ने मुझे पूर्वपर्याय में णमोकार महामंत्र दिया एवं जिनधर्म का उपदेश दिया था, फलस्वरूप मैं बकरे की पशु पर्याय से देव हुआ। इसकारण ये मेरे साक्षात् गुरु हैं एवं इनका मुझ पर महान उपकार है।”

दूसरे देव ने कहा - “मैं एक परिव्राजक रूप धारी धोखेबाज के द्वारा रसायन के प्रलोभन से जिस रसकूप में गिरा दिया था, कालान्तर में उसीप्रकार की घटना से ये चारुदत्त भी उसी रसकूप में आ पड़े थे और मुझे मरणासन्न देख इन्होंने मुझे जिनधर्म का रहस्य समझाया था, जिससे मैंने जिनेन्द्र का स्मरण करते हुए समाधिपूर्वक प्राण त्यागे और मैं सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ हूँ। इसतरह चारुदत्त मेरे भी साक्षात् गुरु हैं।”

इन घटनाओं से यह सिद्ध होता है कि जो पापरूपी कुएँ में और दुःखद संसार सागर में डूबे हुए मनुष्यों के लिए धर्मरूपी हाथ का सहारा देता है, उसके समान संसार में परोपकारी और कौन हो सकता है? सचमुच यह ही परम उपकार है। ऐसा ही उपकार तीर्थंकर और गणधर देव भी करते हैं।

“लोक में एक अक्षर, आधे पद अथवा एक पद का ज्ञानदान देनेवाले गुरु को जो भूल जाता है, जब वह भी कृतघ्न है, पापी है तो धर्मोपदेश के दाता को भूल जानेवाले कृतघ्नीयों का तो कहना ही क्या है? नीति कहती है कि - “न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति - किए हुए उपकार को सज्जन कभी भूलते नहीं हैं।” उपकारी व्यक्ति की कृतकृत्यता प्रत्युपकार से ही होती है।

तात्पर्य यह है कि अपना उपकार करनेवाले व्यक्ति का अवसर आने पर प्रत्युपकार किया जावे। यदि कदाचित् उपकार करने की सामर्थ्य न हो तो उपकारी के प्रति विनम्र व्यवहार के साथ कृतज्ञता ज्ञापन तो करना ही चाहिए।” - ऐसा कह कर दोनों देव चले गये।

चारुदत्त ने अपनी आत्मकथा को आगे बढ़ाते हुए कहा - देवों के चले जाने पर मैंने भी मुनिराज को नमन किया और मैं विद्याधरों के साथ शिवमन्दिर नगर में गया और वहाँ सुख से रहने लगा।

एक दिन वे दोनों विद्याधर कुमार अपनी माता के साथ मेरे पास आये तथा मेरे लिए अपनी बहिन कुमारी गन्धर्वसेना को दिखाकर मेरे साथ इसप्रकार सलाह करने लगे कि एकसमय हमारे पिता राजा अमितगति ने अवधिज्ञानी मुनि से पूछा था कि - आपके दिव्यज्ञान में मेरी पुत्री गन्धर्वसेना का पति कौन दिखाई देता है ?”

मुनिराज ने कहा था - “गन्धर्वविद्या का पण्डित यदुवंशी राजा ही इस कन्या को गन्धर्वविद्या में जीतेगा तथा वही इसका पति होगा। आपके आने से वह घोषणा सत्य साबित हो रही प्रतीत होती है।

राजा अमितगति तो बाद में मुनि हो गये हैं; परन्तु अवधिज्ञानी मुनि की घोषणा के अनुसार वह कन्या गन्धर्वसेना मुझे सौंप दी गई। कन्या के दोनों भाइयों ने नाना रत्न और सुवर्ण आदि सम्पदा के साथ मुझे चम्पानगरी तक पहुँचाने की व्यवस्था कर दी। दोनों देवों ने भी उपकार के बदले मेरी सहायता की। तदनन्तर दोनों देव स्वर्ग चले गये और दोनों विद्याधर भी अपने स्थान पर गये। मैं अपने मामा, माता, पत्नी तथा अन्य बन्धुवर्ग से बड़े आदर से मिला। सबको संतोष हुआ और मैंने भी बहुत सुख का अनुभव किया।

‘वैश्या पुत्री वसन्तसेना अपनी माँ का घर त्यागकर मेरी अनुपस्थिति में भी मेरी माँ अर्थात् अपनी सास की सेवा करती रही तथा अणुव्रतों से विभूषित हो गई।’ – यह जानकर मैंने उसे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकृत कर लिया, अपना लिया। मैंने दीन व अनाथ लोगों को किमिच्छक दान दिया और समस्त कुटुम्बीजनों के लिए भी उनकी इच्छानुसार वस्तुएँ दीं।”

इसप्रकार चारुदत्त ने यदुवंशी वसुदेव से कहा – कि “हे यादव! विद्याधर कुमारी गंधर्वसेना का मेरे साथ जो पवित्र सम्बन्ध है तथा इस वैभव की मुझे जो प्राप्ति हुई है, वस्तुतः यह कन्या आपके लिए ही रखी गई थी, अतः इस भाग्यशालिनी कन्या ने आपको ही प्राप्त कर लिया है। इसे स्वीकार कीजिए।”

विशिष्ट ज्ञानी तपस्वियों ने बताया है कि ‘मेरा मोक्ष निकट है और तपधारण करने से इस भव के बाद मुझे स्वर्ग प्राप्त होगा; इसलिए अब मैं निश्चिन्त होकर तप ही धारण करूँगा।’ इसप्रकार वसुदेव चारुदत्त की उत्साहपूर्ण वार्ता सुनकर एवं गंधर्वसेना के पवित्र सम्बन्ध को जानकर बहुत सन्तुष्ट हुआ और चारुदत्त की प्रशंसा करते हुए बोले – “अहो ! आपका स्वभाव अत्यधिक उदार है आपका असाधारण पुण्यप्रताप भी प्रशंसनीय है। भली होनहार के एवं सही तत्त्वज्ञान के बिना ऐसा पौरुष और साहस संभव नहीं है। देव तथा विद्याधर भी ऐसे वैभव को प्राप्त नहीं हो सकते। अन्य साधारण की तो बात ही क्या है।

इसप्रकार आपस में एक-दूसरे के स्वरूप को जाननेवाले तथा त्रिवर्ग के अनुभव से प्रसन्न चारुदत्त आदि सुख से रहने लगे। चारुदत्त के जीवन का उतार-चढ़ाव एवं विचित्र घटनाओं को लक्ष्य में लेकर आचार्य कहते हैं कि – “हे राजन् ! हे वसुदेव ! धर्मात्मा मनुष्य भले ही पूर्व क्षणिक पापोदय के कारण कुछ काल के लिए निर्धन हो गया हो, समुद्र में गिर गया हो, कुएँ में भी उतर गया हो, किसी भी कठिनाई में पड़ गया हो – तो भी पापक्षीण होने पर धर्म के प्रभाव से पुनः सर्वप्रकार से सम्पूर्ण सुःख के साधनों से सम्पन्न हो जाता है। अतः जिनेन्द्र द्वारा निरूपित धर्म चिन्तामणि का सतत् संचय करो। ●



कुमार वसुदेव चम्पापुरी नगरी में अपनी पत्नी गन्धर्वसेना के साथ सुख से रहते थे। अष्टाह्निका पर्व में महोत्सव मनाने हेतु देवों और विद्याधरों के समूह नन्दीश्वर द्वीप और सुमेरुपर्वत आदि स्थानों पर तो जाने ही लगे। तीर्थकर भगवान वासुपूज्य के गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और निर्वाण कल्याणकों की पावनस्थली होने से चम्पापुरी में भी देव और विद्याधर आये। चम्पापुरी के नगरवासी भी अपने राजा के साथ नगर के बाहर निर्मित वासुपूज्य जिनमन्दिर में गये। कुमार वसुदेव भी गन्धर्वसेना के साथ रथ पर आरूढ़ हो भगवान जिनेन्द्र की पूजा करने निकले। जिनमन्दिर के सामने मातंग कन्या के वेष में नृत्य करती हुई एक श्यामल वर्णयुक्त सर्वांग सुन्दर चंचल युवती शोभा में श्री, घृति, बुद्धि, लक्ष्मी एवं सरस्वती देवियों के समान जान पड़ती थी। अनेक प्रकार के रस, अभिनय और नेत्रों द्वारा नाना हाव-भाव अभिव्यक्त करनेवाली उस नर्तकी को गन्धर्वसेना के साथ कुमार वसुदेव ने देखा। नर्तकी को देखते ही कुमार और नर्तकी परस्पर एक-दूसरे पर मोहित हो गये, आकर्षित हो गये। यह देख गन्धर्वसेना ने अपने नेत्र ईर्ष्या से संकुचित कर लिए तथा सारथी को आदेश दिया कि हे सारथी ! शीघ्र ही रथ को आगे ले चलो। आदेश पाते ही सारथी ने रथ को वेग से बढ़ाया और जिनमन्दिर जा पहुँचे। वहाँ भक्तिभाव से जिनेन्द्र के दर्शन-पूजन, सामायिक आदि सम्पूर्ण धार्मिक क्रियाएँ करके अन्त में चौबीस तीर्थकरों की स्तुति करते हुए उन्होंने कहा -

हे आदिनाथ भगवान ! आपने अनादिकालीन मोह का (मिथ्यात्व का) नाश किया है, अपने आनन्दमय त्रिकाल ज्ञायकस्वभावी निज कारणपरमात्मा का दर्शन कर, उसे जानकर उसे ही अपना लिया है, उसी में तन्मय हो गये हों एवं अपने रत्नत्रय स्वरूप को प्राप्तकर स्वयं कार्यपरमात्मा बन गये हो। मैं भी आपका पथानुगामी बनकर आप जैसा बनना चाहता हूँ।

हे अजितनाथ ! आपने निज आत्मा को जानकर ही क्रोध शत्रु को जीता है। निज आत्मा की पहचान कर, निज का ही ध्यान धर उत्तमक्षमा की प्राप्ति की है।

हे संभवनाथ ! आपने जगत को यह बताया है कि 'परमात्मा कोई अलग नहीं होते। यह आत्मा ही परमात्मा है।' जिसे आपके बताये इस सिद्धान्त का ज्ञान हो जाता है, उसे मान कषाय की उत्पत्ति ही नहीं होती है; क्योंकि छोटे-बड़े की भावना ही तो मान का आधार है और निज परमात्मा की साधना ही समस्त साधनाओं में सारभूत है।

हे अभिनन्दननाथ ! आपने बताया है कि निज आत्मा को ही आत्मा जानना और जड़ शरीर को आत्मा नहीं मानना ही सच्ची सरलता है, जो आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होती है। वह सरलता ही साधकों की संगिनी एवं आनन्द जननी है।

हे सर्वदर्शी सुमतिनाथ ! आपने बताया कि आत्मा आनन्द का रसकंद है, शक्तियों का संग्रहालय है, ज्ञान का घनपिण्ड है, निर्लोभ है, निर्दोष है, निष्क्रोध है, निष्काम है, परम पावन है, पतित पावन है। जो ऐसे आत्मा की साधना करता है उसे ही पर्याय में साध्यरूप गुण प्रगट होते हैं।

हे पद्मप्रभ ! जगत के मोही प्राणी हँसने में, परिहास करने में आनन्द मानते हैं, किन्तु आपने बताया है कि ये हास्य कषाय भी परिग्रह है। कषायें और पाप दुःखमय हैं। दुःख के कारण हैं। इनमें सुख कहाँ ? ऐसा बताकर आपने जगत को पतित पावन बना दिया है।

हे रतिरहित सुपाश्वनाथ ! लोक में उसे ही सच्चा पारस कहते हैं जो लोहे को भी पारस बना दे। वह रति-रागरहित आत्मा ही कारण परमात्मा है, जिसके आश्रय से वीतरागी कार्य परमात्मा बनते हैं।

हे अरतिरूप कलंक से रहित अकलंक चन्द्रप्रभ ! आपने बताया कि यदि स्वयं को न जाननेवाले अज्ञानीजन अंधयारी अमावस हैं तो ज्ञानी आत्मा प्रकाशपुंज पूर्णमासी हैं।

हे शोक रहित सुविधिनाथ ! आप सौ इन्द्रों द्वारा वन्दनीय हो, शिवमग बतानेवाले हो, सर्वगुण सम्पन्न हो, सर्वज्ञ हो, भ्रमरोग का नाश करनेवाले हो और संतोष धारण करनेवाले हो ।

हे अभय स्वभावी शीतलनाथ ! आप स्वयंभू हो, चन्दन की तरह शीतल हो, जो भक्तिभाव से आपका गुणगान करता है, उसके जीवन में कोई भ्रम नहीं रहता ।

हे समभाव स्वभावी श्रेय जिन ! आप सबके लिए समान रूप से श्रेयस्कर हैं ।

हे वेदविरहित वासुपूज्य ! अज्ञानी जीव स्त्री-पुरुष वेद की वासना में सुख मान रहे हैं, जबकि रति-राग तो आग है, वासना ज्वाला है, उसमें सुख कहाँ ?

हे वेदविरहित विमल जिन ! बस, जिनके विमल श्रद्धान में, ज्ञान में ध्यान में एक आत्मा ही बस रहा है, द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप का जिसे यथार्थ ज्ञान है । ऐसे विमल जिन आप हमारे ध्यान में विचरण करें ।

हे अनन्तनाथ भगवन्त ! तुम शिव कामनी के कंत हो, संसार-समुद्र के अन्त हो, तुम में अनन्त शक्तियाँ हैं, तुम स्वयं अखण्ड-अनन्त स्वरूप हो । जो आपके स्वरूप को ध्याते हैं, वे भी आप जैसे बन जाते हैं ।

हे सद्धर्ममय धर्मनाथ ! आप सद्धर्म के आधार हो । भवभूमि को त्यागकर भवजलधि से पार हो गये हो । हम भी आपके समान धर्माराधना करके आप जैसे बन जायें ।

हे शान्ति-कुन्थु-अरनाथ जिनेन्द्र ! आपने करोड़ों घोड़े, लाखों हाथी, हजारों रानियाँ महल, धन, धान्य आदि चक्रवर्ती जैसी सम्पदा को तृणवत् त्याग कर स्वयं मोक्ष की राह ली और दूसरों को भवपार करनेवाली देशना दी है ।

हे द्विपद त्यागी मल्लिनाथ ! आपने मनमल्ल का मर्दन कर नौकर-चाकर, दास-दासी का त्याग कर स्वयं स्वावलम्बी होकर और वस्तुस्वातंत्र्य का पाठ पढ़ा कर जगत को भी स्वावलम्बी बनना सिखाया है ।

हे चतुष्पदत्यागी मुनिसुव्रतनाथ ! आपने मन मल्ल का मर्दन कर हाथी, घोड़ा, रथ आदि का सर्वथा त्याग कर दिया तथा जगत के स्वतंत्र एवं क्रमबद्धपरिणामन को समझाया है । आपकी कैसे क्या स्तुति करें ?

हे यानत्यागी निजपदविहारी नमिनाथ ! वर्तमान में आप ही धर्मतीर्थ के प्रवर्तक हैं, आप धर्मधारी धर्ममय और धर्मात्मा हैं तथा आपने जगत को बताया है कि सभी आत्मा परमात्मा हैं। कोई किसी से कम नहीं है।

हे भावी तीर्थकर नेमिनाथ ! आप ऐसा जानकर कि 'प्रत्येक द्रव्य पर से पूर्णतः पृथक् है और अपने में त्रिकाल मगन है, शारीरिक पद्मासन आदि और चौकी-पटा आदि जड़ द्रव्यों के आसन-संस्तर आदि का आलम्बन त्यागकर स्वयं स्वाधीन हो गये हों और सबको यही सन्मार्ग दिखायेंगे।' आपको नमस्कार हो।

हे भावी तीर्थकर पार्श्वप्रभु ! आत्मा तो स्वभाव से त्रिकाल अचेलक ही है, वह तो वस्त्रादि धारण करता ही नहीं है और जो वस्त्रधारी शरीर है वह मैं हूँ नहीं - ऐसा जानकर आप स्वयं भी वस्त्रों के ग्रहण-त्याग के विकल्पों से शून्य होंगे और जगत को भी आत्म के अचेलक स्वभाव से परिचित कराकर पर्याय में अचेलक होने का यह अनुपम मार्ग बतायेंगे। धन्य हैं आप !

हे वर्तमान चौबीसी के अन्तिम तीर्थकर महावीर स्वामी ! आप जगत को यह बतायेंगे कि - "ये पुण्य-पाप के विकल्प जीवों को जगत में अटकाते हैं, ८४ लाख योनियों में भटकाते हैं। सुख-शान्ति का मार्ग पुण्य-पाप से परे है, पुण्य-पाप का प्रवाह तो संसार-सागर की ओर जाता है।" इस धर्म के मर्म को समझा कर आप जीवों को सन्मार्ग पर लगायेंगे, अतः प्रभो ! आप ही सच्चे सन्मतिदाता होंगे।

इसप्रकार चौबीस तीर्थकरों की स्तुति कर वसुदेव और गंधर्वसेना रथ पर सवार होकर पुनः चम्पापुरी में वापिस आये। नर्तकी पर आकर्षित होने के भावों को गंधर्वसेना ने परख लिया था, इसकारण वह वसुदेव से रूठ गई थी, किन्तु वसुदेव ने किसीतरह उसे मना लिया।

कुछ समय बाद उस नृत्य करनेवाली कन्या नीलयंशा के द्वारा भेजी गई एक वृद्धा विद्याधरी वसुदेव के पास आई, जब वे महल में एकान्त में अकेले बैठे थे। उसने आते ही प्रथम तो कुमार को आशीर्वाद दिया और फिर बोली - हे वीर ! मैं आपको विद्याधरों से सम्बन्धित कुछ ऐसी बातें बताना चाहती हूँ, जो संभवतः

आपके ध्यान में न हों। ऐसा कहकर उस वृद्धा विद्याधरी ने प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव से लेकर २१ वें तीर्थकर नमिनाथ तक की लम्बी परम्परा का संक्षिप्त परिचय देते हुए उस नीलयंशा से मिलने को किसी तरह उन्हें राजी कर लिया। अन्त में वसुदेव और नीलयंशा का विवाह हो गया और वे दोनों बहुत काल तक सुखपूर्वक रहे।

कुमार वसुदेव की कथा को आगे बढ़ाते हुए कहा कि नीलयंशा के साथ रहते हुए कुमार वसुदेव कामदेव और रति के समान सुख का अनुभव कर रहे थे। एक दिन महल के ऊपर बैठे कुमार ने लोगों का भारी कोलाहल सुनकर निकट बैठी प्रतिहारी से पूछा - “समस्त लोग किस कारण कोलाहल कर रहे हैं?”

प्रतिहारी ने कहा - “यह बड़ी अटपटी विचित्र कहानी है। आपके साथ शादी होने के पहले नीलयंशा के पिता सिंहदंष्ट्र ने अपनी बेटी नीलयंशा को राजा नील के बेटे नीलकंठ को देने की बात तय कर ली थी। तदनुसार उसने यह एतराज किया है कि जब यह तय हो गया था कि यदि हमारे-तुम्हारे बीच एक के बेटा एवं दूसरे के बेटी होगी तो हम अपने बेटे-बेटा के साथ ही शादी करेंगे तो फिर यह वचन भंग क्यों हुआ? इस बात का यह कोलाहल हो रहा है। नीलकंठ और सिंहदंष्ट्र के बीच साले-बहनोई का रिश्ता है, अतः उन्हें दक्षिण प्रान्तीय पूर्व परम्परानुसार बेटी माँगने का अधिकार बनता है। परन्तु सिंहदंष्ट्र ने अमोघवादी बृहस्पति नामक मुनिराज के कथनानुसार अपनी कन्या आपके लिए दी है। इसकारण सिंहदंष्ट्र एवं नीलकंठ के विद्याधरों ने यह कल-कल शब्द किया है।

बाद में वह तत्कालीन कोलाहल तो बन्द हो गया। कुमार वसुदेव और नीलयंशा बहुत काल तक परस्पर प्रेम से रहते हुए भौतिक सुख में मग्न भी रहे, किन्तु संसारी जीवों के सब दिन एक जैसे नहीं बीतते पुण्योदय कब पापोदय में पलट जाये, कोई नहीं कह सकता। किसी कवि ने कहा भी है ‘सबै दिन जात न एक समान।’ अतः मानव को अनुकूलता के समय आत्महित में प्रवृत्त रहना योग्य है। वसुदेव के साथ यही हुआ।

एक दिन रतिक्रीड़ा के बाद जब वह कदलीग्रह से बाहर निकले तो एक ऐसा मयूर देखा जो चित्र-विचित्र शरीर सहित मनोहारी था तथा केकावाणी बोल रहा था। नीलयंशा उसे देखकर कौतुकवश उसे पकड़ने के

लिए आगे बढ़ी कि मयूर वेशधारी उसी नीलकंठ विद्याधर ने उसका अपहरण कर लिया, जिसके साथ शादी होने की बात तय हुई थी। नीलयंशा के हरे जाने पर वसुदेव विह्वल होकर वन में घूमते रहे। एक दिन वह भूखे थे, इसलिए वे एक गोपों की बस्ती में गये। गोपों की स्त्रियों ने उन्हें भोजन देकर उनकी भूख-प्यास और परिश्रम की बाधा दूर की। दूसरे दिन प्रातः वसुदेव दक्षिण दिशा की ओर चल दिए। आते हुए उन्हें रास्ते में गिरतोट नगर मिला। उस नगर में उस समय विशिष्ट व्यक्तियों की उपस्थिति में समस्त दिशाओं में वेदपाठ की ध्वनि प्रसारित हो रही थी। वसुदेव ने उस धार्मिक वातावरण का कारण पूछा तो उत्तर में एक व्यक्ति ने कहा - “यहाँ एक वसुदेव नामक ब्राह्मण रहता है, उसके एक सोमश्री नामक कन्या है। वह अतिसुन्दर है और अनेक कलाओं में निपुण है। भविष्यवेत्ता ने कहा है कि जो इसे वाद-विवाद में जीत लेगा, वही इसका पति होगा।”

यह जानकर कुमार वसुदेव ने ब्रह्मदत्त नामक उपाध्याय के पास जाकर उनसे प्रार्थना की कि आप हमें वेद पढ़ा दीजिए।

ब्रह्मदत्त उपाध्याय ने कहा जो प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग - इन चार अनुयोगों के रूप में तीर्थकर भगवान ऋषभदेव के द्वारा दिव्यध्वनि हुई थी, उसी विषयवस्तु का निरूपण आचार्यों ने चार अनुयोगों के रूप में लिखा है।

उन जैन वेदों को भी ब्रह्मदत्त उपाध्याय ने कुमार वसुदेव को पढ़ाया। उन समस्त वेदों के ज्ञान से वसुदेव ने सोमश्री को जीतकर विधिपूर्वक उसके साथ विवाह किया।

जो अपने सौन्दर्य तथा गुण-सम्पदा के द्वारा विद्याधरों से भी श्रेष्ठ थे और जो सुबुद्धिरूपी स्त्री के सखा थे, ऐसे कुमार वसुदेव ने गिरितट नामक नगर में स्वतंत्र एवं जिनभक्त रमणी सोमश्री के साथ चिरकाल तक दाम्पत्य सुख भोगा।

इस नीलयंशा के कथन के माध्यम से ग्रन्थकर्ता ने कुमार वसुदेव और नीलयंशा के अनुराग को अकारण न बताकर पूर्व संस्कारवश एवं अमोघवादी मुनि की घोषणा के अनुसार बताया है, इसप्रकार के कथन से

उनके ऊपर लगनेवाले कामवासना के दोष को कम किया है, अन्यथा किसी कन्या के रूप और नृत्य-संगीत को देखकर उस ओर रागात्मक कामुक दृष्टि से देखना, सम्बन्ध बनाने का प्रयास करना क्या उचित कहा जा सकता है ? वह भी एक शादी-शुदा व्यक्ति के द्वारा। बस, पूर्व भव के संस्कार की बात से ही दोष किंचित् कम हुआ है।

अष्टाह्निका पर्व में कुमार वसुदेव द्वारा पूजा-पाठ सामायिक आदि धार्मिक क्रियाएँ कराकर तथा उनके निमित्त से चौबीस तीर्थकर की स्तुति का विशद वर्णन कराके पाठकों को पूजन-भक्ति करने का संदेश दिया गया है।

यहाँ जानने योग्य प्रयोजनभूत तीसरी बात यह है कि जो व्यक्ति चार अनुयोगों के स्वरूप को समझकर प्रतिकूल परिस्थितियों में भी समताभाव रखता है, उसे कषाय की मन्दता से विशेष पुण्यार्जन होता है, जिससे लौकिक सुख सामग्री स्वतः ही उसके चरणों में आ पड़ती है। अतः जबतक आत्मसन्मुखता का पूर्ण पुरुषार्थ संभव न हो तबतक तत्त्व के आश्रय और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के अवलम्बन से अपने परिणामों को संक्लेश रहित निर्मल रखना चाहिए।

एक समय वसुदेव गिरतट नगर के उद्यान में रात को विद्या सिद्ध कर रहे थे। कुछ धूर्तों ने विद्या सिद्ध करते हुए उनका अपहरण कर लिया और पिछले पहर में ही पालकी में बैठाकर कहीं दूर ले गये; परन्तु मौका मिलते ही वसुदेव उन धूर्तों की निगाह से बचकर वहाँ से निकलकर तिलवस्तु नामक नगर पहुँचे। वहाँ नगर के बाहर जो चैत्यालय था, उसके उद्यान में रात्रि के समय सो गये। वहाँ एक नरभक्षी सौदास नामक पुरुष ने आकर उन्हें जगाया और बोला - 'तू मेरे मुख में स्वयं आ पड़ा है।' और उसने उस वसुदेव की कसकर पिटाई की तो उसके प्रतिकार में वसुदेव ने भी उसकी उसीतरह कसकर पिटाई कर दी। उन दोनों में युद्ध हुआ; अन्त में वसुदेव ने उस राक्षस को मल्लयुद्ध में मार गिराया।

प्रातः नगरवासी वसुदेव को सम्मानपूर्वक रथपर बिठाकर नगर में ले गये और उनका उपकार माना;

क्योंकि उन्होंने नरभक्षी राक्षस को समाप्त करके पूरे नगर को उसके आतंक और भय से मुक्त कर बहुत बड़ी सुरक्षा प्रदान की थी।

यह नरभक्षी राक्षस वस्तुतः राक्षस नहीं, बल्कि मांसाहारी राजकुमार था, जो कलिंगदेश के कांचनपुर नगर के जितशत्रु राजा का सौदास नामक पुत्र था। सौदास को मयूर मांस प्रिय था, एक दिन उसके मांस को बिल्ली खा गई, रसोइया घबराया और वह दौड़ा-दौड़ा श्मशान में गया। वहाँ उसे किसी मृत बालक का शव मिल गया जो अभी-अभी कोई गड्ढे में गाड़कर गया था। रसोइये ने उस नरमांस को पकाकर सौदास को खिलाया। वह सौदास को प्रतिदिन के मांसाहार से अधिक स्वादिष्ट लगा। उसने रसोइए से प्रेम से पूछा तो रसोइए ने सब सच-सच बता दिया। बस, उस दिन से राजकुमार के आदेश से वह रसोइया नगर से प्रतिदिन एक बालक की चोरी कराकर उसका मांस पकाकर राजकुमार को खिलाने लगा। बाद में पिता जितशत्रु के मारे जाने से वह राजकुमार स्वयं राजा बन गया।

फिर तो उसके आतंक से खुलकर प्रतिदिन एक बालक की हत्या होने लगी, इससे सब नगरवासी दुःखी थे; जब कुमार वसुदेव ने उस नरभक्षी राजा का अन्त कर दिया तो सभी नगरवासियों ने राहत की सांस ली और वसुदेव का खूब स्वागत-सत्कार किया।

तदनन्तर वहाँ से चलकर कुमार वसुदेव ने अचल ग्राम के सेठ की वनमाला नामक पुत्री के साथ विवाह किया और वहाँ से वनमाला को साथ लेकर वे वेदसामपुर पहुँचे।

वीर वसुदेव ने वेदसामपुर के राजा कपिल को युद्ध में जीत कर उसकी कपिला नामक पुत्री के साथ विधिपूर्वक विवाह किया। कपिला से कपिल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

जिस नीलकंठ विद्याधर ने वसुदेव की पत्नी नीलयंशा का पहले अपहरण किया था, वह विद्याधर गन्धहस्ती (हाथी) का रूप धरकर वेदसामपुर आया। वसुदेव उसे बन्धन में डालने के लिए ज्यों ही उस पर आरूढ़ हुए त्यों ही गन्धहस्ती वसुदेव को हरण कर आकाश में ले गया। वसुदेव ने जब उसे मुट्टियों के प्रहार

(घूंसों) से खूब पीटा तो मार से घबराकर वह अपना गंधहस्ती का रूप छोड़कर नीलकंठ के असली रूप में प्रगट हो गया। वसुदेव धीरे-धीरे तालाब के जल में गिरे और बिना किसी आकुलता के अटवी से निकलकर शालगुहा नामक नगरी में पहुँचे। वहाँ उन्होंने पद्मावती से विवाह किया। वहाँ से जयपुर, जयपुर से भद्रिलपुर गये। भद्रिलपुर में चारुहासिनी नाम की कन्या थी, यह दिव्य औषधि के प्रभाव से सदा युवती रहती थी। वसुदेव ने उसके साथ विवाह किया। उससे उनके पौंड्रू नामक पुत्र हुआ।

एकदिन वसुदेव रात्रि में शयन कर रहे थे कि उनका वैरी अंगारक उन्हें हंस का रूप धारण कर हर ले गया। जब वे उससे छूटे तो धीरे-धीरे आकाश से गंगा नदी में गिरे। गंगा पार कर किनारे पर आये। सबेरा होते-होते वे इलावर्धन नामक नगर पहुँचे। वहाँ वे जिस सेठ की पैठी पर रात में रुके उसकी दुकान में भारी धन का लाभ हो गया। इसे वसुदेव का प्रभाव ही मानकर सेठ उन्हें सम्मानपूर्वक घर ले गया तथा अपनी रत्नवती कन्या प्रदान की। वसुदेव निरन्तराय भोगों को भोगते हुए कुछ दिन वहीं रहने लगे।

तत्पश्चात् वे एक दिन इन्द्रध्वज विधान (पूजन) देखने महापुर नगर गये। वहाँ उन्होंने नगर के बाहर बहुत से बड़े-बड़े महल देखकर पूछा - “ये महल किसने/कब बनवाए?”

उत्तर मिला - “राजा सोमदत्त ने अपनी कन्या के स्वयंवर में आनेवाले राजाओं को ठहरने के लिए बनवाए हैं; परन्तु उनकी पुत्री किसी कारण स्वयंवर की विधि से विरक्त हो गई, इसकारण वह स्वयंवर नहीं हो पाया। सभी आनेवाले राजागण वापिस विदा कर दिए गए।”

यह सुनकर कुमार वसुदेव उस कन्या के मन की स्थिति का विचार करते हुए इन्द्रध्वज विधान देखने को बैठे ही थे कि अंगरक्षकों के साथ राजा सोमदत्त की स्त्रियाँ वहाँ आ पहुँचीं। उन स्त्रियों में वह कन्या भी थी जिसने स्वयंवर निरस्त कराया था। वे सब स्त्रियाँ विधान देखकर थोड़े समय बाद ही जब उठकर जाने लगीं, तभी एक उन्मत्त हाथी बन्धन तोड़कर वहाँ उपद्रव करने लगा। लड़की तो भयाक्रान्त होकर मूर्च्छित ही हो गई, साथ ही अन्य स्त्रियाँ भी घबराने लगीं।

यह स्थिति देख कुमार वसुदेव ने उन्मत्त हाथी को अपने बाहुबल से मदरहित एवं नियंत्रित करके उन सब स्त्रियों की रक्षा की और मूर्च्छित लड़की को उठाकर सचेत करके सान्त्वना दी।

लड़की ने वसुदेव को देखा तो वह उन पर आकर्षित हो लम्बी सासों भरने लगी तथा लज्जा से झुक कर स्पर्शजन्य सुख को देनेवाले कुमार का हाथ पकड़ लिया।

उस समय तो वसुदेव यथास्थान चले गये और वृद्धा धाय के साथ कुल की बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ कन्या को लेकर अन्तःपुर चलीं गईं। एक दिन जब कुमार वसुदेव कुबेरदत्त सेठ के घर पत्नी रत्नवती के साथ बैठे थे कि राजा के यहाँ से द्वारपालनी ने आकर कहा - “यह तो आपको विदित ही है कि यहाँ के राजा सोमदत्त ने अपनी सोमश्री नामक कन्या के लिए स्वयंवर हेतु अनेक राजाओं को बुलाया था, जिसे सोमश्री ने कारणवश निरस्त कर दिया था।” स्वयंवर को निरस्त करने का कारण बताते हुए उसने कहा - “सोमश्री को जातिस्मरण हो जाने से पूर्वजन्म के संस्कार और स्मृति ताजी हो गई, जिसमें सोमश्री ने बताया कि वह देवी थी और उसके नियोगी देव आप थे। आप देव की पर्याय से पहले च्युत हुए। उस समय मेरी जिज्ञासा के समाधान में केवली की दिव्यध्वनि में आया कि जो हरिवंश के कुल में उत्पन्न होगा और हाथी से उत्पन्न भय को दूर करेगा वही मुझे पति के रूप में पुनः प्राप्त होगा। इसलिए हे सौम्य ! मेरी यह प्रार्थना है कि - आप सोमश्री का वरण कर उसके जीवन को कृतार्थ करें।” पूर्वभव का सम्बन्ध बतलाने पर वसुदेव ने सोमश्री के साथ विवाह कर लिया।

पुण्य-पाप का यह भी कैसा विचित्र खेल है। जहाँ पुण्योदय से एक से बढ़कर एक-अनेक कन्याओं से वसुदेव का विवाह होता रहा, साथ ही पापोदय से संकट भी कम नहीं आये। नाना उपद्रव हुए।

सोमश्री को भी कोई वैरी विद्याधर हर ले गया। जब कुमार जागे तो सोमश्री के वियोग में आकुल/व्याकुल होने लगे। जिस विद्याधर ने सोमश्री का हरण किया था, उसी की बहिन ने सोमश्री का रूप धर कर कहा कि “मैं यह तो हूँ”। उसे देख कुमार ने पूछा - प्रिये! बाहर किसलिए गई थी? उसने उत्तर दिया

– यों ही, गर्मी है न? उसे शान्त करने हेतु बाहर चली गई थी। वह प्रतिदिन कुमार के सो जाने के बाद अपने असली रूप में ही सोती थी, और उनके जागने के पहले जाग जाती थी। एक दिन कुमार उससे पहले जाग गये तो उन्होंने उसका असली रूप देख लिया। इससे वे आश्चर्य में पड़ गये। उन्होंने उसके जागने पर पूछा – तुम वास्तव में हो कौन ? और ऐसा क्यों किया?

उसने अपने पिता का परिचय देते हुये अपना नाम वेगवती बताया। और कहा – मेरा भाई मानसवेग सोमश्री को हरकर अपने नगर ले गया, वहाँ वह अभी भी शील का आलम्बन लेकर विद्यमान है। मानसवेग ने उसे राजी करने के लिए मुझे सौंपा था, पर मैं उसे तो राजी नहीं कर सकी, किन्तु आपसे प्रभावित होकर आपको पाने के लिए मैंने आपकी पत्नी का रूप धर लिया।”

इसप्रकार वेगवती ने कुमार वसुदेव को सब समाचार बताकर कुमार के निर्देशानुसार सोमश्री के पिता तथा भाई को भी उसके अपहरण के समाचार सुनाये। जिन्हें सुनकर वे सब खेद-खिन्न हुए। वेगवती भी कुमार के द्वारा पत्नीरूप में स्वीकृत होने से प्रसन्न हो गई।

एक दिन कुमार वेगवती के साथ सो रहे थे कि – वेगवती का भाई वही मानसवेग विद्याधर कुमार वसुदेव को सोते में ही हरकर ले गया। जागने पर कुमार वसुदेव ने उसकी बहुत पिटाई की। भयभीत होकर उसने वसुदेव को गंगा नदी में गिरा दिया। संयोग से वे नदी में साधना कर रहे एक विद्याधर के कंधे पर गिरे। उनके गिरते ही उस साधना में लीन विद्याधर की मनोवांछित विद्या सिद्ध हो गई। विद्या सिद्ध होने पर – वह विद्याधर तो वसुदेव को प्रणाम कर उनका आभार मानता हुआ चला गया; परन्तु विद्याधर कन्या उन्हें वहाँ से विजयार्द्ध पर्वत पर ले गई। वसुदेव के वहाँ पहुँचते ही वहाँ के विद्याधरों ने पाँच रंगों के पुष्पों की वर्षाकर उनका खूब स्वागत किया और मदनवेगा नाम की कन्या से उनका विवाह कर दिया। वसुदेव वहाँ भी बहुत काल तक सुखपूर्वक रहे। पूर्व पुण्योदय से मदनवेगा के साथ सुख से समय बिताते हुए कुमार वसुदेव ने मदनवेगा की सेवा से प्रसन्न होकर कहा – मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। जो वर माँगना हो माँगो।

मदनवेगा ने विद्याधर राजा त्रिशिखर द्वारा कैद किए गये पिता को बंधन से छुड़ाने का वर माँगा।

कुमार वसुदेव के पिछले जीवन के उतार-चढ़ाव एवं संघर्ष और उसमें सफलताओं का इतिहास तो हम पिछले छः सर्गों में पढ़ते ही आ रहे हैं। इस सर्ग में भी पद्मावती, चारुहासनी, रत्नवती, सोमश्री, वेगवती और मदनवेगा से विवाह और मदनवेगा के भाई दधिमुख द्वारा अपने पिता को बन्धन से छुड़ाने के लिए जो वसुदेव से प्रार्थना की गई और वसुदेव ने तदनुसार मदनवेगा के पिता को छुड़ाने का जो उद्यम किया, इन सबका ज्ञान भी हुआ। ●

यदि एक इन्जीनियर भूल करेगा तो कोई बड़ा अनर्थ होने वाला नहीं है, उसकी भूल से कुछ मकान, पुल या बांध ही ढहेंगे, एक डॉक्टर भूल करेगा तो भी कोई बड़ी हानि नहीं होगी, केवल थोड़े से बीमार ही परेशान होंगे, एक मैनेजर भूल करेगा तो कोई कलकारखाना या मिल ही घाटे में जायेगा और कोई सी.ए. भूल करेगा तो थोड़ा-बहुत हिसाब ही गड़बड़ाएगा; परन्तु यदि एक अध्यापक भूल करेगा तो पूरे राष्ट्र का ढांचा ही चरमरा जायेगा; क्योंकि अध्यापक भारत के भावी भाग्य-विधाताओं के चरित्र का निर्माता है, कोमलमति बालकों में नैतिकता के बीज बोनेवाला और अहिंसक आचरण तथा सदाचार के संस्कार देनेवाला उनका गुरु है। अतः उसे न केवल प्रतिभाशाली, बल्कि सदाचारी और नैतिक भी होना चाहिए।

धर्म के क्षेत्र में तो यह नीति और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि एक धर्मोपदेशक के द्वारा, भय, आशा, स्नेह, लोभवश या अज्ञानता से मिथ्या उपदेश दिया गया तो मानव जीवन ही निरर्थक हो जायेगा, भव-भव बिगड़ जायेंगे।

- संस्कार, पृष्ठ-३१, आठवाँ



जिनधर्म उपासक मोक्षप्राप्त तो करता ही है; किन्तु जब अपने सम्यक् पुरुषार्थ की अपूर्णता के कारण मुक्ति का लाभ नहीं ले पाता, तब तक संसार में भी अपने जिनधर्म की आराधना से प्राप्त पुण्यप्रताप से लौकिक अनुकूलतायें एवं मनोवांछित कामों में सफलता प्राप्त करता है।

नमि के वंश में अरिंजयपुर का एक मेघनाद नामक राजा हुआ। उसके एक पद्मश्री नाम की कन्या थी। उस कन्या के विषय में निमित्त ज्ञानी ने बताया कि - 'यह चक्रवर्ती की पत्नी होगी।' जबकि बज्रपाणि राजा इस कन्या के साथ शादी करने की याचना मेघनाद से अनेक बार कर चुका था। जब उसे निराश होना पड़ा तो वह नाराज हो गया। क्रोधित होकर युद्ध किया; परन्तु युद्ध में जीतना उसके वश की बात नहीं थी, इस कारण वह वापिस चला गया।

यद्यपि पद्मश्री के भविष्य की घोषणानुसार हस्तिनापुर नगर में कौरववंश में उत्पन्न हुआ कार्तिकेय का पुत्र सुभौम चक्रवर्ती ही पद्मश्री का पति हुआ; परन्तु परशुराम के पिता तपस्वी जमदाग्नि की कार्तिकेय ने कामधेनु के लोभवश मार डाला था, इसकारण परशुराम ने क्रोधवश पिता का घात करनेवाले कार्तिकेय को मार डाला फिर भी उसका क्रोध शान्त नहीं हुआ। इसलिए उसने सारी पृथ्वी को क्षत्रिय रहित करने की चोटी में गाँठ लगाकर प्रतिज्ञा कर ली।

कार्तिकेय की पत्नी तारा गर्भवती थी, उसकी कूँख में ही भावी चक्रवर्ती सुभौम पल रहा था। उसकी सुरक्षा हेतु तारा कौशिक ऋषि के आश्रम में जा पहुँची और वहाँ सुभौम उत्पन्न हुआ। आगे चलकर उसने परशुराम का वध करके क्षत्रियों को निर्भय तो किया ही, पद्मश्री का पति भी सुभौम ही बना। परशुराम ने अपनी प्रतिज्ञानुसार सात बार क्षत्रियवंश को निर्मूल करने का प्रयत्न किया था; परन्तु ऐसी प्रतिज्ञाएँ करना

पागलपन ही है; क्योंकि जब परमाणु-परमाणु में प्रतिसमय होनेवाला परिणामन स्वतंत्र है तो इतना बड़ा परिवर्तन करना मिथ्या अहंकार ही है।

जब सुभौम चक्रवर्ती बना तो बदले की भावना से उसने भी सम्पूर्ण ब्राह्मण वर्ग को इक्कीस बार नष्ट कर पृथ्वी को ब्राह्मण रहित करने का असफल प्रयत्न किया। चक्रवर्ती सुभौम साठ हजार वर्ष जीवित रहा और वृथा कर्तृत्व के मिथ्या अहंकार और भोगप्रधान चक्रवर्ती पद रहते हुए ही मरण को प्राप्त होने से सातवें नरक में गया।

दधिमुख ने वसुदेव से आगे कहा - “राजा मेघनाद की संतति में आगे चलकर छठवाँ राजा बलि हुआ। राजा बलि विद्याबल में प्रवीण था और तीन खण्ड का स्वामी अर्द्धचक्री (प्रतिनारायण) था। उसी समय बलभद्र के रूप में नन्द और नारायण के रूप में पुण्डरीक हुए। इन्हीं दोनों के द्वारा बलि मारा गया। बलि के वंश में सहस्रग्रीव, पंचशत ग्रीव और द्विशतग्रीव आदि बहुत से विद्याधर राजा हो गये। उनमें एक विद्युद्वेग नामक राजा हुए, वे ही हमारे पिता एवं आपके श्वसुर हैं।

नमस्तिलक नगर का राजा त्रिशिखर अपने सूर्यक नामक पुत्र के लिए हमारी बहिन मदनवेगा को मांग चुका था; परन्तु वह इसे पा नहीं सका, इसकारण वैर रखता था। एक दिन अवसर पाकर युद्ध छेड़कर उसने हमारे पिता को कारागृह में बन्द कर दिया। अब हमारे सौभाग्य से आप हमें सुलभ हो गये हैं, अतः आप शीघ्र ही हमारे पिताश्री को मुक्त करायें। सुभौम चक्रवर्ती ने जो हमें अस्त्र-शस्त्र दिए थे, उन्हें आप ग्रहण कीजिए।”

इसप्रकार दधिमुख के कहे वचन सुनकर प्रतापी वसुदेव ने श्वसुर विद्युतवेग को छोड़ने के लिए विचार किया। चण्डवेग ने युवा वसुदेव को बहुत से देवों द्वारा रक्षित विद्या अस्त्र प्रदान किए।

उस समय बल के अभिमान में त्रिशिखर स्वयं ही सेना के साथ चण्डवेग के नगर आ पहुँचा। ‘जिसे जाकर बाँधना था, वह स्वयं ही पास आ गया’ यह विचारकर सन्तुष्ट होते हुए वसुदेव विद्याधरों के साथ

बाहर निकले। त्रिशिखर और वसुदेव के मध्य भयंकर युद्ध हुआ। युद्धस्थल में धीरता और शूरवीरता से वसुदेव चतुरंग सेना के साथ बहुत काल तक युद्ध करते रहे। युद्ध करते-करते जब त्रिशिखर स्वयं वसुदेव के सामने आया तो सभी तरह के अस्त्र-शस्त्रों से भयंकर युद्ध हुआ। अन्ततः त्रिशिखर के प्राणान्त होते ही समस्त सेना भाग गई और वसुदेव कारागृह से अपने स्वसुर विद्युत्वेग को छुड़ाकर अपने नगर वापिस आ गये।

कुमार वसुदेव और मदनवेगा से कामदेव के समान सुन्दर अनावृष्टि नामक नीतिज्ञ और बलवान पुत्र उत्पन्न हुआ। एक दिन अपनी-अपनी पत्नियों के साथ अनेक विद्याधर सिद्धकूट जिनालय की वन्दना करने के लिए गये, उनके साथ कुमार वसुदेव भी मदनवेगा के साथ वहाँ पहुँचे। वन्दनार्थ गये विद्याधर जिनेन्द्र भगवान की पूजा तथा प्रतिमागृहों की वन्दना कर यथायोग्य स्थान बैठ गये। विद्युद्वेग भी भगवान की पूजा कर अपने निकाय के लोगों के साथ बैठ गया। तदनन्तर वसुदेव ने मदनवेगा से विद्याधर निकायों का परिचय पूछा और मदनवेगा एक-एक स्तम्भ के सहारे बैठे अनेक विद्याधर निकायों का संक्षिप्त परिचय कराते हुए यथास्थान बैठ गई।

एक दिन कुमार वसुदेव ने किसी कारणवश मदनवेगा से 'आओ वेगवती !' कह दिया। इससे मदनवेगा रुष्ट होकर घर के अन्दर चली गई। उसी समय त्रिशिखर विद्याधर की विधवा पत्नी शूर्पणखी मदनवेगा का रूप धरकर तथा अपनी प्रभा से महलों को एकदम प्रज्वलित कर छल से वसुदेव को हर ले गई। वह उसे आकाश से नीचे गिराना ही चाहती थी कि नीचे आकाश में अकस्मात आता हुआ - कुमार वसुदेव का वैरी मानसवेग विद्याधर उसे दिखा। अतः वह कुमार को मार डालने हेतु मानसवेग को सौंपकर चली गई। मानसवेग ने कुमार को आकाश से छोड़ा तो वे नीचे एक घास के ढेर पर गिर गये। वहाँ के मनुष्यों द्वारा जरासंध के यश को सुनकर कुमार समझ गये कि यह राजगृह नगर है। अतः उन्होंने संतोष की सांस ली और वे नगर में चले गये। राजगृह नगर में कुमार ने पुण्ययोग से सहज प्राप्त एक करोड़ सुवर्ण मुद्राओं को दीन-दुखी जीवों में वितरित करके 'दानशील' होने का यश प्राप्त किया।

निमित्त ज्ञानियों ने जरासंध को बताया था कि जो आपके नगर से ही एक करोड़ सुवर्ण मुद्रायें प्राप्त कर

वहीं नगर में बाँटेगा, वह तुम्हें मारनेवाला पुत्र उत्पन्न करेगा। निमित्त ज्ञानियों के कहे अनुसार वहाँ ऐसे व्यक्ति की खोज हो ही रही थी। इसकारण वसुदेव पकड़ लिए गये और उन्हें तत्काल प्राणान्त करने की भावना से एक चमड़े की भाथड़ी में बंद कर पहाड़ की चोटी से नीचे गिरा दिया।

कहते हैं पुण्यात्मा कहीं भी जाय, यदि उसे एक मारता है तो दूसरा बचाने वाला भी मिल ही जाता है, अतः सदैव पुण्य कार्य करते ही रहना चाहिए और पापों से सदैव दूर रहना चाहिए। एतदर्थ आत्मा-परमात्मा का ध्यान ही एक मात्र वह उपाय है, जिससे जीव लोक/परलोक में सुखी रह सकता है।

कुमार वसुदेव नीचे गिरने ही वाले थे कि अकस्मात् वेगवती ने वेग से आकर उन्हें थाम लिया। जब वेगवती उन्हें कहीं ले जाने लगी तो वे मन में ऐसा विचार करने लगे कि देखो! जिसप्रकार भारुड़ पक्षी चारुदत्त को हरकर ले गया था, उसीप्रकार मुझे यह हरकर कहीं ले जा रही है। न जाने अब क्या होनेवाला है?

कुमार वसुदेव को संसार असार दिखने लगा। वे सोचते हैं - “ये बन्धु-बान्धवों के सम्बन्ध, ये भोग सम्पदायें दुःखदायक हैं और यह सुन्दर कान्तियुक्त शरीर का मोह भी दुःखद ही है, फिर भी मेरे जैसे मूर्ख प्राणी इसके राग-रंग में उलझे हुए हैं, इन्हें सुखद मान बैठे हैं। जीव अकेला ही पुण्य-पाप करता है, अकेला ही सुख-दुःख भोगता है। अकेला ही पैदा होता है और मरता है, फिर भी आत्मीयजनों के राग में अटका रहता है, जो आत्महित में लग गये हैं। जो भोगों को त्याग कर मोक्षमार्ग में अग्रसर हो गये हैं, वे ही धीर-वीर मनुष्य सुखी हैं।

इसप्रकार चिन्तन में डूबे वसुदेव को वेगवती ने पर्वत तट पर उतारा। पति को देख वेगवती चिरवियोग का स्मरण कर विलख-विलख कर रोने लगी। तदन्तर वसुदेव के द्वारा कुशलक्षेम पूछने पर प्रिया वेगवती ने पति के हरे जानेपर अपने घर जो दुःख उठाये, वे सब कह सुनाये। उसने कहा कि “मैंने आपको विजयार्द्ध की दोनों श्रेणियों में खोजा, अनेक वनों एवं नगरों में देखा तथा समस्त भरत क्षेत्र में चिरकाल तक ढूँढा, परन्तु आप नहीं मिले।”

बहुत घूमते-फिरने के बाद मैंने मदनवेगा के पास आपको देखा तो यह विचार किया कि यहाँ रहते हुए

– भले ही आपके साथ वियोग रहे, आपके दर्शन तो पाती रहूँगी। इसी विचार से मैंने यहाँ अलक्षित रूप से रहना चाहा; परंतु त्रिशिखर की भार्या शूर्पणखी मदनवेगा का रूप धरकर आपको मारने की खोटी नियत से आकाश में ले गई। जब आप उसके द्वारा पर्वत की चोटी से नीचे गिराये जा रहे थे कि मैंने बीच में ही आपको झेल लिया।” इसप्रकार वेगवती से अपने ऊपर घटित घटना जानकर वसुदेव कुछ समय के लिए वेगवती के साथ ही सुख से रहे।

एक दिन वसुदेव ने नागपाश से बंधी हुई एक सुन्दर कन्या को देखा। उसे बन्धन में देख उनका हृदय दया से द्रवित हो गया और उन्होंने उसे बन्धन से मुक्त कर दिया। बन्धन से छूटते ही उस कन्या ने वसुदेव को नमस्कार किया और कहा कि – हे नाथ ! आपके प्रसाद से मेरी विद्या सिद्ध हो गई। मैं दक्षिण श्रेणी पर स्थित गगनवल्लभ नगर की रहनेवाली राजकन्या हूँ। मेरा नाम बालचन्द्रा है और मैं विद्युद्रष्ट्र के वंश में उत्पन्न हुई हूँ। मैं नदी में बैठकर विद्या सिद्ध कर रही थी कि एक शत्रु विद्याधर ने मुझे नागपाश में बांध दिया और आपने मुझे उस बन्धन से मुक्त किया है।

हमारे वंश में पहले भी एक केतुमती कन्या हो गई है, उसे भी मेरे ही समान पुण्डरीक नामक अर्द्धचक्री ने अचानक आकर बन्धन से मुक्त किया था। वह जिसप्रकार निर्विरोध रूप से उस अर्द्धचक्री की पत्नी हो गई थी, उसी प्रकार मैं भी निश्चित रूप से आपकी पत्नी होनेवाली हूँ। हे नाथ ! आप विद्याधरों के लिए अति दुर्लभ इस विद्या को ग्रहण कीजिए।”

कन्या के इसप्रकार कहने पर कुमार वसुदेव ने कहा – “मेरी इच्छा है कि तुम वह विद्या वेगवती को दे दो।”

कुमार वसुदेव की आज्ञा पाकर उसने ‘तथास्तु’ कह – वेगवती के लिए वह विद्या दे दी और आकाश में उड़कर गगनवल्लभ नगर को चली गई।

आचार्य कहते हैं कि जिस व्यक्ति ने सत्कर्म करके पुण्यार्जन किया है, उसके ही लौकिक-पारलौकिक मनोरथ पूर्ण होते हैं। अतः जिनशासन के अनुसार सभी को सदाचारी जीवन जीते हुए वीतराग धर्म की आराधना करना ही चाहिए।



एक वैजयन्त नाम के राजा थे। उनकी रानी का नाम सर्वश्री था। इनसे संजयन्त और जयन्त नामक पुण्यवान और पवित्रता के पुंज दो पुत्र हुए। एक समय विहार करते हुए वहाँ स्वयंभू तीर्थंकर का समोशरण आया। उनसे धर्मश्रवण कर पिता वैजयन्त एवं संजयन्त और जयन्त दोनों पुत्रों ने दीक्षा धारण कर ली। वे तीनों अपने गुरु आचार्य पिहिताश्रव के साथ विहार करते थे। एक दिन वैजयन्त मुनिराज को केवलज्ञान हो गया। उनके केवलज्ञान कल्याणक के उत्सव में जब चारों निकाय के देव भगवान वैजयन्त की वन्दना कर रहे थे तभी धरणेन्द्र की भक्तिभावना को देख जयन्त मुनि ने धरणेन्द्र होने का निदान किया और वे अपने निदानबंध के अनुसार धरणेन्द्र हो गये।

किसी समय जयन्त के बड़े भाई संजयन्त मुनि श्मशान में सात दिन का प्रतिमायोग लेकर ध्यानस्थ थे। संयोग से विद्युद्रंष्ट कहीं से लौटकर वहाँ से निकला तो उसकी दृष्टि तद्भव मोक्षगामी संजयन्त मुनि पर पड़ी। पूर्व वैर के कारण कुपित होकर वह उन्हें वहाँ से उठा लाया और भरतक्षेत्र के उस पर्वत पर ले गया जहाँ पाँच नदियों का संगम था। अपने अधीनस्थ विद्याधरों को किसी तरह संजयन्त मुनि के विरुद्ध भड़का कर मुनि हत्या के लिए प्रेरित कर दिया, जिससे उन्होंने मुनि संजयन्त को मार डालने का प्रयत्न किया; किन्तु वे तो चरमशरीरी थे, उन्हें कौन मार सकता था। उनका तो केवलज्ञान प्राप्त करने एवं मुक्त होने का समय आ गया था, अतः वे तो जीवन के अन्तिम समय में स्वरूप में ध्यानस्थ हो केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो गये।

केवली संजयन्त के निर्वाण होने पर उनके निर्वाण का उत्सव एवं पूजा के लिए इन्द्र एवं देव आये। जयन्त का जीव जो निदानवश धरणेन्द्र हुआ था, वह भी आया और वैरी विद्युद्रंष्ट को देख जान से मार डालने को तैयार हुआ ही था कि उसी समय लान्तव इन्द्र ने आकर रोका और कहा - “हे धरणेन्द्र ! मैं तुम्हें अपने आपस में उत्पन्न हुए वैर के बारे में बताता हूँ; तुम ध्यान से सुनो! मैं (लान्तव इन्द्र), तुम (धरणेन्द्र), विद्युद्रंष्ट

और संजयन्त - हम चारों वैर बांधकर संसार में अब तक भटकते रहे हैं; अब सौभाग्य से हम चारों जिनागम के शरण में आ गये हैं। संजयन्त तो मुनि होकर केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो ही गया है। मुझे और तुम्हें भी पुण्योदय से स्वर्ग प्राप्त है। यद्यपि हम देवगति में संयम धारण नहीं कर सकते; फिर भी जिनागम के वस्तुस्वरूप का अवलम्बन लेकर पुण्य-पाप की विचित्रता जानकर और राग-द्वेष के कारण उत्पन्न ये संसार बढ़ाने वाले वैर-विरोध का त्यागकर संक्लेश भावों से तो बच ही सकते हैं। अन्यथा अति संक्लेश भावों में मरकर भयंकर नरकरूप संसार सागर में जाने से हम बच नहीं पायेंगे।”

अपने वैर-विरोध के कारणों का उल्लेख करते हुए लान्तव इन्द्र ने आगे कहा - “देखो मैं तुम्हे एक कथा द्वारा वैर के दुष्परिणाम बताता हूँ, संभवतः उसे सुनकर तुम स्वयं वैर-विरोध करना छोड़ दोगे।

जब राजा सिंहसेन को यह ज्ञात हुआ कि - सुमित्तदत्त सेठ के रत्न श्रीभूति पुरोहित ने बेईमानी से वापिस नहीं करने चाहे तो राजा ने उसके लिए तीन वैकल्पिक दण्ड निर्धारित किए “रत्न लौटाओ अथवा गोबर खाओ अथवा मल्ल से तीन मुक्के खाओ” और उसे एक-एक करके तीनों दण्ड भोगने पड़े; क्योंकि पहले उसने गोबर खाना प्रारंभ किया, पर वह पूरा गोबर न खा सका तो वह मुक्का खाने को तैयार हुआ; पर एक ही मुक्के में घबरा गया तो अन्त में रत्न लौटाकर जैसे-तैसे अन्त में प्राण बचाये। संक्लेश से मरकर कुगति हुई सो अलग। राजा सिंहसेन ने श्रीभूति पुरोहित का एक जन्म में दण्ड देकर थोड़ा-सा अनिष्ट किया था; परन्तु उस छोटी-सी घटना से बैर बांधकर श्रीभूति पुरोहित के जीव ने सिंहसेन का अनेक बार घात किया अवश्य; परन्तु उससे उसे लाभ क्या हुआ? प्रत्युत उसके ये वैरभाव से किए कार्य उसके ही सुख के घातक सिद्ध हुए।

सेठ सुमित्तदत्त के रत्न वापिस कराने में रामदत्ता रानी को ही सर्वाधिक श्रेय होने से सेठ ने उसकी कूँख से पुत्र होने का निदान किया - सुमित्र सेठ धर्मात्मा तो था ही, अतः उसके निदान से वह रामदत्ता रानी की कूँख से ही राजपुत्र हुआ, जिसका नाम सिंहचन्द्र रखा गया। इसका एक छोटा भाई पूर्णचन्द्र भी था। सुमित्र सेठ की पत्नी का पति से पूर्व वैचारिक मतभेद होने से दोनों में प्रेम पल्लवित्त नहीं हो पाया, खेंचातानी

ही रही। इसकारण वह मरकर व्याघ्री हुई, सेठानी ने बदले की भावना से व्याघ्री बनकर अपने पति को ही खाया।

यह राजा सिंहसेन की कथा किसी और की नहीं, अपनी ही कहानी है। राजा सिंहसेन का जीव तो हाथी की पर्याय में ही जैनधर्म की शरण प्राप्त कर वैर रहित हो गया था और उसके फलस्वरूप पाँचवें भव में 'संजयन्त' पर्याय से संसार से मुक्त हो गया और तू धरणेन्द्र (नागेन्द्र) होकर भी इसप्रकार तुच्छ वैरभाव को धारण कर संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

हे धरणेन्द्र ! इसप्रकार वैर-भाव को घोर संसार का बढ़ाने वाला जानकर तू भी शत्रुता के भाव छोड़ दे और इन सब राग-द्वेष के मूलकारण मिथ्यात्व अर्थात् सातों तत्त्वों की भूलों एवं देव-शास्त्र-गुरु सम्बन्धी भूलों का भी त्याग कर दे। वस्तुतः जगत में कोई भी वस्तु भली-बुरी नहीं है, इष्टानिष्ट की कल्पना ही मिथ्या है और यह मिथ्यात्व ही इस जीव का सबसे बड़ा शत्रु है।

धरणेन्द्र ने पूछा - हे लान्तवेन्द्र ! आपने मुझे - उद्बोधन दिया - इसके लिए मैं आपका आभारी हूँ। अब कृपा करके यह बतायें कि - यह मिथ्यात्व कौन है? कहाँ रहता है? तुम मुझे उसका पता/ठिकाना बताओ और यह भी बताओ कि उसकी क्या पहचान है? उसका पता लगते ही, उसकी सही-सही पहचान होते ही मैं सबसे पहले उसका ही सर्वनाश करूँगा।

लान्तवेन्द्र ने कहा - मिथ्यात्व कोई ऐसा अपराधी या विरोधी व्यक्ति नहीं है, जिसका कोई पता-ठिकाना हो, जो कहीं शहर या गाँव में रहता हो। ऐसा शत्रु नहीं है, जिसका अस्त्रों-शस्त्रों से नाश किया जा सके।

मिथ्यात्व तो अपना ही मिथ्याभाव है। सच्चे वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु एवं जीव-अजीव, आस्रव, बंध आदि सात तत्त्वों के विषय में उल्टी मान्यता, विपरीत अभिप्राय होना, परद्रव्यों में एकत्व-ममत्व एवं कर्तृत्व की मान्यता का होना, मिथ्यात्व है तथा पर पदार्थों में इष्टानिष्ट बुद्धि मिथ्यात्व का फल है। ऐसे मिथ्या

अभिप्राय से निरन्तर आर्त-रौद्र भाव होते हैं, जो अनन्त संसार के कारण हैं। इनका नाश तो एकमात्र इनके सम्बन्ध में सही समझ से ही होता है।

यहाँ जीवों के पुण्य-पाप के उदयानुसार अनेकभवों के भयंकर उत्थान-पतन की चर्चा द्वारा संसार की विचित्रता का कथन करके, पाठकों को ऐसे क्षणभंगुर, दुःखद-दुरन्त संसार के सुखों से विरक्त कराने का संदेश दिया है।

अन्त में व्यंग्य करते हुए सहृदय कवि आचार्य कहते हैं कि देखो वैर की महिमा !

इसप्रकार आदित्याभ लान्तवेन्द्र से मिथ्यात्व का स्वरूप सुनकर, समझकर प्रबोध को प्राप्त करके धरणेन्द्र ने सब वैर-भाव छोड़कर संसार सागर से प्राप्त करानेवाला सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया।

तत्पश्चात् विद्याओं के खण्डित हो जाने से जो पंख कटे पक्षियों के समान खेद-खिन्न हो रहे थे - ऐसे उन विद्याधरों से धरणेन्द्र ने कहा - हे विद्याधरो ! तुम सब शीघ्र ही इस हीमन्त पर्वत पर भगवान संजयन्त स्वामी की पाँच सौ धनुष ऊँची प्रतिमा स्थापित करो। और उसी प्रतिमा के पादमूल में बैठकर उस प्रतिमा के आलम्बन से संजयन्त स्वामी की भक्तिभाव से स्तुति करते हुए आत्मा की आराधना करो। इससे तुम्हारे लौकिक मनोरथों की पूर्ति के साथ-साथ आत्मा के कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त होगा।

धरणेन्द्र के कहे अनुसार आचरण से सभी विद्याधरों ने अपनी विद्यायें भी प्राप्त कर लीं और उन्हें आत्मकल्याण का मार्ग भी मिल गया।

आदित्याभ लान्तवेन्द्र और धरणेन्द्र अपनी-अपनी देवायु पूर्ण करके मथुरानगरी के धनाढ्य राजा रत्नवीर्य की प्रथम पत्नी मेघमाला से लान्तवेन्द्र का जीव मेरु नामक पुत्र हुआ एवं द्वितीय अमितप्रभा पत्नी से धरणेन्द्र का जीव मन्दर नामक पुत्र हुआ। वे दोनों ही युवा होने पर सांसारिक सुखों को भोगते हुए उन्हें असार जानकर उनसे विरक्त होकर मुनिव्रत धारण कर मोक्षमार्ग में अग्रसर हो गये। मुनिराज मेरु ने तो मेरु की तरह अचल होकर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त कर लिया और मन्दर मुनि भी मन्दर की तरह स्वरूप में स्थिर होकर तीर्थंकर श्रेयांसनाथ के गणधर बन गये।

आचार्य कहते हैं “जो जीव दुःखमय संसार सागर से पार होना चाहते हैं वे संजयन्त भगवान के इस पावन चरित्र को पढ़कर एवं उनके आदर्श जीवन का अनुसरण कर स्वयं को वैसा ही बनाये।”

एक दिन वीर वसुदेव अटवी में भ्रमण करते हुए अचानक एक तपस्वियों के आश्रम में पहुँच गये। वहाँ उन्होंने तपस्वियों को राजकथा और युद्धकथा के रूप में विकथायें करते देखा, जो तपस्वियों के योग्य कार्य नहीं था। उन्होंने ये सोचा – “विकथाओं से संतों को क्या-प्रयोजन? तपस्वियों को तो मात्र धर्मकथायें या धर्मध्यान ही करना चाहिए।”

कुमार वसुदेव ने आश्चर्यचकित होकर उनसे पूछा – “अरे, तपिस्वयो! आप लोग इसतरह विकथाओं में आसक्त क्यों हो? तापस तो वे कहलाते हैं जो केवल तप और संयम की साधना करें, आत्मा-परमात्मा की आराधना करें तथा तत्त्वचर्चा करें, वीतराग कथा करें। तपस्वियों को पापबन्ध करनेवाली सांसारिक बातों से क्या प्रयोजन?” कुमार वसुदेव का तपस्वियों से ऐसा कहना छोटे मुँह बड़ी बात नहीं थी; क्योंकि यदि राजा प्रजा में कहीं कोई अनुचित कार्य देखे और वह चुप रहे तो यह भी उचित नहीं हैं, गलती करना और गलती को अनदेखा करना – दोनों बराबर के अपराध हैं। अतः कुमार वसुदेव ने ठीक ही किया।

तपस्वियों ने भी अपनी कमी का अहसास करते हुए कुमार वसुदेव को यथायोग्य अभिवादन करके कहा – “हमलोग अभी नवीन दीक्षित ही हैं, हमें अभी तापसियों के कर्तव्यों का कुछ भी ज्ञान नहीं है। अभी हम यह भी नहीं जानते कि तापस्वियों की वृत्ति कैसी होना चाहिए?”

अपने तापसियों का वेष धारण करने की घटना का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा – “इसी श्रीवास्ती नगरी में यशस्वी एवं पुरुषार्थी ‘एणीपुत्र’ नाम का एक राजा है। उसकी प्रियंगुसुन्दरी नामक एक अत्यन्त सुन्दर कन्या है। उसके स्वयंवर के लिए एणीपुत्र राजा ने हम सब राजाओं को बुलाया; परन्तु कारणवश उस कन्या ने हम लोगों में से किसी को भी पति के रूप में नहीं चुना। जिन्होंने अपमान महसूस किया, उन्होंने तो एणीपुत्र

को युद्ध करने को ललकारा; परन्तु एणीपुत्र की अजेय शक्ति के सामने उनमें कोई नहीं टिक सका। सब इधर-उधर तितर-बितर होकर छिप गये। हम भी उन्हीं में से हैं जो यहाँ तापसों के रूप में रह रहे हैं। वस्तुतः हम तापस नहीं हैं। इसकारण हम तप, संयम और आत्मा-परमात्मा के स्वरूप का एवं उनकी साधना-आराधना के बारे में कुछ भी नहीं जानते। आपकी बातों से ज्ञात होता है कि आपको तत्त्वज्ञान है, अतः यदि संभव हो तो आप हमें तत्त्वज्ञान का उपदेश दीजिए, धर्म का स्वरूप समझाइए, जिससे हम सच्चे तापस बनकर आत्मा का कल्याण कर सकें। अब हमें संसार की क्षण भंगुरता और लौकिक सुखों की असारता का आभास तो हो गया है। अतः अब हम आत्मकल्याण ही करना चाहते हैं। घर वापिस नहीं जायेंगे। अतः इसी विषय में कुछ हितोपदेश दीजिए।

वेषधारी उन तपस्वियों के निवेदन पर कुमार वसुदेव ने संक्षेप में जो मार्गदर्शन दिया, वह इसप्रकार है -

“हे तपस्वियो ! तुमने यह उत्तम विचार किया कि संसार की असारता को जानकर आत्महित में लगने का निर्णय लिया है। सचमुच जीवन में यदि कुछ करने लायक है तो एकमात्र यही है। सबसे पहले शास्त्र स्वाध्याय द्वारा ज्ञानस्वभावी निज आत्मतत्त्व का निर्णय करना चाहिए तथा भेदज्ञान करने के लिए जीव और अजीव को भिन्न जानना फिर आत्मा और देह की भिन्न प्रतीतिपूर्वक देहादि जितने भी परद्रव्य हैं, उनसे जैसे-जैसे अनुराग कम होता जाये, तदनुसार व्रतों का पालन करते हुए जब अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान की चौकड़ी नष्ट हो जायें, कषायें कृष होती जायें, २८ मूलगुण निर्दोष पालन की शक्ति प्रगट हो जाये तो आचार्य से विधिपूर्वक दीक्षा लेना। दीक्षा के पूर्व एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व के भाव का अभाव हो जाता है तथा छह द्रव्यमय जो यह विश्व है, इसकी सब व्यवस्था स्वतः स्वसंचालित है। इस लोक को न किसी ने बनाया है, न कोई इसका विनाश कर सकता है - ऐसी श्रद्धा प्रगट हो जाती है।

इसके लिए सर्वप्रथम सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की शरण में रहकर वीतरागी देव और निर्ग्रन्थ के बताये मोक्षमार्ग को यथार्थ जानें, पहचानें फिर पर की प्रसिद्धि की हेतुभूत पाँचों इन्द्रियों और मन के विषयों को

जीते, उन्हें मर्यादा में ले। एतदर्थ बारह अणुव्रत धारण करे। और क्रम-क्रम से ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करते हुए आत्म साधना के मार्ग पर अग्रसर होवे। जैसे-जैसे अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ बढ़ता जाये। कषायें कृष होतीं जायें, निर्दोष २८ मूलगुण पालन की शक्ति हो जाये, तब मुनिव्रत धारण की योग्यता आती है; क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के सदोष तपस्वी होना कल्याण का मार्ग नहीं है; बल्कि हानिकारक ही हैं। यद्यपि तापस होना अति उत्तम है; क्योंकि मुनि हुये बिना न तो आज तक किसी को मुक्ति मिली है और न मिलेगी, किन्तु जल्दबाजी में अज्ञानतप करने से कोई लाभ नहीं होता। अतः मोक्षमार्ग में समझपूर्वक ही अग्रसर होना चाहिए। अन्यथा अपना तो कोई लाभ होता नहीं, तापस पद भी बदनाम होता है।

तापसों ने पूछा - “ये निश्चय मोक्षमार्ग क्या हैं। बारह व्रत क्या हैं, कृपया बतायें?”

वसुदेव ने कहा - हाँ, सुनो - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग तो वस्तुतः एक ही है, किन्तु इसका कथन दो प्रकार से है एक निश्चय मोक्षमार्ग और दूसरा-व्यवहार मोक्षमार्ग। जो वस्तु जैसी है, उसका उसी रूप में निरूपण करना अर्थात् सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग कहना, वह निश्चय मोक्षमार्ग है, और जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परंतु मोक्षमार्ग का निमित्त व सहचारी है, उसे निमित्तादि की अपेक्षा किसी को किसी में मिलाकर उपचरित कथन करना व्यवहार मोक्षमार्ग है। जैसे - मिट्टी के घड़े को मिट्टी का कहना निश्चय और घी का संयोग देखकर उपचार से उसे घी का घड़ा कहना व्यवहार है। शेष फिर कभी.....। ●

कुमार वसुदेव ने कहा - एकबार मैं श्रीवास्ती नगरी में जा पहुँचा। मैंने वहाँ जिनमन्दिर के आगे मृगध्वज केवली की प्रतिमा और महिष की मूर्ति देखी, जो कभी कामदत्त सेठ ने स्थापित की थीं।

जनता के आकर्षण के लिए सेठ ने एक कामदेव एवं रति का चित्ताकर्षक, मनमोहक मन्दिर भी बनवाया था। जनसमूह कामदेव-रति के मन्दिर के आकर्षण से आते और साथ में जिनमन्दिर के दर्शन भी करते तथा मृगध्वज केवली और महिष (भैंसे) की मूर्तियाँ देखकर उनके विषय में जानने की जिज्ञासा से उनका वृत्त भी सुनते। केवली के पूर्व वृत्तान्त को सुनकर स्वयं केवली होने की भावना से भर जाते। वे सोचते, 'जब मृगध्वज केवली हो सकते हैं तो हम क्यों नहीं?' इसतरह मृगध्वज केवली और महिष के वैराग्य प्रेरक पूर्वभवों का वृत्तान्त सुनकर संसार की विचित्रता से विरक्त होकर अनेकों स्त्री-पुरुष प्रतिदिन आत्मकल्याणकारी जिनधर्म को धारण कर लेते।

यह पूरा जिनमन्दिर प्रांगण 'कामदेव के मन्दिर' के नाम से प्रसिद्ध था और इसे देखने के कौतुकवश आये लोगों को मृगध्वज केवली का दर्शन जिनधर्म की प्राप्ति का कारण बनता था।''

उपर्युक्त कथन से ऐसा सिद्ध होता है कि जिन प्राचीन जिनमन्दिरों में अन्य देवी-देवताओं के आकर्षक रागात्मक चित्र उकेरे हुए मिलते हैं अथवा मूर्तियाँ मिलती हैं, उनके पीछे तत्कालीन राग-रंग में मस्त जनों को आकर्षित करने मात्र का पावन उद्देश्य रहा होगा, न कि इन्हें पूजने/मानने का। धीरे-धीरे लोग उस मूल उद्देश्य से भटक गये और इन्हें ही देव-देवियों के मनोरथों की पूर्ति का साधन मानकर इन्हीं की पूजा करने लगे। अस्तु :-

उसी कामदत्त सेठ के वंश में अनेक पीढ़ियों के बाद 'कामदेव' नामक एक सेठ भी हुआ। उसकी बन्धुमती नाम की एक कन्या थी, जो निमित्त ज्ञानी की घोषणा के अनुसार कामदत्त सेठ द्वारा वसुदेव को

प्रदान कर दी गई। उसी समय नगरी में चारों ओर यह समाचार फैल गया कि सेठ कामदेव के लिए पुण्यशाली, प्रतापवंत अद्भुत जामाता मिल गया है। इस समाचार से प्रेरित होकर राजा ने, अन्तपुर की स्त्रियों ने और नगरवासियों ने वसुदेव को कौतूहल से देखा। राजपुत्री प्रियंगुसुन्दरी ने भी किसी तरह छिपकर वसुदेव को देख लिया। उन्हें देखते ही वह इतनी मोहित हो गई कि उन्हें पाये बिना उसका भोजन-पानी भी छूट गया, उसे सभी कुछ राज के ठाट-बाट और सुख-साधन अरुचिकर लगने लगे। अतः उसने द्वारपाल द्वारा वसुदेव के पास यह संदेश भेजा कि आप राजपुत्री को स्वीकार करो, अन्यथा वह मृत्यु को प्राप्त हो जायेगी। वह आपके बिना जीवित नहीं रह सकती।

वसुदेव पहले तो किंकर्तव्यविमूढ़ से हो गये, फिर थोड़ी देर बाद सोच विचार कर बोले - हे द्वारपाल! तुम प्रियंगुसुन्दरी से कहो कि अभी कुछ दिन ठहरो। द्वारपाल वसुदेव का आश्वासन पाकर आशान्वित होकर प्रियंगुसुन्दरी ने ऐसा मान लिया, मानो मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया है।

एक दिन रात्रि में वसुदेव बन्धुमती के साथ शयन कर रहे थे कि - ज्वलनप्रभा नाम की दिव्य नागकन्या ने आकर उन्हें जगा दिया। उस दिव्य नागकन्या को देख वे विचार करने लगे कि यह कौन नारी यहाँ आयी है, जिसके शिर पर नाग का चिह्न है?

वार्ता करने में निपुण उस नागकन्या ने कुमार को बाहर बुलाया विनयपूर्वक अशोक वाटिका में ले जाकर बोली - “हे धीर-वीर! आप मेरा परिचय एवं मेरे यहाँ आने का कारण जानना चाहते हैं। सुनिये!

चन्दनवन नगर में एक अमोघदर्शन राजा था। उसकी चारुमती रानी थी। उनसे उत्पन्न चारुचन्द्र पुत्र था। उसी नगर में रंगसेना वैश्या की एक कामपताका पुत्री थी, जो सचमुच काम की पताका के समान अति सुन्दर थी। एक बार धर्म-अधर्म के विवेक से रहित राजा अमोघदर्शन ने यज्ञदीक्षा के लिए यज्ञोत्सव किया। उसमें कौशिक ऋषि भी आये थे। उस उत्सव में कामपताका वैश्यापुत्री ने अत्यन्त आकर्षक नृत्य किया, जिसे देख कौशिक ऋषि जैसे बड़े तपस्वी का मन भी विचलित हो गया, अन्य साधारण की तो बात ही क्या? यज्ञोपरान्त राजपुत्र चारुचन्द्र ने उस कन्या को अपना लिया; परन्तु कौशिक ऋषि भी उस कामपताका

पर रीझा था, अतः वह भी राजा अमोघदर्शन के पास गया और स्वयं के लिए उसकी याचना करने लगा; किन्तु कामपताका को तो अमोघ का पुत्र चारुचन्द्र पहले ब्याह चुका था। इसकारण कन्या न मिलने से ऋषि कौशिक को बहुत क्लेश हुआ और उसने न केवल संकल्प किया बल्कि संकल्प को प्रगट भी कर दिया कि - 'मैं साँप बनकर अमोघदर्शन को डसूंगा।'

ऋषि कौशिक के संकल्प अनुसार राजा अमोघ ने अपनी अल्प आयु शेष मानकर जिनदीक्षा ले ली और अपनी गर्भवती रानी चारुमती को तपस्वियों के आश्रम में भेज दिया। वहाँ रानी ने ऋषिदत्ता कन्या को जन्म दिया। एक बार उस कन्या ने १२ वर्ष की उम्र होने पर चारण ऋद्धिधारी मुनि के पास ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया, परन्तु धीरे-धीरे यौवन को प्राप्त होने पर उसके रूप-लावण्य से पुरुषों के मन मोहित होने लगे।

एक बार शीलव्रतधारी राजा शीलायुध तपस्वियों के उस आश्रम में पहुँचा, जहाँ ऋषिदत्ता रहती थी। ऋषिदत्ता ने उसे भोजन कराकर आदर सत्कार किया। कन्या सुन्दर तो थी ही, एक-दूसरे पर आकर्षित हो गये और दोनों ने अपनी-अपनी शीलव्रत की मर्यादा तोड़ दी। इसीलिए तो ज्ञानी कहते हैं, *व्रतों को धारण करने की जल्दी मत करो। परिपक्व होकर भूमिका के अनुसार जो व्रत होंगे वे ही निर्दोष पलेंगे। व्रत न लेने का कम दोष है और व्रतों को भंग करना महापाप है; परन्तु जिसकी जैसी होनहार हो उसे कौन टाल सकता है।*”

शीलव्रत भंग होने पर ऋषिदत्ता ने राजा शीलायुध से पूछा - मैं ऋतुमति हूँ, यदि गर्भवती हो गई तो मुझे क्या करना होगा?

राजा शीलायुध ने कहा - “मैं श्रीवास्ती का राजा हूँ। तुम पुत्र जन्म होने पर श्रीवास्ती आकर मुझसे मिलना” - ऐसा आश्वासन देकर वह प्रस्थान करने वाला ही था कि उसकी सेना आश्रम में आ पहुँची। सेना को देख वह बहुत संतुष्ट हुआ और सेना के साथ नगर को लौट गया।

राजा के चले जाने के बाद लोक व्यवहार में निपुण ऋषिदत्ता ने लज्जा छोड़कर राजा के साथ हुए सम्बन्ध का वृतांत माता-पिता से कह दिया। यह भी कह दिया कि “मैं गर्भवती हो गई हूँ।” वह ऋषिदत्ता प्रसूति करते ही मर गई और स्वर्ग में वल्लभा नाम की 'नागकुमारी' देवी हुई। उसे देव पर्याय में भवप्रत्यय

अवधिज्ञान से ज्ञात हुआ कि “मैं उसी ऋषिदत्ता का जीव हूँ, जो छोटे से बालक को जन्म देकर, मरकर यह नागदत्ता हुई हूँ। अतः वह नागकुमारी दया और स्नेह के वशीभूत हो पिता और पुत्र के तपोवन में गई। वहाँ शोक संतप्त मात-पिता को आश्वस्त करके और अपने पूर्वभव के पुत्र को मृगी का रूप धर कर दूध पिला-पिला कर बड़ा किया। तत्पश्चात् तापसी का वेश धरकर और उस पुत्र को लेकर पूर्वभव के पति राजा शीलायुध के पास गई।

राजा शीलायुध विभूति सम्पन्न और नीतिज्ञ था। नागकुमारी देवी द्वारा पुत्र प्राप्त होने का रहस्यमय वृत्तान्त जानकर वह प्रसन्न हुआ और उसने पुत्र को युवराज के रूप में स्वीकार कर लिया। पुत्र का नाम एणीपुत्र था। पूर्वपर्याय के पुत्र के मोहवश नागकुमारी देवी होकर भी उसकी रक्षा में तत्पर रही।

पिता के स्वर्गवासी होने पर एणीपुत्र राजा बना। कालान्तर में उस एणीपुत्र के एक सर्वगुण सम्पन्न प्रियंगुसुन्दरी कन्या हुई। एणीपुत्र ने उसका स्वयंवर किया; किन्तु काम-भोग से विरक्त प्रियंगुसुन्दरी ने उस समय तो सर्व आगंतुक राजकुमारों को निरस्त कर दिया; पर जब उसने बन्धुमती के साथ कुमार वसुदेव को देखा तो उसका मन उसकी ओर आकृष्ट हो गया। अन्ततः कामदेव के मन्दिर में वसुदेव और प्रियंगुसुन्दरी का समागम हो गया और वे श्रीवास्ती नगरी में बहुत समय तक दाम्पत्य सुख भोगते रहे।

वसुदेव ने नागकुमारी से यह सब पूर्वभव के संस्कारों से चले आये संबंध को जाना और उससे उत्पन्न स्नेहवश जब नागकुमारी द्वारा अपने योग्य सेवा करने हेतु स्मरण करने को कहा गया तो वसुदेव ने यह कहा – “जब मैं याद करूँ, तब तुम मेरा ध्यान रखना।” ‘एवमस्तु’ कहकर वह नागकुमारी चली गई।

इसप्रकार वह ऋषिदत्ता जो मरकर वल्लभा नामक नागकुमारी हुई, उसने वसुदेव को प्रियंगुसुन्दरी तथा उसके पिता एणीपुत्र एवं माँ ऋषिदत्ता आदि का परिचय दिया।

ये कथानक पाठकों को जीवों की विचित्र परिणति और संसार की असारता का संदेश देते हैं, जिनकी भली होनहार होती है, वे सुलट भी जाते हैं। इसतरह ये पौराणिक कथायें भी जीवों के कल्याण की कारण बनती हैं। यही मंगल भावना है कि पाठक विचित्र वस्तुस्थितियों से प्रेरणा पाकर अपना कल्याण करें। ●

हम कभी सोच भी नहीं सकते कि अपने द्वारा किए शुभाशुभ भावों का फल किन-किन रूपों में सामने आता है। जगत के जीव कभी आसमान में उड़ते नजर आते हैं तो कभी धरती की धूल चांटते दिखाई देते हैं।

कुमार वसुदेव के प्रियंगुसुन्दरी आदि अनेक सुन्दरतम राजकन्याओं के साथ अनेक विवाह हुए। उनके साथ चिरकाल तक रहकर कुमार वसुदेव ने लौकिक सुख का अनुभव किया। स्वयंवर में जीतकर अपहृत की गई सोमश्री से पुनर्मिलन हुआ। गांधार नरेश की पुत्री प्रभावती से विवाह किया।

पुण्योदय से प्राप्त इन सब अनुकूलताओं के बीच समय-समय पर ऐसा पापोदय भी आया कि शत्रुओं द्वारा अनेक कष्ट दिए गए। सूर्यक द्वारा स्वयं वसुदेव का अपहरण हो गया और उसे गंगा नदी में गिरा दिया गया।

पुनः पुण्योदय से वह गंगा नदी से निकलकर तापसों के उस आश्रम में पहुँच गया जहाँ जरासंध ने अपनी पुत्री केतुमती को तापसों की शरण में रख छोड़ा था; क्योंकि केतुमती किसी पिशाच द्वारा पागल कर दी गई थी तथा जरासंध को उस व्यक्ति की तलाश भी थी, जो इस पिशाच का निग्रह करेगा। कुमार वसुदेव दयालु तो थे ही, उन्हें केतुमती पर दया आ गई और उन्होंने पिशाच का निग्रह करके केतुमती का पागलपन ठीक कर दिया।

कहावत तो ऐसी है कि 'कर भला तो हो भला' परन्तु यदि पुराना पाप आड़े आ जाय तो कभी-कभी उल्टा भी हो जाता है; दूसरों का भला करने पर भी स्वयं का बुरा होता दिखाई देता है; पर ध्यान रहे भले काम का नतीजा तो भला ही होगा। अतः भला करने से पीछे न हटें।

केतुमति का पागलपन दूर होते ही वहाँ छिपे जरासंध के गुप्तचरों ने सुनियोजित योजना के अनुसार वसुदेव को पकड़ लिया और उन्हें राजगृह ले गये।

रास्ते में राजपुरुषों से वसुदेव ने पूछा - “मुझे किस अपराध में पकड़कर ले जाया जा रहा है?” तब उन्होंने बताया कि - राजा जरासंध को किसी - भविष्यवेत्ता द्वारा यह बताया गया है कि जो व्यक्ति केतुमती के पिशाच का निग्रह करेगा, वह राजा को घात करनेवाले शत्रु का पिता होगा। अतः ‘न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी’ यह सोचकर राजा की आज्ञा से आपको वधस्थान पर ले जाया जा रहा है।

परन्तु “किसी के सोचने से क्या होता है, होना तो कुछ और ही था” वसुदेव वधस्थान पर पहुँचे ही थे कि एक विद्याधर उन्हें झपटकर आकाश में ले गया और उस विद्याधर ने कुमार वसुदेव से कहा - मैं प्रभावती का पितामह हूँ। भागीरथ मेरा नाम है। मैं तुम्हारे मनोरथ पूर्ण करनेवाला हूँ। हे नीतिज्ञ ! मैं तुम्हें प्रभावती के पास ले चलता हूँ - ऐसा कहकर वे वसुदेव प्रभावती के पास ले गये और वहाँ दोनों का विवाह सम्पन्न हुआ। जिसकी आयु शेष हो और पुण्य का उदय हो, उसे दुनियाँ की बड़ी से बड़ी ताकत नष्ट एवं दुःखी नहीं कर सकती। इस घटना से हम निर्भय भी रह सकते हैं और पुण्य के कार्य करने की प्रेरणा भी पा सकते हैं, किन्तु हम अहंकार में इतने पागल हैं कि ऐसा विचार ही नहीं आता। अस्तु -

वसुदेव-प्रभावती पूर्व परिचित, स्नेह से एक-दूसरे के प्रति आकर्षित तो थे ही। अब वर-वधू बनकर दाम्पत्य जीवन के सुख में समर्पित हो गये।

पुण्य-पाप का कुछ ऐसा ही विचित्र स्वभाव है कि उनके उदय में जीव संयोग-वियोगों के झूले में इसीतरह झूलता हुआ संसार सागर में गोते खाता रहता है। यदि सदा के लिए परम अतीन्द्रिय आनन्द, निराबाध सुख प्राप्त करना हो तो हमें पुण्य-पाप से पार शुद्धोपयोगमय होना होगा तथा आत्मा के शुद्धस्वरूप को जानकर, उसमें ही रुचि और परिणति करनी होगी।

कुमार वसुदेव द्वारा अनेक विवाह किए गये, जिनमें कुछ प्रमुख विवाहों की कथा उल्लेखनीय हैं जो

इस प्रकार हैं - जब कुमार वसुदेव प्रभावती के साथ महल में सो रहे थे, तब उनका शत्रु सूर्पक उन्हें सोई हुई हालत में ही अपहरण करके आकाश में ले गया। कुमार की नींद खुलते ही उन दोनों में संघर्ष हुआ। सूर्पक जब हारने लगा तो उसने कुमार को नीचे गिरा दिया। संयोग से वे गोदावरी कुण्ड में गिरे, पर पुण्ययोग से घायल नहीं हुए। वहाँ से निकलकर वे कुण्डलपुर ग्राम पहुँचे वहाँ के राजा पद्मरथ की कन्या की यह प्रतिज्ञा थी कि जो मुझे माला गूँथने की कला में पराजित करेगा मैं उससे ही विवाह करूँगी।

कुमार वसुदेव ने उसे माला गूँथने का कौशल दिखाकर उससे विवाह कर लिया। सचमुच श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव बहुत ही पुण्यवान, बलशाली और प्रतापी पुरुष थे। उनके चक्रवर्ती जैसा महान पुण्य और पौरुष था, परोपकारी भी थे, अतः जहाँ भी गये, उनके पुण्य ने उनका पूरा साथ दिया। इसीप्रकार की दूसरी घटना नीलकंठ के अपहरण द्वारा हुई।

इस बार कुमार चम्पापुर के तालाब में गिरे। वहाँ से भी सकुशल निकलकर चम्पापुर नगर में गये। उन्होंने वहाँ के मंत्री की पुत्री से विवाह किया।

यहाँ वही पूर्व का सूर्पक फिर से हरकर ले गया। इस बार उससे छूटकर भागीरथी नदी में गिरे। पुण्य योग से वहाँ से भी बच कर अटवी में घूमते हुए उनका म्लेच्छराज की 'जरा' नामक कन्या से सम्पर्क हुआ और उससे विवाह हुआ। वे वहीं बहुतकाल तक रहे। इस म्लेच्छ कन्या से उनका जरतकुमार नामक पुत्र हुआ। उसीसमय कुमार ने अवन्ति सुन्दरी और शूरसेना नामक कन्याओं को भी प्राप्त किया।

तदनन्तर जीवद्यशा कन्या को प्राप्त करने के साथ और भी अनेक स्त्रियों से विवाह सम्पन्न करके कुमार अरिष्टपुर नामक नगर पहुँचे। उससमय वहाँ का राजा धीर-वीर रुचिर था। उसकी मिला नाम की रानी थी। उन दोनों के नीतिवेत्ता, रणनिपुण, महापराक्रमी एवं शस्त्र-शास्त्र का अभ्यासी हिरण्य नाम का ज्येष्ठ पुत्र था और कलाओं की पारगामिनी, रूप तथा यौवन को धारण करनेवाली रोहणी नामक पुत्री थी। रोहणी के स्वयंवर में जरासन्ध सहित समुद्रविजय आदि समस्त राजा आये। भाइयों की पहचान में न आ सके - ऐसा वेष धारण कर कुमार वसुदेव भी स्वयंवर में गये।

सम्मानपूर्वक मधुर वचन बोलने में चतुर धाय ने प्रत्येक राजा के पास कन्या को ले जाकर परिचय कराते हुए वरण करने के लिए अनुशंसित किया; किन्तु राजकन्या ने किसी के गले में वरमाला नहीं पहनाई। राजाओं की पंक्ति में बैठे सर्वप्रथम जरासन्ध की नाना प्रकार से महिमा मण्डित करते हुए वरने के लिए प्रेरित किया। जब कन्या की रुचि नहीं देखी तो क्रमशः जरासन्ध के पुत्र के पास गई, फिर मथुरा के राजा उग्रसेन, उग्रसेन के बाद शौरीपुर के स्वामी समुद्रविजय आदि से परिचय कराया। फिर स्वयंवर सभा में बैठे एक से बढ़कर एक - अनेक राजाओं से परिचय कराया और कहा कि स्वयंवर की सफलता की चिंता में तेरे माता-पिता की नींद हराम हो रही है, अतः तू शीघ्र निर्णय कर!

कन्या ने उत्तर में कहा - हे धाय माँ ! इन राजाओं में किसी पर भी मेरा मन अनुरक्त नहीं हो रहा है। देखते ही प्रथम दृष्टि में ही जिस पर आन्तरिक स्नेह उमड़ने लगता है, वर-कन्या - दोनों को संतोष होता है उसे ही वरण किया जा सकता है। इन राजाओं पर मुझे न राग उमड़ता है और न द्वेष ही है। इनके प्रति मेरे मन में मात्र उपेक्षा या अरुचि है, अतः मैं इनमें से किसी का भी वरण नहीं कर सकती।

“वस्तुतः ये संबंध भी पूर्व संस्कारों के आधार पर निश्चित ही होते हैं, जिसका जिसके साथ सम्बन्ध होना होता है, उसे देखते ही अनुकूल भाव बन जाते हैं।”

वह ऐसा कह ही रही थी कि उसके कानों में ‘पवण’ नामक वाद्ययंत्र की मधुरध्वनि सुनाई पड़ी। वह ध्वनि मानो स्पष्ट कह रही थी कि तुम्हारे मन का हरण करनेवाला राजहंस इधर बैठा है, अतः इस ओर देख! ज्यों ही कन्या रोहणी ने मुड़कर देखा तो कुमार वसुदेव दिखे। दोनों का चित्त एक दूसरे की ओर सहज आकर्षित हो गया और रोहणी ने वसुदेव के गले में वरमाला पहनाकर उसका वरण कर लिया।

अधिकांश नीतिज्ञ राजाओं ने तो स्वेच्छा से रोहणी के चयन की हार्दिक अनुमोदना की, किन्तु कुछ ईष्यालु मात्सर्ययुक्त राजाओं ने अपना अपमान अनुभव करते हुए उल्टे-सीधे कुतर्क प्रस्तुत करके विरोध प्रगट किया और स्वयंवर को निरस्त करने की माँग की।

धीर-वीर वसुदेव ने क्षुभित राजाओं से कहा कि - “स्वयंवर में आई हुई कन्या अपनी इच्छानुसार वर को वरती है, अतः इस विषय में किसी को भी अशान्ति फैलाना और स्वयं दुःखी होना योग्य नहीं है; फिर भी यदि किसी को अपने किसी भी प्रकार के बड़प्पन पर गर्व है तो मैं उसकी चुनौती स्वीकार करने के लिए भी तैयार हूँ।”

कुमार वसुदेव की गर्वोक्ति सुनकर राजा जरासन्ध कुपित हो उठा। अपने अधीनस्थ राजाओं को आदेश दे दिया कि - “वसुदेव एवं कन्या के भाई और पिता को बन्दी कर लिया जाय। “कुछ राजा जो पहले से ही वसुदेव से असंतुष्ट (कुपित) थे, वे भी जरासंध का आदेश पाकर युद्ध के लिए उद्यत हो गये और भयंकर घमासान युद्ध हुआ। एक ओर अकेले धीर-वीर वसुदेव और दूसरी ओर जरासंध के साथ अनेक राजा और उनके साथ में आई हुई उनकी सभी तरह की सशस्त्र सेना। फिर भी वसुदेव ने अमोघ पराक्रम से सबके छक्के छुड़ा दिये।

कुछ सज्जन जो न्याय नीतिज्ञ थे, उन्होंने कहा - “यह अन्यायपूर्ण युद्ध हमें तो देखने योग्य भी नहीं है; क्योंकि यह युद्ध एक का अनेक के साथ हो रहा है। एक पर अनेक प्रहार कर रहे हैं, इस कारण यह अन्यायपूर्ण है।”

तदनन्तर धर्मयुद्ध का प्रस्ताव लाते हुए जरासंध ने कहा - “कन्या के लिए इसके साथ एक-एक राजा युद्ध करें। जरासंध का आदेश पाकर सर्वप्रथम शत्रुंजय कुमार युद्ध करने उठा। वसुदेव ने उसके चलाये बाणों को दूर फेंक कर उसका रथ और कवच तोड़कर उसे मूर्च्छित कर दिया। इसके बाद क्रमशः दत्तवस्त्र, कालमुख, और शल्य जैसे एक से एक पराक्रमी राजा आये; परन्तु वसुदेव के सामने कोई नहीं टिक सका।

इसके बाद राजा जरासंध ने भी नेमिनाथ के पिता समुद्रविजय से कहा - “हे राजन ! आप सब तरह से समर्थ हैं, अतः आप इसके अहंकार को नष्ट करो।” यद्यपि समुद्रविजय न्याय-नीति के वेत्ता थे, युद्ध

नहीं करना चाहते थे; तथापि राजा जरासंध की आज्ञा से तैयार हो गये; क्योंकि युद्ध के विषय में न्याय के वेत्ता भी अपने स्वामी का ही अनुसरण करते हैं।

समुद्रविजय उस समय यह नहीं जानते थे कि कुमार वसुदेव मेरा ही छोटा भाई है, परन्तु वसुदेव जानते थे कि ये मेरे बड़े भाई हैं। अतः समुद्रविजय के तेजी से आते हुए रथ को देख वसुदेव ने अपने सारथी को आदेश दिया - “इन्हें तुम मेरा बड़ा भाई समझो। हे दधिमुख! ये हमारे पितातुल्य पूज्य हैं, अतः इनके आगे रथ धीरे-धीरे ले जाना है। मुझे रणभूमि में इनकी रक्षा का ध्यान रखते हुए ही युद्ध करना है।”

सारथी दधिमुख ने वसुदेव की आज्ञानुसार ही रथ चलाया। उधर समुद्रविजय ने अपने सारथी से कहा - “हे भद्र! इस योद्धा को देखकर मेरा मन स्नेहयुक्त क्यों हो रहा है? दाहनी आँख एवं भुजा भी भड़क रही है। पुरुष की दाहनी आँख भड़कना तो बन्धु समागम को सूचित करनेवाली होती हैं; परन्तु युद्ध के मैदान में इस शकुन की संगति कैसे बैठ सकती है?”

सारथी ने कहा - “स्वामिन ! अभी आप शत्रु के सामने खड़े हैं जब इसे आप जीत लेंगे तब अवश्य ही बन्धु समागम होगा। हे राजन ! यह शत्रु दूसरों के द्वारा अजेय हैं। अतः इसके जीत लेने पर आप राजाओं के समक्ष राजाधिराज जरासंध से अवश्य ही विशिष्ट सम्मान को प्राप्त करेंगे।”

समुद्रविजय ने सारथी के वचनों को स्वीकार कर युद्ध के लिए तैयार होकर वसुदेव से कहा - “हे धीर ! अभी-अभी युद्ध में तुम्हारे धनुष का जैसा कौशल देखा, अब मेरे आगे वैसे ही उसकी पुनरावृत्ति करके दिखाओ तो जानें ! हे शूरवीरता के शिखर ! तुम्हारा अत्यन्त उन्नत मानरूपी शिखर जो अभी तक अनाच्छादित रहा है, मैं उसे बाणरूपी मेघों से अभी आच्छादित करता हूँ। तुम मुझे नहीं जानते ‘मैं समुद्रविजय हूँ, समुद्रविजय ! समझे !

कुमार वसुदेव ने आवाज बदलते हुए कहा - ‘यदि आप ‘समुद्रविजय हैं तो मैं संग्रामविजय हूँ’। यदि आपको विश्वास न हो तो शीघ्र ही धनुष पर बाण चढ़ाकर छोड़िए।

वसुदेव के गर्वोक्ति युक्त वचन सुनकर उनका माध्यस्थ भाव समाप्त हो गया और वे युद्ध को तत्पर हो गये और उन्होंने जितने भी बाण चलाये, वसुदेव ने एक-एक का निराकरण करके उन्हें अपने धनुष कौशल का परिचय करा दिया। अन्त में समुद्रविजय के रथ और सारथी को भी छिन्न-भिन्न कर दिया। यह देख समुद्रविजय ने क्रोधावेश में वसुदेव पर हजारों अस्त्रों से युक्त दिव्य रौद्रास्त्र छोड़ा; परन्तु कुमार वसुदेव ने भी उन अस्त्रों को आच्छादित करनेवाला ब्रह्मशिर नामक अस्त्र छोड़कर बड़े भाई के द्वारा छोड़े उस रौद्रास्त्र को बीच में ही काट डाला।

वसुदेव का संग्राम में अस्त्र-शस्त्र चलाने का कौशल परम प्रशंसनीय था; क्योंकि उन्होंने नाना प्रकार के शस्त्रों को तो काट दिया था; किन्तु अपने बड़े भाई को सुरक्षित रखा था।

इसप्रकार रणक्रीड़ा करते-करते भ्रातृ स्नेह से भरे हृदय से वसुदेव ने बड़े भाई के पास एक पत्र के साथ अपना बाण भेजा जो कि मन्दगति से जाकर बड़े भाई के चरणों में गिरा। उसे उठाकर जब समुद्रविजय ने उसे पढ़ा तो वे गद्गद् हो गये। बाण में लिखा था - 'हे अग्रज ! मैं वहीं आपका छोटा भाई वसुदेव हूँ जो अज्ञात रूप से निकल गया था। सौ वर्ष बीत जाने के बाद मैं आज आत्मीयजनों के पास आया हूँ। हे आर्य! मैं आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ।

बस, यह जानते ही समुद्रविजय ने अपने अनुसंधित बाण को तोड़कर फेंक दिया और शीघ्र रथ से उतरकर छोटे भाई के पास पहुँचे।

इधर वसुदेव भी शीघ्र ही रथ से उतरकर उनके चरणों में नत मस्तक हो गये। समुद्रविजय ने उन्हें उठाकर गले लगा लिया। दोनों भाई भावुक हो गये और दोनों की आँखों से प्रेमाश्रुओं की धारा बहने लगी। उसी समय शेष भाई भी आ गये। गत सौ वर्षों में विजयश्री के साथ जो शादियाँ हुई थीं, उनके रिश्तेदार राजागण भी युद्धभूमि में उससमय उपस्थित थे, वे सब भी वसुदेव से बहुत प्रभावित हुए। जरासंध आदि राजा भाइयों

के इस समागम को देखकर बहुत हर्षित हुए। रोहणी के पिता, भाई तथा अन्य सम्बन्धी जन उसकी बहुत प्रशंसा करने लगे।

सब राजा शाम को जब अपने शिविरों में विश्राम हेतु पहुँचे तो वहाँ भी वीर वसुदेव की ही चर्चा करके खुश होकर अपनी रात्रि का समय सुख से बिता रहे थे। तत्पश्चात् वसुदेव ने शुभ नक्षत्र में रोहणी के साथ विधिपूर्वक विवाह किया। जरासंध और समुद्रविजय आदि राजा उस विवाहोत्सव को देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए।

यहाँ आचार्य यह बताना चाहते हैं कि जिन्होंने पूर्व में वीतराग धर्म की साधना/आराधना करके आत्म विशुद्धि के साथ शुभभावों से विशेष पुण्यार्जन किया है, वह अकेला और निहत्था-शस्त्र रहित होकर भी अच्छे-अच्छे सशस्त्र शूरवीरों को परास्त कर देता है।

अतः जो भी लौकिक जीवन को यशस्वी और सुखद बनाने के साथ पारलौकिक दृष्टि से अपना कल्याण करना चाहते हैं, उन्हें जिनेन्द्र कथित वस्तु स्वातंत्र्य जैसे सिद्धान्तों को समझना चाहिए और इसके लिए सर्वप्रथम श्रुतज्ञान के आलम्बन से अर्थात् शास्त्र स्वाध्याय के द्वारा अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करके पर की प्रसिद्धि की हेतुभूत अर्थात् जो मात्र पर का ही परिचय करा सकती हैं - ऐसी पाँचों इन्द्रियों के भोगपक्ष और ज्ञेयपक्ष को जीतना चाहिए; क्योंकि ये पाँचों ही इन्द्रियाँ हमें भोगों में उलझा कर पापोपार्जन में कारण तो बनती ही हैं और पर को जानने में उलझा कर स्वयं को जानने से वंचित रखती हैं। इसतरह ये हमारा अमूल्य समय और शक्ति भी बर्बाद करती हैं।

आत्मा का हित तो आत्मा के जानने में है, अतः यदि मन को मर्यादा में रखना है तो मन के विकल्पों को भी आत्मा के अवलम्बन से तथा वस्तुस्वरूप की समझ से नियंत्रित करना चाहिए ?

यद्यपि प्रस्तुत कथाग्रन्थ में वसुदेव के चरित्र में हमें उठा-पटक और भोगों की प्रधानता ही अधिक दृष्टिगोचर होती है; किन्तु वे ज्ञानी थे; उनकी दिनचर्या में नित्य वीतरागी, निर्ग्रन्थ गुरुओं की उपासना,

देवपूजा, वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आमनाय, धर्मोपदेश द्वारा नियमित स्वाध्याय, छह प्रकार का इन्द्रिय संयम एवं छह प्रकार का प्राणी संयम, अनशनादि छह बहिरंग तप और प्रायश्चित्त आदि छह अन्तरंग तप तथा श्रावक के षट् आवश्यक भी सम्मलित थे। अन्यथा ऐसा सातिशय पुण्य कहाँ से आता? जिसके फलस्वरूप उन्होंने जीवन में भयंकर कठिनाइयों को पार करते हुए एक से बढ़कर एक-अनेक सुन्दर गुणवान कन्याओं से विवाह किये तथा श्रीकृष्ण और बलदेव जैसे यशस्वी पुत्रों की प्राप्ति हुई। जिनके अग्रज समुद्रविजय जैसे राजा और नेमिनाथ जैसे तीर्थंकरों ने जिसके वंश को अलंकृत किया।

तत्काल विवाहित वसुदेव की पत्नी रोहणी ने शयन करते हुए चार स्वप्न देखे थे। प्रथम स्वप्न में गर्जन करता हुआ विशाल हाथी, दूसरे स्वप्न में बड़ी-बड़ी लहरों वाला समुद्र, तृतीय स्वप्न में पूर्ण चन्द्रमा तथा चौथे स्वप्न में मुख में प्रवेश करता हुआ सफेद सिंह देखा।

प्रातः रोहणी ने वे सभी स्वप्न पति से कहकर उनका फल पूछा - पति ने फल बताते हुए कहा - तुम्हारे शीघ्र ही ऐसा पुत्र होगा, जो धीर, वीर, कान्तिवान, जनप्रिय महाराजा होगा।

स्वप्न के फलानुसार नौ माह सुख से बीतने पर रोहणी ने एक सर्वगुणसम्पन्न पुत्र को जन्म दिया। पुत्र का नाम 'राम' रखा गया। एक बार कुमार वसुदेव के हित में तत्पर समुद्रविजय आदि सभी भाई रोहणी के पिता राजा रुधिर के घर श्रीमण्डप में बैठे थे कि एक दिव्य विद्याधरी आकाश से उतरकर वहाँ आई और सबको अभिवादन कर सुखद आसन पर बैठ गई और उसने वसुदेव से निवेदन किया कि आपकी पूर्व पत्नी वेगवती और मेरी पुत्री बालचन्द्रा आपके चरणों में नतमस्तक हो आपका प्रियदर्शन करना चाहती है। कुमारी बालचन्द्रा आपके बिना जीवित नहीं रह सकती, अतः आप उससे विवाह कर उसके प्राणों की रक्षा करें।

अग्रजों से अनुमति लेकर वसुदेव विद्याधरी के साथ गगन वल्लभपुर गये और समुद्रविजय आदि भाई शौर्यपुर चले गये। वसुदेव नववधू बालचन्द्रा और वेगवती के साथ कुछ दिन वहीं रहे। तत्पश्चात् उन

दोनों पत्नियों के साथ वहाँ से प्रस्थान कर उन सभी पत्नियों को साथ लेने हेतु प्रत्येक के यहाँ गये, जिन्हें पिछले सौ वर्ष के अपने अज्ञातप्रवास में उतार-चढ़ाव का सामना करते हुए विजयश्री के बाद विवाह कर वरण किया था।

वसुदेव के वापस आने पर समुद्रविजय ने प्रजाजनों से नगर की शोभा कराके हर्ष के साथ उनका स्वागत किया। वसुदेव ने अपनी समस्त पत्नियों सहित विमान से उतरकर बड़े भाईयों एवं गुरुजनों को प्रणाम किया तथा अन्य लोगों ने प्रेमपूर्वक वसुदेव को प्रणाम किया। वहाँ उपस्थित शिवा आदि महारानियों ने वसुदेव को आलिंगन कर आदरभाव प्रगट करते हुए बारम्बार यही आशीर्वाद दिया हे वसुदेव ! यह सब पूर्वोपार्जित पुण्य और जिनधर्म की उपासना का ही सुफल है। जिनधर्म की साधना, आराधना करने से जो आत्मा में शुद्धि और विशुद्धि होती है, उससे ही ऐसा पुण्यबंध होता है, जिससे यह सब अनुकूलता और विजय की प्राप्ति होती है। अतः तुम इस जिनधर्म को कभी नहीं भूलना। हमारा तुम्हारे लिए यही मंगल आशीर्वाद एवं शुभकामना है कि “तुम जिनधर्म की शरण में रह कर परमात्मा की आराधना के आलम्बन से आत्मा की साधना करके आत्मा में स्थिर होकर अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करो।”

मैंने सोचा - “कहीं सचमुच ऐसा न हो कि सच्चे वैराग्य के बजाय ये लोग पारिवारिक परिस्थितियों से परेशान होकर कहीं किसी से द्वेष या घृणा करने लगे हों और ये स्वयं भ्रम से उसे ही वैराग्य मान बैठे हों।

इन परिस्थितियों में भी सभ्य भाषा में लोग ऐसा ही बोलते हैं। न केवल बोलते हैं, कभी-कभी उन्हें स्वयं को ऐसा लगने भी लगता है कि वे विरागी हो रहे हैं; जबकि उन्हें वैराग्य नहीं, वस्तुतः द्वेष होता है। केवल राग अपना रूप बदल लेता है, वह राग ही द्वेष में परिणित हो जाता है, जिसे वे वैराग्य या संन्यास समझ लेते हैं।”

दसवाँ

- विदाई की बेला, पृष्ठ-३१, हिन्दी संस्करण

राजा वसुदेव राजपुत्रों को शस्त्र विद्या का उपदेश देते हुए सूर्यपुर में रहने लगे। एक दिन वसुदेव धनुर्विद्या में प्रवीण कंस आदि शिष्यों के साथ राजा जरासंध को देखने को राजगृह नगर में आये। उसी समय राजा जरासंध ने अनेक आगंतुक मेहमान राजाओं के सामने एक घोषणा की, जिसे वसुदेव ने भी सुना। घोषणा में कहा गया कि - “सिंहपुर का स्वामी राजा सिंहरथ बड़ा पराक्रमी है। वह सच्चे सिंहों के रथ पर सवारी करता है। जो उसे जीवित पकड़कर लायेगा, वही शूरवीर समझा जायेगा। उसे ही मैं सम्मानित करके अपनी सर्वगुणसम्पन्न कन्या जीवद्यशा को एवं राज्य का कुछ हिस्सा प्रदान करूँगा।”

उस हृदयग्राही घोषणा को सुनकर वीर रस में पगे वसुदेव ने कंस नामक शिष्य से प्रतिज्ञारूप पताका उठवायी। तदनन्तर वसुदेव अपने शिष्य कंस के साथ विद्यानिर्मित सिंहरथ पर सवार होकर सिंहपुर गये। वहाँ जब सिंहरथ सिंहों के रथ पर बैठकर युद्ध के लिए वसुदेव के सामने आया, तब उन्होंने बाणों द्वारा उसके सिंहों की रास काट दी, जिससे उसके सिंह भाग गये और कंस ने उसीसमय कुमार की आज्ञा से राजा सिंहरथ को बांध लिया।

कंस की चतुराई देखकर वसुदेव ने कंस से कहा - “मैं तुम्हारी धनुर्विद्या की चतुराई से प्रसन्न हूँ। जो चाहो वर माँगो।” कंस ने अभी वर अमानत के रूप में कुमार के पास ही रख दिया। वसुदेव ने सिंहरथ को जरासंध के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। शत्रु को सामने देख जरासंध संतुष्ट हुआ और वसुदेव से बोला “तुम मेरी घोषणानुसार मेरी प्रिय पुत्री जीवद्यशा के साथ विवाह करो।”

वसुदेव ने कहा - “शत्रु को कंस ने पकड़ा है मैंने नहीं, अतः तुम अपनी पुत्री कंस को दो।

राजा जरासंध ने कंस की जाति की तलाश की तो खोज करते-करते अन्ततोगत्वा पता चला कि वह

राजा उग्रसेन और रानी पद्मावती का पुत्र और जरासंध का भान्जा ही है, इसे पद्मावती ने किसी कारणवश मंजूषा में बन्द करके यमुना में बहा दिया था। यह बात मंजूषा में प्राप्त पत्र से ज्ञात हो गई। इससे संतुष्ट होकर जरासंध ने अपने भानजे कंस को अपनी पुत्री जीवद्यशा ब्याह दी।

कंस ने जब यह समझा कि उसके पिता उग्रसेन ने उसे उत्पन्न होते ही नदी में बहाया था तो उसे पिता पर बहुत क्रोध आया। एतदर्थ उसने अपने श्वसुर जरासंध से मथुरा का राज्य माँगा। मथुरा का राज्य पाकर सब प्रकार की सेना युक्त कंस जीवद्यशा के साथ मथुरा गया। कंस निर्दय तो था ही, वहाँ जाकर उसने पिता उग्रसेन के साथ युद्ध ठान दिया तथा युद्ध में उन्हें जीतकर बांध लिया। तत्पश्चात् उस उग्र और क्षुद्र कंस ने अपने पिता को नगर के मुख्य द्वार पर कैद कर लिया।

वसुदेव के उपकार का आभारी होने से कंस उनका प्रत्युपकार करना तो चाहता था; परन्तु निर्णय नहीं कर पा रहा था कि किसप्रकार प्रत्युपकार करूँ ? वह वसुदेव का शिष्य होने से अपने आप को वसुदेव का किंकर समझता था। एक दिन वसुदेव को बड़ी भक्ति से प्रार्थना करके मथुरा ले आया। वहाँ लाकर उन्हें गुरुदक्षिणा के रूप में अपनी देवकी नामक बहिन प्रदान कर उसके साथ विवाह करा दिया।

तदनन्तर वसुदेव कंस के आग्रह से देवकी के साथ कुछ दिन मथुरा में ही रहे। शत्रुओं को सन्तप्त करनेवाला एवं जरासंध का अतिप्रिय कंस शूरसेन नामक विशाल देश की राजधानी मथुरा का शासन करने लगा।

एक दिन कंस के बड़े भाई अतिमुक्तक मुनि आहार के समय राजमहल में आये ? कंस की पत्नी जीवद्यशा नमस्कार कर ओढ़नी दिखाती हुई उनके सामने खड़ी हो गई और हंसती हुई क्रीड़ा भाव से कहने लगी कि यह आपकी बहिन देवकी का आनन्द वस्त्र है, इसे देखिये।

संसार की स्थिति को जाननेवाले मुनिराज उस मर्यादा रहित एवं राज्यवैभव से मत्त जीवद्यशा को रोकने के लिए वचनगुप्ति तोड़कर बोले कि - “अहो ! तू हँसी कर रही है। परन्तु तेरी यह इसतरह हँसी करना

मूर्खता है। तू यह निश्चित समझ कि इस देवकी के गर्भ से जो पुत्र होगा, वह तेरे पति कंस और पिता जरासंध को मारनेवाला होगा। यह होनहार अटल है, इसे कोई बदल नहीं सकता।

यह सुनते ही जीवद्यशा भयभीत हो उठी। उसके नेत्रों से आँसू निकलने लगे। वह उसीसमय मुनिराज को छोड़ पति के पास गई और मुनि के वचन सत्य ही निकलते हैं। यह विश्वास जमाकर उसने पति कंस को सब समाचार कह सुनाये। पत्नी के मुख से यह सब समाचार सुनकर कंस को भी शंका हो गई। वह तीक्ष्णबुद्धि तो था ही, इसकारण शीघ्र ही उपाय सोचकर अपने गुरु सत्यवादी वसुदेव के पास गया और चरणों में झुककर अपना धरोहर के रूप में रखा वर माँगा। वसुदेव ने कहा – ठीक है, कहो क्या चाहते हो ?

कंस ने कहा – प्रसूति के समय देवकी मेरे ही घर में रहे अर्थात् उनका प्रत्येक प्रसव मेरे घर पर ही हो। वसुदेव को इस वर माँगने के पीछे कंस की खोटी नियत और प्रयोजन का कुछ भी पता नहीं था। भाई के घर में बहिन को कोई खतरा या अनर्थ भी हो सकता है, यह शंका भी तो नहीं की जा सकती थी। इस कारण उन्होंने बिना विचार किए ही कंस को उसका माँगा वर दे दिया।

पीछे वसुदेव को इस राज का पता चला – तो उनका हृदय पश्चाताप से बहुत दुःखी हुआ। वे उसीसमय चारणऋद्धिधारी अतिमुक्तक मुनिराज के पास गये और साष्टांग नमस्कार प्रणाम करके देवकी के सम्बन्ध में पूछा – हे भगवन् ! कंस ने पूर्व जन्म में ऐसा कौन-सा कर्म किया, जिससे वह दुर्बुद्धि अपने पिता का ही शत्रु हो गया ? और देवकी से उत्पन्न पुत्र इस पापी कंस का घात करनेवाला कैसे होगा ?

अतिमुक्तक मुनिराज अवधिज्ञानी थे। उन्होंने अवधिज्ञान से जानकर कहा कि – हे राजन् ! इसी मथुरा नगरी में जब राजा उग्रसेन राज्य करता था। तभी पंचाग्नि तप तपनेवाला एक वशिष्ठ नामक अज्ञानी तापस यहीं यमुना नदी के किनारे तप तपता था। वहीं नदी किनारे पनिहारिणें पानी भरने आती थीं। एक दिन जिनदास सेठ की प्रियंगुलतिका नामक नौकरानी भी वहाँ पानी भरने के लिए गई। उससे उसकी साथिनों

ने कहा कि तू इस तापस को नमस्कार कर ! उसने उसे नकली तापस मानकर नमस्कार नहीं किया तो उन साथियों ने बलात् उसका माथा तापस के चरणों में झुका दिया। प्रियंगुलतिका ने रुष्ट होकर कहा कि तुमने मेरा माथा धीवर (मछुआरे) के चरणों में झुकाया है। यह तापस के वेष में धीवर है।

प्रियंगुलतिका के कथन से वह तथाकथित तापस नाराज होकर राजा उग्रसेन के दरबार में गया और उस प्रियंगुलतिका पनिहारिन की शिकायत करते हुए बोला - इसने मेरा अपमान किया है। प्रियंगुलतिका से पूछने पर उसने स्पष्ट कह दिया कि यह तापस नहीं धीवर ही है। इसकी जटायें खुलवा कर देखिये - सब राज स्वतः ही खुल जायेगा। तापस की जटायें खुलवायी गयीं तो बहुत-सी छोटी-छोटी मछलियाँ निकली, जो उसके धीवर होने का प्रमाण दे रही थीं।

राजा ने उसकी अन्य तरह से भी परीक्षा की तो उसका नकलीपना प्रगट हो गया। फलस्वरूप वह उग्रसेन के दरबार में अपमानित होकर मथुरा छोड़कर बनारस चला गया। वहाँ गंगा के किनारे वैसा ही पाखण्ड पूर्ण तप तपने लगा।

एक दिन वहाँ आपने पाँच सौ शिष्यों के साथ वीरभद्र मुनिराज (आचार्य) आये। उनके संघ के एक नवदीक्षित मुनि ने उसी नकली तापस वशिष्ठ की तपस्या देख समझा कि यह सच्चा तपस्वी है। अतः उसकी तपस्या की प्रशंसा की। तापस के नकली रूप को आचार्य वीरभद्र पहचान गये अतः उन्होंने उन्हें प्रशंसा करने से रोका और कहा कि - “अज्ञानी के तप कैसा ?”

वशिष्ठ ने सुना तो पूछा - ‘मैं अज्ञानी हूँ’ यह आप कैसे कह सकते हैं ?

आचार्य ने कहा - तुम पंचाग्नि तप द्वारा पाँच स्थावर और त्रस - ऐसे छहकाय के जीवों की हिंसा करते हो। उन्हें पीड़ा पहुँचाते हो, उनके प्रति तुम्हारे हृदय में दया नहीं है। इसलिए अज्ञानी हो। उस तप में अग्नि के संसर्ग से पाँच इन्द्रिय वाले जीव तक तड़फ-तड़फ कर जलते हुए प्राण छोड़ देते हैं। पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति और कीड़े-मकोड़े के प्राण घात होने से प्राणीसंयम कैसे पल सकता है ?

इसीप्रकार जो देव-गुरु-धर्म और तत्त्व का निर्णय किए बिना ही मात्र घर से किसी कारण से उदास होकर क्रियाकाण्ड में ही धर्म माननेवाला है उसके सम्यग्ज्ञान पूर्वक होनेवाला इन्द्रियसंयम भी कैसे हो सकता है? जो केवल काय-क्लेश को ही तप मानता हो और मान से भरा हो। उसकी तपस्या मुक्ति का साधन कैसे हो सकती है? हे तापस ! तुम जानते हो, तुम्हारा पिता मरकर सांप हुआ है और वह इसी अग्नि में जल रहा है।

आचार्य के इसप्रकार कहने पर तापस वशिष्ठ को एकाएक विश्वास नहीं हुआ। अतः उसने कुल्हाड़ी से उस काष्ठ को चीर कर देखा तो उसके अन्दर अधजला सांप मरणोन्मुख जलन की पीड़ा से तड़फ रहा था, छटपटा रहा था।

आचार्य के कथन से यह सब जानकर वशिष्ठ तापस ने अपनी भूल को महसूस किया कि 'मैं सचमुच अज्ञानी हूँ और जैनधर्म के सिद्धान्त सचमुच ही सुख देनेवाले हैं, जिनमार्ग की साधना अहिंसक है, दयामयी है' - यह बात तापस ने मात्र सिद्धान्त रूप से ही नहीं मानी; बल्कि स्वयं वीरभद्र आचार्य के पास जिनदीक्षा धारण कर आचरण रूप से भी अपनाई। यथासमय आहार प्राप्ति का सहज संयोग बन रहा था; परन्तु उस नवदीक्षित तापस मुनि को लाभान्तराय कर्मोदय से बहुत कम निर्विघ्न आहार हो पाता था। कठोर तपश्चरण करते हुए वह गुरु की आज्ञा से एकल विहारी होकर मथुरा नगर आया।

परन्तु होनहार को कौन टाल सकता है। उस वशिष्ठ तापस ने हिंसाजनक पंचाग्नि तप और पापाचार मूलक तापस की क्रियायें और अहंकार को छोड़ यद्यपि जैनधर्म अपना लिया; मुनिधर्म धारण कर लिया था, मासोपवास करके घोर तप भी कर रहा था, फिर भी होनहार भली न होने से मासोपवास के बाद भी वे मुनि पारणा के लिए आहार के निमित्त नगर में निकलते तो कोई भी उनके पड़गाहना को दरवाजे पर नहीं आता।

यद्यपि सभी नगरनिवासी धार्मिक जन ऐसे मासोपवासी तपस्वी साधु को आहार देना चाहते थे। राजा भी चाहता था कि इतने तपस्वी साधु की पारणा कराकर मैं भी पुण्य लाभ क्यों न लूँ ? किन्तु समय पर वे भी भूल जाते। मानो दैव वशिष्ठ मुनि (पूर्व तापस) की परीक्षा ही ले रहा हो। मुनि भी अपनी धैर्य की परीक्षा

मानकर ही भूख-प्यासादि सहते रहे।

ह
रि
वं
श
क
था

तापस वशिष्ठ ने दिगम्बर मुनि का वेष तो धर लिया था और मुनिचर्या के सब नियम भी गुरु से समझ लिए थे। तदनुसार बाह्याचरण में भी कोई कमी नहीं थी किन्तु तत्त्वज्ञान न होने से वह अपने उस पुराने अपमान को भूल नहीं पाया था, वैर-विरोध को नष्ट नहीं कर पाया था; जैन तत्त्वज्ञान हुए बिना पर पदार्थों में एकत्व एवं कर्तृत्व का भाव कम नहीं होता और इसके बिना अहंकार नष्ट नहीं होता। पर में इष्टानिष्ट की बुद्धि भी नष्ट नहीं हो पाती। बाह्य क्रियायें तो मात्र साधन हैं। साध्य तो वीतरागता है।

यही कारण था कि वह तापस वशिष्ठ मुनि अपने उस अपमान को नहीं भूल पाया, जो राजा उग्रसेन के दरबार में प्रियंगुलतिका पनिहारिन के द्वारा नकली तापस सिद्ध होने के कारण हुआ था। उस वशिष्ठ जैन मुनि ने यह निदान बाँध लिया कि 'मैं उग्रसेन का पुत्र होकर अपने अपमान का बदला लूँ।' निदान के कारण वह मुनिपद से भ्रष्ट होकर मिथ्यात्व गुणस्थान में आ गया और उसी समय मरकर राजा उग्रसेन की रानी पद्मावती के उदर में कंस के रूप में आ गया।

जब वह वशिष्ठ मुनि का जीव कंस के रूप में पद्मावती के गर्भ में था, तब पद्मावती को एक दोहला हुआ, खोटा स्वप्न आया, जिसके कारण वह एकदम दुर्बल हो गई। राजा ने दुर्बलता का कारण जानना चाहा तो पहले तो पद्मावती टालती रही, फिर भी राजा उग्रसेन का आग्रह देख रानी ने दुःख भरे मन से कहा कि - 'हे नाथ ! मुझे ऐसा दोहला हुआ है कि 'मैं आपका पेट फाड़कर आपका रुधिर पीऊँ'। नौ माह बाद पद्मावती ने ऐसा पुत्र उत्पन्न किया, जिसकी मुखकृति कुटिल एवं रौद्र थी। इस कारण रानी ने उसे कांस की पेटि (मंजूषा) में बन्द करके यमुना के तेज प्रवाह में प्रवाहित कर दिया। वह मंजूषा बहते-बहते कौशाम्बी नगरी पहुँची। वहाँ एक कलारिन (मद्य व्यवसायी महिला) को मिल गई, उसे खोला तो उसमें एक बालक जिन्दा पाया। कांस की पेटि में पाने से उसने उसका नाम कंस रखा।''

हे राजन् वसुदेव ! पूर्वभव में मुनि अवस्था में निदान के दोष से दूषित होकर इस कंस ने पिता का निग्रह किया है, उन्हें कैद करके रखा। आगे चलकर तुम्हारा पुत्र (कृष्ण) इसे मारेगा और इसके पिता राजा उग्रसेन

कं
स
ए
वं
उ
स
की
ब
ह
न
दे
व
की

को कैद के बंधन से छुड़ायेगा।

देवकी का सातवाँ पुत्र (कृष्ण) शंख, चक्र, गदा और खड़ग को धारण करनेवाला होगा और कंस आदि शत्रुओं को मारकर समस्त पृथ्वी का पालन करेगा। शेष छहों पुत्र चरम शरीरी होंगे। उनकी किसी के द्वारा (अकाल) मृत्यु हो ही नहीं सकती; अतः तुम चिन्ता छोड़ो।

बड़े भाई द्वारा जब छहों छोटे भाइयों की स्त्रियों को छहों भाईयों के वैरागी होने के समाचार ज्ञात हुए तो उन्होंने भी विरक्त हो दीक्षा ले ली। अन्त में इस स्वार्थी संसार का दुःखद स्वरूप बड़े भाई सुभानु की समझ में भी आ गया इसलिए उसने भी सपत्नीक उन्हीं वरधर्म गुरु के पास दीक्षा ले ली।

तदनन्तर एक बार जब वे सातों मुनिराज अपने गुरु के साथ विहार करते हुए उज्जैन आये तो उनके दर्शन करके वज्रमुष्टि ने उनसे पूछा कि आपके दीक्षा लेने में निमित्त कारण कौन बना था, आपने दीक्षा क्यों एवं कैसे ली?

उत्तर में उन्होंने उसी वज्रमुष्टि और उसकी पत्नी के त्रियाचारित्र का सब वृतान्त कहा, जिसका पूरा पता स्वयं वज्रमुष्टि को भी नहीं था। इसकारण वज्रमुष्टि को बहुत खेद हुआ और उसीसमय उसने भी दीक्षा ले ली। उसीसमय आर्यिका जिनदत्ता के साथ विहार करती हुई सात आर्यिकायें भी वहाँ आ पहुँचीं। ये आर्यिकायें कोई और नहीं, सेठ भानु के सुभानु आदि सात पुत्रों की सातों (पूर्व) पत्नियाँ ही थीं।

मंत्री की पत्नी ने उन आर्यिकाओं से दीक्षा का कारण पूछा - इन आर्यिकाओं ने उसी मंत्री के कुटिल चरित्र का वर्णन करके उसे अपने वैराग्य का एवं दीक्षा का कारण बताया तो उसे सुनकर मंत्री की पत्नी को भी अपना पिछला सब वृतान्त स्मृत हो गया, उसकी आँखों के सामने वे दृश्य प्रत्यक्षवत् झलकने लगे, जिससे उसे स्वयं अपने आप पर ग्लानि होने लगी, नफरत होने लगी और वह पश्चाताप की आग में तपने लगी। बस, फिर क्या था, वह पश्चाताप की आग में तपकर वह कुन्दन बन गई और उनसे भी आर्यिका

के व्रत ले लिये ।

तत्पश्चात् घोर तप के भार को धारण करनेवाले सातों मुनिराज आयु के अन्त में समाधिमरण कर सौधर्म स्वर्ग में एक सागर की आयु वाले त्रायस्त्रिंश नामक उत्तम देव हुए ।

रेवती धाय पुनः मनुष्य पर्याय प्राप्त कर सुदृष्टि सेठ की अलका नामक पत्नी हुई । गंग आदि छह पुत्रों के जीव युगलिया रूप से देवकी की कूँख से उत्पन्न पुत्रों को इन्द्र का 'हारी' नाम का देव उत्पन्न होते ही कंस से सुरक्षा हेतु अलका सेठानी के पास भेज देगा । वहीं वे युवा होंगे । उनमें बड़ा पुत्र-नृपदत्त, दूसरा-देवपाल, तीसरा-अनीकदत्त, चौथा-अनीकपाल, पाँचवाँ शत्रुघ्न और छठा-जितशत्रु नाम से प्रसिद्ध होगा । ये सभी समानरूप से सुन्दर-सुभग होंगे तथा सदृश रूप के धारक होंगे । ये सभी कुमार हरिवंश के चन्द्र और तीन जगत के गुरु भगवान नेमिनाथ की शिष्यता प्राप्त कर मुक्त होंगे । देवकी के गर्भ से उनका सातवाँ धीर-वीर पुत्र इसी भरत क्षेत्र का नौवाँ नारायण कृष्ण होगा ।

कालज्ञ अर्थात् अवसर को पहचानने वाले अवधिज्ञानी मुनिराज से कंस के पूर्वभव तथा उसके पुण्योदय से प्राप्त अभ्युदय को सुनकर वसुदेव ने मित्रता तो पूर्ववत् बनाकर रखी, किन्तु मन में उसके प्रति उपेक्षा का भाव आ गया ।

कुमार वसुदेव को जब यह ज्ञात हुआ कि हरिवंश में तीर्थंकर भगवान का जन्म होनेवाला है तो उनके हर्ष का ठिकाना न रहा। वे अत्यधिक प्रसन्न हुए। उन्होंने अवधिज्ञानी अतिमुक्तक मुनिराज से प्रश्न किया – महाराज ! यह भी बताने की कृपा करें कि हरिवंश के तिलक जिनेन्द्र भगवान नेमिनाथ कहाँ से, कैसे अवतरित होंगे ? मैं उनका संक्षिप्त चरित्र भी सुनना चाहता हूँ।”

वसुदेव की जिज्ञासा शान्त करते हुए मुनिराज ने कहा – भावी तीर्थंकर नेमिनाथ की पर्याय में आने के पाँच भव पूर्व यही तीर्थंकर का जीव विदेह क्षेत्र में राजा अर्हद्दास के घर जिनदत्ता रानी की कूँख से उत्पन्न अपराजित नामक राजकुमार था। वह किसी के द्वारा भी पराजित न होता हुआ अपने नाम को सार्थक कर रहा था। यौवन आने पर प्रीति नाम की सर्व गुणसम्पन्न कन्या से उसका विवाह हुआ।

एक दिन राजा अर्हद्दास देवों द्वारा वन्दनीय भगवान विमलवाहन की वन्दनार्थ अपने पुत्र अपराजित सहित गया। भगवान के धर्मोपदेश से प्रभावित होकर राजा अर्हद्दास ने अपने अधीनस्थ पाँच सौ राजाओं के साथ भगवान विमलवाहन के समीप जिनदीक्षा ले ली। पिता के दीक्षा के बाद युवराज अपराजित ने राज्यपद तो संभाला; पर साथ ही उन्हें भी भगवान के दिव्य उपदेश के फलस्वरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई।

एक दिन अपराजित ने सुना कि गन्धमादन पर्वत पर जिनेन्द्र विमलवाहन और पिता अर्हद्दास को मोक्ष प्राप्त हो गया है। यह सुनकर उसने तीन दिन का उपवास कर निर्वाण भक्ति की।

एक बार राजा अपराजित कुबेर के द्वारा समर्पित जिनप्रतिमा एवं चैत्यालय में विराजमान अर्हत प्रतिमा की पूजा कर उपवास का नियम लेकर मन्दिर में स्त्रियों के लिए धर्मोपदेश कर रहा था। उसीसमय दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज आकाश से नीचे उतरे। राजा अपराजित ने वन्दन कर उनसे पूछा – “हे नाथ ! वैसे तो

मुझे जैन साधुओं को देखकर स्वाभाविक आनन्द होता ही है; परन्तु आप दोनों के दर्शन कर आज अपूर्व आनन्द हो रहा है तथा स्वाभाविक स्नेह उमड़ रहा है, इसका कारण क्या है ?”

दोनों में बड़े मुनि बोले - “हे राजन् ! पूर्वभव का सम्बन्ध ही स्नेह की अधिकता का कारण होता है। मैं पूर्वभव का सम्बन्ध बताता हूँ।

पश्चिम पुष्करार्द्धद्वीप के पश्चिम विदेह क्षेत्र में रुप्याचल की उत्तरश्रेणी में एक गण्यपुर नामक नगर है। वहाँ का राजा सूर्याभ और उसकी पत्नी धारणी के तीन पुत्र थे - चिन्तागति, मनोगति और चपलगति। उसी समय राजा अरिजंय के यहाँ अनेक विद्याओं की धारक और संसार से विरक्त प्रीतिमति नामक कन्या हुई। उसके माता-पिता उसका विवाह करना चाहते थे; किन्तु प्रीतिमति संसार को असार जानकर इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर तप करके आत्मा के कल्याण में लगना चाहती थीं। अपने विशिष्ट कार्य से पिता के प्रसन्न होने पर उसने पिता से वर माँगा तो पिता ने कहा - “तप धारण करने के अलावा तू कोई भी वर माँग, मुझे मंजूर है।” कन्या चतुर थी, उसने कहा जो मुझे गतियुद्ध में हरा देगा, मैं उसी से शादी करूँगी, अन्यथा तप धारण करूँगी। पिता ने उसकी इच्छानुसार स्वयंवर रचा। स्वयंवर में अनेक विद्याधरों के साथ चिन्तागति, मनोगति और चपलगति सम्मिलित हुए। जो अपने नामों के अनुसार ही गति में तेज थे।

अन्य विद्याधरों ने तो ‘प्रीतिमति’ की शक्ति को पहचान कर दौड़ने के पहले ही हार मान ली; अन्ततोगत्वा वे तीनों भी पीछे रह गये। प्रीतिमति ही मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा देकर मार्ग में जिनप्रतिमाओं की पूजा करती हुई सबसे पहले अग्रिम पंक्ति में आकर खड़ी हो गई और पिता को प्रणाम कर पूजा के शेष अक्षत उन्हें भेंट किए।

तदनन्तर भोगों से विरक्त प्रीतिमती के लिए पिता ने तप धारण करने की अनुमति दे दी। अनुमति पाकर कन्या ने ‘निर्वृत्ति’ आर्यिका से दीक्षा धारण कर ली। प्रीतिमति के द्वारा पराजित चिन्तागति आदि तीन भाइयों ने भी दमवर मुनिराज के समीप दीक्षा धारण कर ली। आयु के अन्त में तीनों भाई महेन्द्र स्वर्ग में सात सागर की आयु प्राप्त कर सामानिक जाति के देव हुए।

ह चिन्तागति का जीव जो माहेन्द्र स्वर्ग में था, वहाँ से चयकर तुम अपराजित हुए हो और मनोगति एवं चपलगति के जीव भी माहेन्द्र स्वर्ग से चय कर हम दोनों अमितवेग और अमिततेज हुए हैं। पुण्डकरीकणी नगरी में स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के समीप मुनि दीक्षा लेकर उनसे हमने अपने पूर्व भव सुने। उनके बताये अनुसार हे राजन् अपराजित ! तुम हमारे बड़े भाई चिन्तागति के जीव ही माहेन्द्र स्वर्ग से पूर्व ही च्युत होकर यहाँ अपराजित हुए हो। हम दोनों पूर्व भवों के संस्कार वश धर्मानुराग से तुम्हें संबोधने आये हैं। तुम इसी भरत क्षेत्र के हरिवंश नामक महावंश में अरिष्टनेमि नामक तीर्थंकर होगे। इस समय तुम्हारी आयु एक माह की ही शेष रह गई है। अतः आत्महित करो। इतना कह अमितवेग और अमिततेज दोनों मुनि विहार कर गये।

चारण ऋद्धिधारी मुनिराज के वचन सुनकर राजा अपराजित हर्षित होता हुआ भी बहुत समय तक यही चिन्ता करता रहा कि मेरा तप करने का बहुत-सा महत्त्वपूर्ण समय यों ही निकल गया। अन्त में प्रीतिकर पुत्र को राज्यभार सौंपकर शरीरादि से निस्पृह हो वह भी मुनि हो गया।

तत्पश्चात् प्रायोपगमन सन्यास से सुशोभित दिन-रात चारों आराधनाओं की आराधना कर वे अच्युत स्वर्ग में बाईस सागर की आयु धारक अपराजित इन्द्र हुए। वहाँ से चयकर नागपुर में राजा श्रीचन्द्र और श्रीमती के सुप्रतिष्ठित नामक पुत्र हुआ। वह जिनधर्म का उपासक था। राजा श्रीचन्द्र सुप्रतिष्ठित को राज्य देकर मुनि होकर मुक्त हो गये। एकबार राजा सुप्रतिष्ठित ने मासोपवासी यशोधर मुनिराज को नवधा भक्तिभावपूर्वक आहारदान दिया; फलस्वरूप रत्नवृष्टि आदि पंच आश्चर्य हुए।

एक बार राजा सुप्रतिष्ठित कार्तिक की पूर्णिमा की रात्रि में अपनी आठ सौ स्त्रियों से वेष्टित हो महल की छत पर बैठा था। उसी समय आकाश में उल्कापात हुआ। उसे देख वह राज्यलक्ष्मी को उल्का के समान ही क्षणभंगुर समझने लगा। इसलिए अपनी सुनन्दा रानी के पुत्र सुदृष्टि को राज्यलक्ष्मी देकर उसने सुमन्दिर नामक गुरु के समीप दीक्षा ले ली।

राजा सुप्रतिष्ठित के साथ सूर्य के समान तेजस्वी चार हजार राजाओं ने भी उग्र तप धारण किया था। मुनिराज सुप्रतिष्ठित ने ज्ञान-दर्शन-चरित्र-तप और वीर्य की वृद्धि से युक्त हो जिनवाणी का गहन अध्ययन

किया तथा सर्वतोभद्र से लेकर सिंहनिष्क्रीडित पर्यन्त विशिष्ट तप किए और सोलह कारण भावनायें भाते हुए तीर्थकर नामकर्म का बन्ध किया।

सोलह कारण भावनाओं का संक्षिप्त स्वरूप बताते हुए आचार्य कहते हैं कि - १. जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित रत्नत्रय सहित समीचीन मोक्षमार्ग में निःशंकित आदि आठ गुणों से सहित श्रद्धा को दर्शनविशुद्धिभावना कहते हैं। २. ज्ञानादि गुणों और उनके धारकों में कषाय को दूरकर महान आदर का भाव विनयसम्पन्नताभावना है। ३. शील व्रतों की रक्षा में मन-वचन-काय की निर्दोष प्रवृत्ति शीलव्रतेष्वनतिचारभावना है। ४. अज्ञाननिवृत्तिरूप फल से युक्त तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदों से सहित ज्ञान में निरन्तर उपयोग रखना अभीक्षणज्ञानोपयोगभावना है। ५. जन्म-जरा-मरण तथा रोग आदि शरीरिक और मानसिक दुःखों से युक्त संसार से भयभीत होना संवेगभावना है। ६. शक्ति के अनुसार चार प्रकार का दान देना शक्तितःत्यागभावना है। ७. शक्ति के अनुसार इच्छाओं के निरोधपूर्वक अन्तरंग एवं बहिरंग तपस्या करना शक्तितःतप-भावना है। ८. आगत विघ्नों को नष्ट कर साधु जनों के तप की रक्षा करना साधुसमाधि नामक भावना है। ९. गुणवान साधुजनों के क्षुधा, तृषा व्याधि आदि से उत्पन्न दुःख को प्रासुक द्रव्यों के द्वारा दूर करने की भावना का होना वैयावृत्यभावना है। १०-१३. अरहंतों में अनुराग, आचार्यों में अनुराग बहुश्रुत अर्थात् अनेक शास्त्रों के ज्ञाता उपाध्याय परमेष्ठी में अनुराग और प्रवचन में जो विनय वह क्रमशः अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचनभक्ति नाम की चार भावनायें हैं।

१४. सामायिक आदि छह आवश्यक क्रियाओं की नियत समय में प्रवृत्ति करना आवश्यकापरिहाणि-नामकभावना है। १५. पूजा आदि के द्वारा जिनधर्म की प्रभावना प्रभावना भावना है। १६. गो-वत्स के निःस्वार्थ स्नेह की भांति सहधर्मी भाइयों के प्रति निःस्वार्थ स्नेह होना वात्सल्य भावना है।

इसप्रकार तीर्थकर प्रकृति का बंध करनेवाले सुप्रतिष्ठित मुनिराज एक मास तक आहार त्याग कर चारों आराधनाओं की साधना करते हुए बाईस सागर की स्थिति पाकर जयन्त स्वर्ग में उत्पन्न हुए। वहाँ से चयकर वे राजा समुद्रविजय की रानी शिवादेवी से हरिवंश रूपी पर्वत के शिखर स्वरूप नेमिनाथ नामक २२ वें तीर्थकर होंगे।

अमितगति मुनिराज से तीर्थकर भगवान नेमिनाथ के पूर्व के पाँच-पाँच भवों की जानकारी ज्ञातकर वसुदेव बहुत प्रसन्न हुए और भावपूर्वक मुनिराज को नमन कर पत्नी देवकी सहित अपने घर मथुरा चले गये। मृत्यु की शंका से भयभीत कंस वसुदेव की निरन्तर सेवा करने लगा। तदनन्तर देवकी ने गर्भधारण किया। प्रसवकाल के आने पर जब देवकी के युगल पुत्र उत्पन्न हुए तो कंस से उनके जीवन की रक्षा हेतु इन्द्र की आज्ञा से देवों द्वारा उन युगल पुत्रों को सेठ सुदृष्टि की पत्नी अलका (पूर्वभव की रेवती धाय का जीव) के पास पहुँचा दिया गया। संयोग से उसी समय अलका के भी युगलपुत्र हुए और तत्काल मर गये थे। देव उन दोनों मृत पुत्रों को देवकी के प्रसूतिगृह में रख आया।

मुनि की पूर्व घोषणा के अनुसार कंस ने देवकी के पुत्रों को अपनी मौत के यमदूत मानकर उन्हें मार डालने की खोटी नियत से अपनी बहिन देवकी के प्रसूतिगृह में प्रवेश कर उन दोनों मृत पुत्रों को देखा और रौद्र परिणामों से विवेकशून्य होकर उन दोनों के पैर पकड़कर उन्हें शिला पर पछाड़ दिया और स्वयं को सुरक्षित मानकर मन ही मन प्रसन्न हो गया।

इसके बाद देवकी के क्रम-क्रम से दो युगल और हुए। देव द्वारा उन्हें भी अलका सेठानी के पास भेजकर उन्हें सुरक्षित कर दिया गया तथा उसी समय उत्पन्न हुए अलका के निष्प्राण युगलों को देवकी के प्रसूतिगृह में पहुँचा दिया गया। इधर पापी कंस ने उन दो निष्प्राण युगलों को भी पहले के समान ही शिला पर पछाड़ दिया।

वसुदेव की पत्नी देवकी की कूख से उत्पन्न हुए छहों पुत्र अत्यन्त रूपवान तो थे ही, पुण्यवान भी थे। उन पुत्रों के वृद्धिगत होने के साथ-साथ सेठ सुदृष्टि के घर में वैभव भी वृद्धिगत हो रहा था। अपूर्व-अपूर्व वस्तुओं का लाभ हो रहा था।

पति वसुदेव के समझाने से देवकी भी अपनी संतान के वियोगजन्य दुःख को भूलकर धीरे-धीरे सामान्य हो गई।

एक दिन देवकी ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में अभ्युदय को सूचित करनेवाले सात पदार्थ स्वप्न में देखें। पहले स्वप्न में उसने अंधकार को नष्ट करनेवाला उगता सूर्य देखा। दूसरे स्वप्न में पूर्ण चन्द्रमा देखा। तीसरे स्वप्न में हाथियों के द्वारा अभिषेक करती हुई लक्ष्मी देखी। चौथे स्वप्न में आकाश से नीचे उतरता हुआ विमान देखा। पाँचवें स्वप्न में ज्वाला से युक्त अग्नि देखी। छठवें स्वप्न में ऊँचे आकाश में रत्नों की किरणों से युक्त देवों की ध्वजा देखी और सातवें स्वप्न में अपने मुख में प्रवेश करता सिंह देखा।

इन स्वप्नों को देखकर सौम्यवदना देवकी भय से कांपती हुई जाग उठी। अपूर्व और उत्तम स्वप्न देखने से विस्मय हो रहा था, जिसके शरीर में रोमांच हो रहा था - ऐसी देवकी ने जाकर पति से सब स्वप्न कहे और विद्वान पति राजा वसुदेव ने इसप्रकार उनका फल कहा - हे प्रिये ! तुम्हारे शीघ्र ही एक ऐसा पुत्र होगा जो समस्त पृथ्वी का स्वामी होगा। सूर्य का देखना - ऐसे प्रताप का प्रतीक है, जो शत्रुओं को नष्ट करेगा। चन्द्रमा का देखना - सबको प्रिय होने का प्रतीक है। अभिषेक होते लक्ष्मी का देखना - अत्यन्त सौभाग्यशाली और राज्याभिषेक का सूचक है। आकाश से नीचे आता हुआ विमान - स्वर्ग से अवतीर्ण होने का सूचक है। प्रज्वलित अग्नि - कान्ति युक्त होने का प्रतीक है। देवों की ध्वजा - स्थिर स्वभाव वाला होने का प्रतीक है। मुख में प्रवेश करता सिंह - निर्भयता का सूचक है।

इसप्रकार पति वसुदेव के द्वारा स्वप्नों के शुभ सूचक फलों को सुनकर देवकी अत्यधिक प्रसन्न हुई एवं अल्पकाल में ही जगत का हितकारी पुण्यवान देवकी के गर्भ में अवतरित हो गया। ज्यों-ज्यों गर्भ में बालक वृद्धि कर रहा था, त्यों-त्यों ही पृथ्वी पर मनुष्यों का सौमनस्य बढ़ता जा रहा था। साथ ही कंस का क्षोभ भी उत्तरोत्तर अनजाने में बढ़ रहा था। इसप्रकार वह प्रसव की प्रतीक्षा करता हुआ बहिन के गर्भ की भलीभांति देख-रेख करता हुआ उस पर नजर रखे था।

वैसे सब बालकों का नौ माह में प्रसव होता है; परन्तु होनहार के अनुसार कृष्ण श्रवण नक्षत्र में भाद्रमास

के शुक्ल पक्ष की द्वादशी को सातवें ही महीने में अलक्षित रूप से उत्पन्न हो गये। नवजात बालक का शरीर शंख, चक्र आदि उत्तमोत्तम लक्षणों से युक्त था। ऐसे श्रीकृष्ण ने अपनी कान्ति से देवकी के प्रसूतिगृह को प्रकाशमान कर दिया।

उस समय उस पुण्यात्मा के प्रभाव से स्नेही बन्धुजनों के घरों में अपने आप अच्छे-अच्छे निमित्त प्रगट हुए और शत्रुओं के घरों में भय उत्पन्न करनेवाले निमित्त प्रगट हुए।

उन दिनों सात दिन से घनघोर वर्षा हो रही थी, फिर भी उत्पन्न होते ही बालक कृष्ण को मथुरा में राजा कंस के महल में देवकी के प्रसूतिगृह से बलदेव ने उठा लिया और पिता वसुदेव उन पर छाता तानकर रात्रि के समय ही प्रसूति घर से बाहर निकल आये। उस समय सब नगरवासी तो सो ही रहे थे। कंस और उसके सुभट भी गहरी नींद में निमग्न थे। यद्यपि गोपुर द्वार के किवाड़ बन्द थे; परन्तु पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के चरण युगल का स्पर्श होते ही उन किवाड़ों में निकलने योग सांध (स्थान) बन गया, जिससे वे बाहर निकल गये।

संयोग से उसीसमय पानी की कुछ बूँदे बालक कृष्ण की नाक में चली गईं, जिससे उसे छींक आ गई। उस छींक का शब्द (ध्वनि) अत्यन्त गंभीर थी। उस छींक की आवाज से उसी गोपुर के द्वार के ऊपर सोते हुए कंस के पिता जाग गये। उसीसमय एक आवाज आई कि 'तू निर्विघ्न रूप से चिरकाल तक जीवित रहे।'

गोपुर के ऊपर कंस ने अपने पिता राजा उग्रसेन को बन्धक बना कर रखा था। उक्त आशीर्वाद उन्हीं ने दिया था। उनके इस आशीर्वाद को सुन बलदेव ने निवेदन किया कि हे पूज्य ! इस रहस्य को रहस्य ही रखा जाये। देवकी के इस पुत्र से ही आपका भी छुटकारा होगा। उग्रसेन ने तथास्तु अर्थात् ऐसा ही होगा कहकर उन्हें आश्वस्त किया।

उग्रसेन के द्वारा आश्वासन और आशीर्वाद प्राप्त कर वे शीघ्र ही नगरी से बाहर निकल गये। यद्यपि एक बैल उन्हें मार्ग दिखाता हुआ वेग से आगे-आगे जा रहा था। फिर भी मार्ग में यमुना का अखण्ड प्रवाह एक बाधा लग रही थी, परन्तु श्रीकृष्ण के पुण्यप्रभाव से नदी का महाप्रवाह शीघ्र ही रुक गया और यमुना नदी को पार कर वे वृन्दावन की ओर बढ़ गये।

वहाँ गाँव के बाहर गायों के खिरका में अपनी पत्नी यशोदा के साथ सुनन्द नामक गोप रहता था। वह वंश परम्परा से चला आया बलदेव एवं वसुदेव का विश्वासपात्र व्यक्ति था। उन्होंने रात्रि में ही उसे देखा और दोनों (दम्पत्ति) को बालक कृष्ण को सौंपकर कहा – देखो भाई ! यह पुत्र विशाल नेत्रों का धारक जगत का हितकारी महान पुण्यवान व्यक्ति है। इसे अपना पुत्र समझ कर इसका भलीभांति पालन-पोषण करो और यह रहस्य किसी को प्रगट न हो – इस बात का पूरा ध्यान रखो। यह कहकर तथा उसीसमय यशोदा के उदर से उत्पन्न हुई पुत्री को लेकर दोनों वहाँ से शीघ्र वापस आ गये तथा शत्रु कंस का विश्वास कायम रखने के लिए उसे अर्थात् यशोदा की पुत्री को रानी देवकी के लिए देकर गुप्तरूप से बैठ गये।

इधर बहिन की प्रसूति का समाचार पाकर निर्दयी कंस प्रसूतिगृह में घुस गया। वहाँ निर्दोष कन्या को देखकर यद्यपि उसका क्रोध शान्त हो गया था, तथापि दीर्घदर्शी होने के कारण उसने विचार किया कि कदाचित् इसका पति मेरा शत्रु हो सकता है। इस शंका से आकुलित होकर उसने उस कन्या को स्वयं उठा लिया और हाथ से मसलकर उसकी नाक चपटी कर दी।

इसप्रकार देवकी के मन को सन्ताप करनेवाले कंस ने जब देखा कि अब इसके पुत्र होना बन्द हो गये हैं। तब वह संतुष्ट हो हृदय की क्रूरता को छिपाता हुआ कुछ दिनों तक सुख से रहा।

इधर देवकी के सातवें पुत्र का जातिसंस्कार कर 'कृष्ण' नाम रखा गया। बालक कृष्ण ब्रजवासी नन्द और यशोदा की अभूतपूर्व प्रीति को बढ़ाता हुआ उनके घर सुख से बढ़ने लगा। जब वह बालक हाथ-पैर चलाता था तो उसकी हथेलियों और पैरों के तलवों की रेखा से अंकित गदा, खड़ग, चक्र, अंकुश, शंख तथा पद्म आदि वीरता और महापुरुष के प्रतीक प्रशस्त चिह्न देखकर गोप-गोपियों के मन उसकी ओर सहज आकर्षित होते थे।

उस मनोहर बालक को देखने के लिए गोपिकायें स्तनपान कराने के बहाने आती हैं और उन्हें टकटकी लगाकर देखती रहतीं, वे बालक के रूप-लावण्य को देखने से तृप्त ही नहीं होतीं।

इधर कंस के हितैषी वरुण नामक निमित्तज्ञानी ने उससे कहा कि – हे राजन ! यहीं-कहीं नगर अथवा

वन में तुम्हारा शत्रु (घातक) बढ़ रहा है, उसकी खोज करना चाहिए। तदनन्तर शत्रु के नाश को भावना से कंस ने तीन दिन का उपवास किया। फलस्वरूप पूर्वभव में कंस ने, सेवा के लिए आईं जिन देवियों का यह कहकर वापस कर दिया था कि अभी कुछ काम नहीं, आगे कभी आवश्यकता पड़ने पर सहायता करना। वे देवियाँ पुनः उपस्थित होकर कंस से बोली – हम तुम्हारे पुण्य फल से प्राप्त हुईं देवियाँ हैं। अब आप हमारे लायक सेवा कार्य बताइए। नारायण एवं बलभद्र के अलावा यदि किसी शत्रु को नष्ट करना हो तो कहिए।

कंस ने कहा – हमारा कोई वैरी कहीं गुप्त रूप से बढ़ रहा है, तुम उस पर दया न करके शीघ्र ही उसे मृत्यु लोक में पहुँचा दो।

कंस का आदेश पाकर वे देवियाँ श्रीकृष्ण को मारने का प्रयास करने लगीं।

एक देवी भयंकर पैनी चोंच वाले पक्षी का रूप धरकर बालक कृष्ण पर चोंच से प्रहार करने लगी, किन्तु कृष्ण ने उसकी चोंच को पकड़कर इतने जोर से दबाया कि वह प्रचण्ड शब्द कर चिल्लाती हुई भाग गई।

दूसरी कुपूतना बनकर आयी और कृष्ण को अपने विषैले स्तनपान कराने लगी, किन्तु देवताओं से अधीष्ठित श्रीकृष्ण का मुख अत्यन्त कठोर हो गया और ज्यों ही उन्होंने जोर लगाकर स्तन चूसा तो वह पीड़ा से चिल्लाने लगी। तीसरी देवी शकट का रूप धर कर डराने लगी; किन्तु उसे भी बालकृष्ण ने लात मारकर भगा दिया।

बालक कृष्ण यशोदा के पास नानाप्रकार की बाल सुलभ क्रियाएँ करके माता यशोदा का मनोरंजन करते। कभी छाती के बल सरकते। कभी लड़खड़ाते, कभी दौड़े-दौड़े फिरते, कभी मधुर आलाप करते, कभी मक्खन चुराकर खाते।

एक दिन उपद्रव की अधिकता के कारण यशोदा ने कृष्ण का पैर रस्सी से बांध दिया, उसी दिन शत्रु की दो देवियाँ जमल व अर्जुन वृक्ष का रूप रखकर, उन्हें पीड़ा देने लगीं, किन्तु कृष्ण ने उस बंधन की दशा में भी दोनों देवियों को मारकर भगा दिया।

जब सुनन्द गोप और यशोदा ने कृष्ण के बाल्यकाल में ही ऐसी अद्भुतशक्ति देखी तो वे आश्चर्यचकित रह गये । एक दिन छटवीं देवी ऐसे उपद्रवी बैल का रूप बनाकर आयी, जो पूरे नगर में भयंकर आवाज करता हुआ यत्र-तत्र दिखाई देता था । कृष्ण ने उसकी गर्दन मरोड़कर दूर भगा दिया । सातवीं देवी ने पत्थर वर्षा कर कृष्ण को मारना चाहा; परन्तु कृष्ण उस वर्षा से रंचमात्र भी व्याकुल नहीं हुए; प्रत्युत उन्होंने घबराये हुए गोकुलवासियों की रक्षा करने के लिए गोवर्धन पर्वत को सिर पर ले लिया ।

जब श्रीकृष्ण की इस लोकोत्तर चर्चाओं का पता कानो-कान बलदेव को चला ते उन्होंने माता देवकी के सामने भी कृष्ण के समाचार कह सुनाये । कृष्ण के विषय में यह सब सुनकर पुत्र को देखने के लिए देवकी ब्रज-गोकुल की ओर गई । वहाँ गोवर्धन पर्वत की चोटी पर स्थित गोपालकों के मुख से गीत सुनकर एवं गोधन के साथ गोपों को वनखण्ड में देखकर देवकी परम संतोष को प्राप्त हुई । जो घास और पानी से सन्तुष्ट थी, जिनके थनों से बछड़े लगे हुए थे, गोपाल जिन्हें दुह रहे थे - ऐसी गोशालाओं में खड़ी सुन्दर गायों को देखकर माता देवकी रोमांचित हो गई । मन ही मन हर्षित नन्द गोप ने यशोदा के साथ जाकर अनेक लोगों के समूह सहित गौरवशालिनी देवकी को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया ।

तत्पश्चात् यशोदा ने आकर्षक व्यक्तित्व के धनी, वस्त्राभूषणों से सुसज्जित, मोरपंख की कलंगी लगाये अनेक बाल-गोपालों के साथ श्रीकृष्ण को लाकर माता देवकी को प्रणाम करने के लिए कहा । उत्तम गोप के वेष को धारण किए हुए कृष्ण माँ को प्रणाम करके बैठ गये ।

देवकी ने यशोदा से कहा - हे यशोदे ! तू सौभाग्यशालिनी है, जो ऐसे पुत्र का निरन्तर दर्शन करती है । तेरा तो वन में रहना भी प्रशंसनीय है । ऐसे पुत्र पर तो तीन लोक का राज्य भी न्योछावर कर दिया जाय तो भी कम है ।

उत्तर में गोपी यशोदा ने कहा - हे स्वामिन् ! आपने कृष्ण के विषय में जो कहा वह शत-प्रतिशत सत्य है । मुझे पूरी तरह संतोष और सुख देनेवाला यह आपका पुत्र आपके प्रिय आशीर्वाद से चिरंजीव रहे, यही मेरी हार्दिक कामना है ।

इसी बीच पुत्र को देखने और उसके प्रति हृदय में उमड़े मातृस्नेह से देवकी रानी के दोनों स्तनों में से दूध की धारा झरने लगी। स्तनों से झरती दुग्धधारा उनके पवित्र निश्छल प्रेम की प्रतीक तो थी ही, यह भी सिद्ध कर रही थी कि केवल शत्रु के भय से उसे यशोदा के पास छोड़ा है।

दुग्ध की धारा वस्त्रों के बाहर आ जाने से कहीं 'असली माँ कौन है' यह रहस्य न खुल जाय, इस भय से बुद्धिमान बलदेव ने अपनी प्रत्युत्पन्नमति से देवकी के माथे पर एक दूध का भरा धड़ा उड़ेल दिया। तदनन्तर कृष्ण के देखने से जिसे असीमित सुख प्राप्त हुआ था – ऐसी साध्वी माता देवकी को बलदेव मथुरा वापिस ले आये। इसके बाद उन्होंने यह समाचार अपने पिता वसुदेव के लिए भी सुनाये।

कृष्ण जन्म से ही प्रतिभाशाली बुद्धिमान एवं अत्यन्त चतुर थे। बलदेव ने प्रतिदिन जाकर उनकी प्रतिभा को प्रस्फुटित करने एवं बुद्धि को विकसित करने हेतु उन्हें शीघ्र ही विभिन्न कलाओं और गुणों की शिक्षा दी थी। सो उचित ही किया; क्योंकि शिक्षा के पात्र को पाकर कोई भी शिक्षक शिक्षा देने के अवसर को नहीं चूकते। शीघ्र ही उसे ज्ञानदान देकर निपुण बना देते हैं।

अत्यन्त कोमल हृदय, अत्यन्त निर्विकार कुमार कृष्ण क्रीड़ाओं के समय अतिशय यौवन के उन्माद से भरी एवं पीनस्तनी गोप कन्याओं को रासक्रीड़ा कराते समय अपनी उंगलियों के स्पर्श से उन्हें सुखद अनुभूति कराते हुए भी स्वयं निर्विकारी रहते थे।

जिसप्रकार उत्तम अंगूठी में जड़ा हुआ श्रेष्ठमणि पहनने वाले को सुखद लगता हुआ भी स्वयं निर्विकार रहता है, वह मणि अंगुली का स्पर्श करता हुआ भी स्वयं रोमांचित नहीं होता, निर्विकारी रहता है। वैसे ही कृष्ण यौवन सम्पन्न गोपियों के साथ क्रीड़ा करते हुए भी निर्विकारी रहते थे।

खेल के समय श्रीकृष्ण को पाकर लोगों को प्रसन्नता होती थी, उसीप्रकार उनके अभाव में लोगों को विरहजन्य संताप भी होता था।

कृष्ण की लोकोत्तर चेष्टायें सुनकर एक दिन कंस को इनके प्रति सन्देह हो गया। श्रीकृष्ण को बैरी

जानकर खोजने के लिए वह गोकुल आया। माता यशोदा ने किसी उपाय से उन्हें आत्मीय जनों के साथ नगर के बाहर ब्रज भेज दिया।

कंस को जब कृष्ण गोकुल में नहीं मिले तो वह वापस मथुरा आ गया। जब वह मथुरा लौटा तभी उसके यहाँ सिंहवाहिनी नागशय्या, अजितंजय नामक धनुष और पाँचजन्य नामक शंख प्रगट हुए। कंस के ज्योतिषी ने बताया कि - 'जो कोई सिंहवाहिनी नागशय्या पर चढ़कर अजितंजय नामक धनुष पर डोरी चढ़ा दे और पाँचजन्य शंख को फूँक दे, वही तुम्हारा शत्रु है।' ज्योतिषी के कहे अनुसार कार्य करनेवाले कंस ने अपने शत्रु की तलाश करने के लिए आत्मीय जनों द्वारा नगर में उक्त घोषणा करा दी। साथ ही कहा कि - जो उक्त तीनों काम करेगा वह सर्वश्रेष्ठ पराक्रमी समझा जायेगा तथा उसे कंस अलभ्य इष्टवस्तु देगा।

कंस की यह घोषणा सुनकर अनेक राजा मथुरा आये परन्तु कोई सफल नहीं हुआ। एक दिन कंस की पत्नी जीवद्यशा का भाई भानु किसी काम से गोकुल गया। वहाँ कृष्ण का अद्भुत स्वरूप देखकर प्रसन्न हुआ और उन्हें मथुरा ले गया। मथुरा में श्रीकृष्ण उस सिंहवाहिनी नागशय्या पर सामान्य शय्या के समान चढ़ गये।

तदनन्तर उन्होंने सांपों के द्वारा उगले हुए जहरीले धूम को बिखेरनेवाले धनुष को प्रत्यंचा पर चढ़ा दिया और शब्दों से समस्त दिशाओं को भरनेवाले शंख को खेदरहित होकर फूँक दिया।

उस समय कृष्ण के प्रगट होते हुए लोकोत्तर माहात्म्य को देखकर समस्त लोगों ने घोषणा की कि अहो ! क्षुभित समुद्र के समान शब्द करनेवाला यह कोई महान पुरुष है। कृष्ण का यह पराक्रम देख बड़े भाई बलदेव को दुष्ट कंस से आंशका हो गई, अतः उन्होंने कृष्ण को अकेला नहीं जाने दिया। लोगों से कहा कि कृष्ण बहुत गुणी हैं, अतः इनको सम्मान सहित भेजने जाओ।

वस्तुतः बात यह है कि जिसने पूर्व जन्म में जिनधर्म की आराधना कर पुण्यार्जन किया है, उसका बड़े से बड़ा शक्तिशाली शत्रु भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

यद्यपि कंस श्रीकृष्ण की अलौकिक चेष्टाओं से और उनके बल-पौरुष से परिचित हो चुका था, तथापि उनको नष्ट करने में अपनी अकल लगाने वाले कंस ने श्रीकृष्ण एवं गोपों को कमल लाने के लिए यमुना नदी के उस तालाब में भेजा जहाँ भयंकर काले नाग रहते थे।

अपनी भुजाओं के बल और दृढ़ आत्मविश्वास से श्रीकृष्ण सहज ही उस तालाब में घुस गये। श्रीकृष्ण के अन्दर प्रवेश करते ही महा भयंकर कालिया नाग क्रोधित होकर फुंकारता हुआ सामने आ गया। उस काले नाग के फण पर जो मणियाँ थीं, उनसे वह ऐसा लगता था मानों आग के अंगारे उगल रहा हो। यद्यपि वह नाग जिस पर भी फुंकार करता वह प्राणी तत्काल ही प्राण छोड़ देता; परन्तु ऐसे भयंकर नाग का भी श्रीकृष्ण ने उसी समय मर्दन कर डाला। उसे निर्विष कर दिया।

उनके साथी शेष गोप और बलभद्र जो डर के मारे यमुना नदी के किनारे पेड़ों पर छुपकर बैठ गये थे, उन्होंने श्रीकृष्ण की जो जय-जयकार की, उससे वहाँ का सारा वातावरण गूँज गया और कृष्ण का शरीर हर्ष से रोमांचित हो गया और वे शीघ्र ही वांछित कमल तोड़कर यमुना के किनारे तालाब के तट पर आ गये। देदीप्यमान श्रीकृष्ण ज्यों ही तालाब के बाहर निकले त्यों ही आनंद से विवश बलभद्र ने दोनों भुजाओं से उनका आलिंगन किया।

संतो ने ठीक ही कहा है 'पुण्यवान पुरुष जहाँ भी जायेगा सफलता उसके चरण ही चूमेगी।' यदि हम पुण्यकार्य करें तो सफलता हमारे भी चरण चूमेगी।

गोपालों के द्वारा लाकर सामने रखे हुए कमलों को देखकर कंस की छाती पर साँप लोट गये, वह गरम-

गरम उच्छ्वास छोड़ने लगा। मानो उसे साँप सूँघ गया हो। पर वह अभी भी निराश नहीं हुआ। कृष्ण को खत्म करने का उसका अगला कदम था - “कृष्ण सहित सभी गोप मल्लयुद्ध के लिए तत्काल तैयार हो जायें।”

एतदर्थ कंस ने भी मल्लयुद्ध के लिए अपने बड़े-बड़े मल्लों को बुला लिया। स्थिर बुद्धि के धारक वीर वसुदेव ने शत्रु कंस की इस कुचेष्टा को तत्काल समझ लिया और उन्होंने अपने सब भाइयों को यह बात बतलाने तथा उन्हें शीघ्र ही मथुरा में उपस्थित होने के लिए खबर भेज दी। कंस के अभिप्राय को समझने वाले वसुदेव के नौ भाई समाचार पाते ही रथ घोड़े और मन्दोन्मत्त हाथियों से युक्त अपनी सेनाओं के द्वारा पृथ्वी को रौंधते हुए मथुरा की ओर चल पड़े।

यदुवंशी राजाओं की विशाल सेना को मथुरानगरी की ओर आया देख यद्यपि कंस सशंकित था तथापि जब उसे यह बताया गया कि ये चिरकाल से वियुक्त अपने छोटे भाई वसुदेव को देखने के लिए आये हैं, तब कंस ने निःशंक हो सामने जाकर उन सबका स्वागत किया और छोटे भाइयों सहित उन समस्त भाइयों का नगर में प्रवेश कराया तथा रहने हेतु उत्तमोत्तम भवन प्रदान किए। कपटी कंस दान, सम्मान द्वारा प्रतिदिन उनकी सेवा करता था। यद्यपि वह बाह्य में ऐसा अनुकूल व्यवहार दिखा रहा था, परन्तु उसके अन्तरंग में उन सबके प्रति अत्यन्त वैरभाव था।

एक दिन अत्यन्त विज्ञ, निपुणमति, कृष्ण के हृदय में युद्ध की ज्वाला जगाने वाले, धीर-वीर बलभद्र ने गोकुल जाकर यशोदा को कृष्ण के सामने ही ऐसे कटुक वचन कह दिए, जो पहले कभी नहीं कहे थे, इसकारण वह बहुत ही चकित और भयभीत हो गई। यद्यपि उसने प्रत्युत्तर में कहा कुछ भी नहीं; किन्तु उसके नेत्र सजल हो गये। आँखों से अश्रुधारा फूट पड़ी। वह चुपचाप शीघ्र ही स्नान कर भोजन बनाने के लिए अवसरानुकूल प्रयत्न करने लगी। इधर कृष्ण और बलदेव - दोनों स्नान करने के लिए नदी चले गये।

एकान्त में बलभद्र ने कृष्ण से कहा कि - “आज तुम्हारा यह मुख कमल तुषार से कुम्हलायें कमल की भाँति मुरझाया हुआ क्यों है ?

श्रीकृष्ण ने कहा - मुझे इस बात का अफसोस है कि - जब आप लोग उनके मनोविज्ञान से भी सुपरिचित हैं; फिर भी आपने हमारी पूज्य माता यशोदा का तिरस्कार क्यों किया?”

बलदेव ने स्नेहवश प्रत्युत्तर में कृष्ण को गले लगाते हुए दोनों भुजाओं से गाढ़ आलिंगन किया और अविरल अश्रुधारा से हृदय की स्वच्छ वृत्ति को अभिव्यक्त करते हुए कृष्ण से कंस की दुष्ट प्रवृत्तियों का वह सब वृत्तान्त कहा, जो देवकी के साथ घटित हुआ था। तुम वस्तुतः देवकी के उदर से उत्पन्न हुए हो और यशोदा के घर में गुप्तरूप पले और बड़े हुए हो। संयोग से नौ माह के बजाय सात माह में ही तुम्हारा प्रसव हो गया था, इसकारण कंस को देवकी की प्रसूति का जब तक पता लगा, उसके पहले ही हम लोगों ने तुम्हें यशोदा के पास सुरक्षित पहुँचा दिया था और तुम्हारे बदले यशोदा के उदर से उत्पन्न कन्या देवकी के प्रसूतिगृह में पहुँचा दी थी। तुम्हारे छह बड़े भाइयों की रक्षा भी इसी प्रकार देवियों द्वारा की गई है। इस तरह मृत्यु भय से भयभीत कंस अपनी समझ से देवकी से उत्पन्न सभी संतानों को नष्ट करके अपने जीवन की सुरक्षा समझ कर निश्चिन्त हो गया है। अब उससे प्रतिकार का अवसर आ गया है। अतः किसी भी तरह विलम्ब नहीं करना है। यशोदा द्वारा विलम्ब होते देख मुझे क्रोध आ गया था। कंस की व्यथा-कथा सुन कर श्रीकृष्ण के हृदय में प्रतिशोध की ज्वाला जलने लगी। बस, यही बलदेव चाहते थे।

कंस को जैनदर्शन के वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त का विश्वास नहीं था, वस्तुतः उसका अज्ञान ही उसकी आकुलता का कारण था, इसे न जानकर भ्रूण हत्या जैसे महापाप कार्य में वह प्रवृत्त हुआ। युद्ध में आत्मरक्षा के लिए आमने-सामने लड़ना अलग बात है, वह विरोधी हिंसा है और मृत्यु के भय से भ्रूण हत्यायें कराना बिल्कुल अलग बात है, यह संकल्पी हिंसा है। इन दोनों में जमीन-आसमान का महान अन्तर है।

देखो, इस कंस ने गर्भाधान के समय से लेकर शत्रु को मारने के जो नाना साधन जुटाये, वह उससे सचमुच अक्षम्य अपराध हुआ है, महापाप है। इसका कठोर दण्ड उसे मिलना ही चाहिए।

--

--

--

जब कृष्ण ने बड़े भाई बलभद्र से समस्त हरिवंश, पिता, गुरु, बन्धु तथा भाइयों के कुशल समाचार जाने तो वे अत्यधिक आनन्द से प्रफुल्लित हो गये।

तत्पश्चात् जन्मजात हितबुद्धि से उत्पन्न स्नेह से जिनके अन्तःकरण परस्पर मिल रहे थे, जलक्रीड़ा में जो अत्यन्त चतुर थे, ऐसे दोनों भाइयों ने यमुना नदी में स्नान किया। तदनन्तर दोनों भाई उन्हीं गोपों के साथ-साथ अपने घर आ गये और सरस भोजन किया।

अपने मन में कंस को युद्ध में परास्त करने का निश्चय कर चंचल चरणों के आघात् से पृथ्वी को कम्पित कर रहे थे - ऐसे वे दोनों भाई भयानक मल्लों के वेग से युक्त गोपों के साथ शीघ्र ही मथुरा की ओर चल पड़े। मार्ग में कंस के भक्त एक असुर ने नाग का रूप धारण किया, दूसरे ने कटु शब्द करने वाले गधा का और तीसरे ने दुष्ट घोड़े का रूप बनाया तथा नगर प्रवेश में विघ्न डालते हुए सबके सब मुँह फाड़कर सामने आये, परन्तु श्रीकृष्ण ने सबको मार भगाया।

मथुरा नगरी में प्रवेश करते हुए दोनों भाई - कृष्ण-बलदेव जब कंस के द्वार पर पहुँचे तो कंस की आज्ञा से उन पर एक साथ दो उन्मत्त हाथी छोड़ दिए गये। उन चिंघाड़ते हुए मदोन्मत्त हाथियों के आक्रमण से वे घबराये नहीं, प्रत्युत उन्होंने हाथियों का सामना किया।

हाथियों को परास्त कर दोनों भाई नगर में प्रविष्ट हुए। वहाँ मल्लयुद्ध की रंगभूमि में पहुँचते ही बलभद्र ने कृष्ण से वहाँ उपस्थित लोगों का परिचय कराया। “यह कंस है, ये जरासन्ध के आदमी हैं, और ये अपने-अपने पुत्रों सहित समुद्रविजय आदि दशों भाई हैं।”

कंस की आज्ञा पाकर अखाड़े में बारी-बारी से अन्य अनेक मल्ल जंगली भैंसों के समान अहंकारी हो मल्लयुद्ध करने लगे। जब साधारण मल्लों का युद्ध हो चुका तब कंस ने कृष्ण से लड़ने के लिए उस चाणूरमल्ल को आज्ञा दी जो पर्वत की विशाल दीवाल के समान विस्तृत वक्षःस्थल वाला था और जिसने अपने मजबूत भुजयंत्र से बड़े-बड़े अहंकारी मल्लों को पछाड़ गिराया था। फिर क्या था, स्वयं श्रीकृष्ण और चाणूरमल्ल परस्पर मल्ल युद्ध में जुट गये।

सिंह के समान दोनों ने पैर जमा कर मुट्टियाँ बाँधकर सर्वप्रथम मुष्टियुद्ध प्रारंभ किया, परस्पर मुक्केबाजी की। बज्र के समान कठोर मुट्टि वाला मुष्टिक मल्ल पीछे से कृष्ण पर मुट्टि का प्रहार करना ही चाहता था कि इतने में बलभद्र ने शीघ्रता से हस्तक्षेप करते हुए कहा - बस, बस ! ठहर ! यह कहते हुए मुँह पर और शिर पर जोर से मुक्का लगाकर उसे प्राण रहित कर दिया। इधर सिंह के समान शक्ति के धारक एवं मनोहर हुंकार से युक्त श्रीकृष्ण ने भी चारुण मल्ल को, जो श्रीकृष्ण के शरीर से दूना था, उसे अपने वक्षस्थल से लगाकर भुजाओं के द्वारा इतने जोर से दबाया कि रुधिर की धारा बहने लगी और वह अल्पकाल में ही निष्प्राण हो गया।

ज्ञातव्य है कि श्रीकृष्ण और बलभद्र में एक हजार सिंह और हाथियों के बराबर बल था। इसप्रकार अखाड़े में जब उन्होंने कंस के दोनों प्रधान मल्लों को मार डाला तो कंस क्रोधावेश में आकर अपने विवेक और क्षमता को भूलकर स्वयं हाथ में पैनी तलवार लेकर उनकी ओर चला। उसके चलते ही समस्त अखाड़े का जनसमूह समुद्र की भाँति जोरदार शब्द करता हुआ उठ खड़ा हुआ। कृष्ण ने सामने आते हुए कंस के हाथ से तलवार छीन ली और मजबूती से उसके बाल पकड़ उसे पृथ्वी पर पछाड़ कर मार डाला।

ठीक ही है - बुद्धि होनहार का ही अनुसरण करती है। लोक में भी यह कहावत प्रसिद्ध है कि - 'जब सियार की मौत आती है तो वह शहर की ओर भागता है।' यही कंस के साथ हुआ।

कंस की सेना सामने आयी तो उसे देख बलराम की भौहें टेढ़ी हो गईं। उन्होंने उसी समय मंच का एक

खम्भा उखाड़ कर उसके बज्रतुल्य कठोर आघातों से उस सेना को क्षणभर में खदेड़ दिया। कंस के सहयोग में नियुक्त जरासंध की सेना ने ज्यों ही शक्तिशाली यादव लोगों की चंचल समुद्र के समान शब्द करनेवाली सेना को युद्ध के लिए सन्नद्ध देखा, त्यों ही उसकी समस्त सेना तितर-बितर हो गई।

तदनन्तर मल्ल के वेष में ही दोनों भाई अनावृष्टि के साथ चार घोड़ों से रथ पर सवार होकर अपने पिता वसुदेव के पास गये। वहाँ समुद्रविजय आदि राजा तथा अन्य अनेक यदुवंशियों के समूह उपस्थित थे। वहाँ सभी पूज्य गुरुजनों का प्रणाम कर उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया।

कुबेर की उपमा को धारण करनेवाले वसुदेव और देवकी धीर-वीर पुत्र श्रीकृष्ण के मुख को देखकर अनुपम सुख को प्राप्त हुए। कंस ने जिसकी नाक चपटी कर दी थी, उस यशोदा की पुत्री-बहिन ने भी भाई को देख अनुपम आनन्द का अनुभव किया।

कंस के पिता राजा उग्रसेन, जो अब तक पुत्र के द्वारा ही बन्धन में पड़े थे, अब वे कंस के बन्धन से मुक्त हो चुके थे और कृष्ण के द्वारा पुनः मथुरा के राजा बना दिये गये थे। सज्जन और बुद्धिमान राजाओं का यही कर्तव्य है, जो कृष्ण ने किया।

इधर कंस का अन्तिम संस्कार हो चुका था। यादवों द्वारा कंस की मृत्यु के कारण उसकी विधवा पत्नी जीवद्यशा का यादवों पर कुपित होना तो स्वाभाविक ही था। पति के वियोग में रुदन करने से उसका गला रुंध गया था। वह अपने पिता जरासन्ध के पास पहुँची। वहाँ जाकर यदुवंशियों के द्वारा हुई पति कंस की मृत्यु एवं उसके परिवार की दुर्दशा का बखान करती हुई जोर-जोर से रुदन करने लगी तथा हाव-भावों द्वारा मानसिक पीड़ा की अभिव्यक्ति करके पिता जरासंध को क्षुभित कर दिया। कंस की विधवा पत्नी जीवद्यशा ने पिता की भावनाओं को उत्प्रेरित करते हुए कहा - हे पिताजी ! अबतक मैंने जो यह वैधव्य का दुःख सहा है, वह वैर का बदला चुकाने हेतु गर्व से फूले यादवों के रक्त से पृथ्वी तल को लाल-लाल देखने की आशा से सहा है।

राजा जरासन्ध ने विधवा बेटी जीवद्यशा को समझाते हुए पहले तो – तत्त्व का सहारा लिया, वस्तुस्वरूप के अवलम्बन से उसे शान्त करते हुए कहा – “बेटी ! अत्यधिक शोक मत कर, जो होता है वह होनहार और कर्मोदय के अनुसार ही होता है। जब, जो जिस निमित्त से होना होता है, वह तभी उन्हीं सब कारणों से होकर ही रहता है। अपने किये का फल तो प्रत्येक प्राणी को भोगना ही पड़ता है। दूसरों की शक्ति का तिरस्कार या सत्कार करनेवाला दैव ही इस संसार में प्रधान है। हमारे द्वारा कभी किसी को इसीप्रकार की पीड़ा पहुँचाई गयी होगी। व्यक्ति पाप तो हंस-हंसकर बांधता है और जब उसके फल भोगने का समय आता है तो रुदन करता है। ऐसे विलाप और रुदन करने से तो पुनः असाता कर्म का बन्ध होता है, अतः रुदन करना छोड़ !”

आगे तात्कालिक समाधान के लिए यह भी कहा – तू चिंता मत कर ! हम तेरे साथ हुए अन्याय का बदला शत्रुपक्ष से लेंगे। उन यादवों को इतना भी विवेक नहीं है। खेत में घुसने का इच्छुक पशु भी वध की आशंका से सबसे पहले निकलने का निरुपद्रव मार्ग देखता है; परन्तु तेरे पति कंस को मारते समय इन मत्त यादवों ने इतना भी विवेक नहीं रखा। इससे स्पष्ट है कि अब इन्होंने मेरे द्वारा अपनी मौत को ही आमंत्रण दिया है। इसतरह जीवद्यशा को आश्वस्त किया और कहा – हे वत्से ! ये भले अब तक तेरे चरण की शरण प्राप्त कर निष्कंटक रहे हों और भले ही ये बलवान हों; तथापि अब यह निश्चित है कि ये शीघ्र ही मेरे क्रोध से बरसनेवाली दावानल की ज्वालाओं से भस्म होने वाले हैं।

इसप्रकार प्रियवचन रूपी जल से पुत्री की क्रोधाग्नि को शान्तकर स्वयं क्षोभ को प्राप्त हुए राजा जरासंध ने यादवों को मारने के लिए यमराज के तुल्य अपने कालयवन नामक पुत्र को आदेश दिया।

कालयवन हाथी, घोड़ा रथ आदि से युक्त सेना के साथ शत्रु के सम्मुख चला और यादवों के साथ सत्रह बार भयंकर युद्ध कर अतुलमालावर्त पर्वत पर स्वयं नष्ट हो गया; यहाँ भी ‘होनहार’ का विचार कर ही संतोष होता है,

तत्पश्चात् जरासंध का भाई अपराजित जो यथानाम तथागुण सम्पन्न अब तक अपराजित ही रहा था, उस वीर अपराजित ने यादवों के साथ स-दल-बल तीन सौ छयालीस बार युद्ध किया; परन्तु अन्त में वह भी श्रीकृष्ण के बाणों की नोंक से निष्प्राण कर दिया गया।

आचार्य कहते हैं, जब तक प्राणियों को स्व-पर कल्याणकारक धर्म का आलम्बन रहता है; तब तक कषायों की मन्दता रहती है और उन्हें अहंकार-ममकार नहीं होता। इसकारण वे सतत् सातिशय पुण्य बांधते रहते हैं। फलस्वरूप उन्हें वर्तमान में तो लौकिक अनुकूलता मिलती ही है और आगे चलकर वे अपूर्व पुरुषार्थ से कर्मों का अभाव करके अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करते हैं। तथा जो अज्ञान के कारण अहंकारी होकर दूसरों का बुरा-भला करने की ही सोचते रहते हैं वे पुण्यकर्म कम और पाप ही अधिक बांधते हैं; जैसे कि कंस, जरासंध, अपराजित आदिने किया - ऐसे जीव वर्तमान में तो आकुल-व्याकुल रहते ही हैं। उनका भविष्य भी अंधकारमय ही होता है। अतः सभी जीवों को धर्म की शरण में ही सदैव रहना चाहिए। ●

“भला जिनके पैर कब्र में लटके हों, जिनको यमराज का बुलावा आ गया हो, जिनके सिर के सफेद बाल मृत्यु का संदेश लेकर आ धमके हों, जिनके अंग-अंग ने जवाब दे दिया हो, जो केवल कुछ ही दिनों के मेहमान रह गये हों, परिजन-पुरजन भी जिनकी चिर विदाई की मानसिकता बना चुके हों, अपनी अन्तिम विदाई के इन महत्त्वपूर्ण क्षणों में भी क्या उन्हें अपने परलोक के विषय में विचार करने के बजाय इन व्यर्थ की बातों के लिए, विकथाओं के लिए समय है ?, जिसका अनन्त दुःख है” यह एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय बिन्दु है। यह सोच-सोच कर मेरा मन व्यथित होने लगा।

तीर्थकर भगवान नेमिनाथ के जीव के स्वर्गावतरण से छह माह पहले से लेकर जन्म पर्यन्त पन्द्रह माह तक कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा से राजा समुद्रविजय के घर धन की वर्षा की। वह धन की धारा प्रतिदिन तीन बार साढ़े तीन करोड़ रत्नों के रूप में होती थी – ऐसा आगम में उल्लेख है। आगम में यह भी लिखा है कि इस धन से याचक या दीन-हीन, दीन-दुःखी प्राणी धनाभाव की पूर्ति कर सन्तुष्ट हो जाते थे।

इससे यह तो स्पष्ट है ही कि तीर्थकर जैसे पुण्यवान एवं पवित्र आत्मा जब जगत में जन्म लेते हैं, अवतरित होते हैं तो उनके निमित्त से और धनहीनों के भाग्योदय से नगर में सहज सम्पन्नता हो जाती है – तीर्थकर जीव के सातिशय पुण्य का ऐसा ही प्रभाव होता है, अतः ऐसे कथनों में शंका करने की ऐसी कोई गुजांइश नहीं है कि 'रत्नों की वर्षा में वे देवों द्वारा बरसाये रत्न कैसे होंगे ? उनका मार्केट में क्या मूल्य होगा ?' यह शब्द समृद्धि का प्रतीक भी तो हो सकता है। जैसे लोक में अनाजों की फसलों की आवश्यकतानुसार जब अनुकूल जलवर्षा होती है तो लोग कहते हैं कि यह पानी नहीं सोना बरस रहा है। इससे कोई ऐसा नहीं मानता कि ओलों की भांति स्वर्ण के कण बरसते होंगे और लोग लूटते-फिरते होंगे, झगड़ते होंगे।

अतः ऐसे अतिशयों की जहाँ-जहाँ चर्चा आई है, उन्हें समृद्धि का प्रतीक मानकर भी तो अपनी श्रद्धा कायम रखी जा सकती है। जैनेतर धर्मग्रन्थों एवं साहित्य के क्षेत्र में अतिशयोक्ति, अन्योक्ति आदि अलंकारों की भाषा में भी तो सारी दुनिया श्रद्धा रखती ही है न ! तथा देवों की सामर्थ्य असीमित होती है, अतः रत्नों की वर्षा जैसे कथनों में अश्रद्धा को कोई स्थान ही नहीं है।

जैनदर्शन की ९० प्रतिशत बातें तो आज भी विज्ञान की कसौटी पर खरी उतर रही हैं तथा वैज्ञानिक नवीन अनुसंधानों में भी जैनदर्शन के सूक्ष्म भौतिक कथनों का भारी योगदान है। यह बात वैज्ञानिक भी मानते हैं।

सब दिशाओं से आई हुई दिक्कुमारी देवियाँ परिचर्या द्वारा माता शिवादेवी की सेवा कर रही थीं। वे माता की सेवा से यह सूचित कर रही थीं कि जो पुण्यशाली पवित्र आत्मा माता के गर्भ में आने वाला है, वह त्रिलोक पूज्य, जगत हितकारक, महान व्यक्ति होगा। पति के साथ मिलकर नाना प्रकार के अतिशय देखने से अत्यन्त हर्षित हो रही माता शिवादेवी ने एक दिन रात्रि में सोते समय उत्तम सोलह स्वप्न देखे।

पहले स्वप्न में – माता ने इन्द्र का ऐरावत हाथी देखा। दूसरे स्वप्न में – श्वेत रंग का सुन्दर सींगों वाला एवं लम्बी सास्ना वाला बैल देखा। तीसरे स्वप्न में – पर्वत के शिखर पर स्थित, अत्यन्त लम्बा श्वेत सिंह देखा। चौथे स्वप्न में – हाथियों द्वारा सुगंधित जल से अभिषिक्त, हाथों में खिले कमल लिए एवं कमलासन पर बैठी लक्ष्मी देखी। पाँचवें स्वप्न में – दो लटकतीं मालायें तथा छठवें स्वप्न में – निर्मल आकाश के बीच अन्धकार को नष्ट करता हुआ चन्द्रमा देखा। सातवें स्वप्न में – सूर्य। आठवें में – मछलियों का युगल, नवें स्वप्न में – जल से भरे दो कलश। दसवें स्वप्न में – कमलों से सुशोभित राजहंस एवं उत्तम पक्षियों से युक्त बड़ा सरोवर देखा। ग्यारहवें स्वप्न में – रत्नों से सुशोभित महासागर, बारहवें स्वप्न में – सिंहासन, तेरहवें स्वप्न में – आकाश तल में विमान देखा। चौदहवें स्वप्न में – नागेन्द्र भवन, पन्द्रहवें स्वप्न में – उत्तम रत्नों की राशि और सोलहवें स्वप्न में – निर्धूम अग्नि देखी।

इसतरह स्वप्नदर्शन के बाद शिवादेवी ने देखा कि – एक सफेद ऐरावत हाथी आकाश से उतरकर मेरे मुख में प्रविष्ट हुआ है।

प्रातःकाल होने पर शिवादेवी पति के पास जाकर रात्रि में देखे सोलह स्वप्नों का फल पूँछती हैं। पति उनके स्वप्नों को सुनकर क्रमशः एक-एक स्वप्न का फल बताते हुए कहते हैं कि –

पहले स्वप्न में देखे ऐरावत हाथी का फल यह है कि 'तुम्हारे गर्भ में आज तीर्थंकर का जीव आ चुका है।'

दूसरे स्वप्न का फल यह है कि वह 'तेरा पुत्र अनेक जीवों का रक्षक होगा, निर्मल बुद्धि का धारक और जगत का गुरु होगा।'

तीसरा स्वप्न बताता है कि 'वह तीर्थंकर पद का धारक अनन्त वीर्य का धारक एवं धीर-वीर गंभीर होगा और अन्त में तपोवन जाकर दीक्षा लेकर कठिन तपश्चरण करेगा।'

चौथे स्वप्न का फल यह है कि 'जन्म लेते ही सुरेन्द्र तेरे पुत्र को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीर-सागर के (निर्जन्तुक निर्मल) जल से जन्माभिषेक करेंगे तथा वह पर्वत के समान स्थिर होगा।'

पाँचवें में 'मालाओं का देखना यह सूचित करता है कि वह पुत्र तीनों जगत में व्याप्त यश से सहित होगा। अनन्तज्ञान एवं अनन्त दर्शन रूपदृष्टि द्वारा समस्त लोकालोक को व्याप्त करेगा।'

छठवें में 'चन्द्रमा के देखने का फल यह है कि वह जिनेन्द्रचन्द्र दयारूपी चन्द्रिका से अत्यधिक सुन्दर होगा।'

सातवें में 'सूर्य का देखना यह सूचित करता है कि तेरा पुत्र तेज का पुंज होगा और अपने तेज द्वारा समस्त तेजस्वीजनों के तेज को जीत कर तीनों लोकों को अँधकार से रहित करेगा।'

आठवें स्वप्न में 'दो युगल मछलियों का देखना यह सूचित करता है कि - लौकिक सुख के साथ अतीन्द्रिय आनन्दमयी मोक्ष सुख को प्राप्त करेगा।'

नवमें स्वप्न में 'सुवर्ण कलशों का युगल देखना इसका प्रतीक है कि तुम्हारा पुत्र जगत के मनोरथों का पूर्ण करनेवाला होगा और उसके पुण्य के प्रभाव से यह घर निधियों से परिपूर्ण हो जायेगा।'

दसवें स्वप्न में 'कमलों से सुशोभित सरोवर का स्वप्न तृष्णा रहित पुत्र के उत्तम लक्षणों का प्रतीक है।'

ग्यारहवें स्वप्न से यह सूचित होता है कि - 'तुम्हारा पुत्र समुद्र के समान गंभीर बुद्धि का धारक होगा तथा उपदेश देकर जगत के जीवों को कीर्तिरूपी महानदियों से परिपूर्ण श्रुतज्ञानरूपी अमृत का पान करायेगा।'

बारहवें 'रत्नजड़ित सिंहासन को देखने से यह प्रगट होता है कि - तुम्हारे पुत्र की आज्ञा सर्वोपरि होगी और लगातार सम्मान को प्राप्त देव-दानवों के चित्रामों से अंकित उत्तम सिंहासन पर आरूढ़ होगा।'

तेरहवें में 'उत्तम विमान के देखने से यह सूचित होता है कि - विमानों के स्वामी इन्द्रों की पंक्तियों से उसके चरण पूजित होंगे। वह मानसिक व्यथा से रहित होगा, महान अभ्युदय का धारक होगा और बहुत बड़े मुख्य विमान से वह यहाँ अवतरित होगा।'

चौदहवें स्वप्न में 'नागेन्द्र के निकलते हुए भवन को देखने से यह प्रगट होता है कि तुम्हारा वह पुत्र संसार रूपी पिंजड़े को भेदनेवाला होगा एवं मति, श्रुत और अवधिज्ञानधारी होगा।'

पन्द्रहवें स्वप्न में 'आकाश में रत्नों की राशि देखने का फल यह है कि वह शरणागत जीवों को आश्रय देनेवाला होगा।'

सोलहवें स्वप्न में 'निर्धूम अग्नि देखना इस बात को दर्शाता है कि ध्यान रूपी प्रचण्ड अग्नि को प्रगट कर समस्त कर्मों के वन को जलायेगा।'

राजा समुद्रविजय ने रानी से कहा - 'हे प्रिये ! उस पुत्र के प्रभाव से रत्नजडित मुकुट तथा उत्तम कुण्डल आदि से सुशोभित इन्द्र साधारण राजाओं के समान सेवक होकर मेरी आज्ञा में खड़े रहेंगे तथा इन्द्राणियाँ तेरी सेवा में उपस्थित रहेंगी। हे प्रिये ! तेरी कूख से जो बाल तीर्थकर उत्पन्न होने वाला है, वह हम सबके कल्याण में निमित्त बनेगा और अपने पूरे यादव वंश की शोभा बनेगा।'

इसप्रकार पति के द्वारा कहे स्वप्नों के फल को सुनकर रानी शिवादेवी बहुत सन्तुष्ट और प्रसन्न हुई।

इस सर्ग से पाठकों को यह प्रेरणा प्राप्त होती है कि "भगवान कोई अलग नहीं होते। जो भी जीव विश्वकल्याण की भावना भाता है। वह स्वयं तो तत्त्वज्ञान प्राप्तकर वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझ से अपने आपमें आत्मिक शान्ति, निराकुल सुख की अनुभूति करता ही है, साथ ही उसके अन्दर ऐसी उज्ज्वल, परोपकार की भावना प्रबल रूप से जागृत होती है कि - "काश! सारा जगत इस स्वतंत्र स्वसंचालित विश्वव्यवस्था को समझ ले तो अनादिकालीन पर के कर्तृत्व के भार से, पर को सुखी-दुःखी करने की मिथ्या अवधारणाओं से जो परेशान रहता है, वे समस्त परेशानियाँ, सारे मानसिक कष्ट मिट सकते हैं।"

“वर्तमान में मेरी वाणी में ऐसी क्षमता नहीं है कि मैं यह तत्त्वज्ञान की निधि सम्पूर्ण जगत को बता सकूँ । यदि कभी ऐसी योग्यता प्राप्त हो तो मैं पूर्ण निःस्वार्थ भावना से जगत के कल्याण में अपना सर्वस्व लगा दूँगा ।”

परोपकार की ऐसी पवित्र उज्ज्वल निःस्वार्थ भावना से उस जीव को तीर्थकर नामकर्म की ऐसी पुण्य प्रकृति का बन्ध होता है, जिसके फल में दिव्यध्वनि जैसी समर्थवाणी और समोशरण जैसी इन्द्रों द्वारा निर्मित धर्मसभा की प्राप्ति तो होती ही है, उसके साथ और भी बहुत सारा ढेरों सातिशय पुण्य का बंध होता है, जिसके फलस्वरूप गर्भ में आने के पूर्व से अन्य अतिशय होते हैं ।

जिन्हें ऐसा पुण्य और ऐसा वीतराग धर्म प्राप्त करने की भावना हो तो वह भगवान नेमिनाथ के जीव जैसे आदर्श के काम करें ।

तीर्थकर नेमिनाथ के जीव ने विश्वकल्याण करने के पावन भावों से तीर्थकर प्रकृति बांधी थी, फलस्वरूप वे २२ वें तीर्थकर नेमिनाथ हुए और इन्द्र की आज्ञा और अपनी भक्ति-भाव से कुबेर ने स्वयं आकर भावी तीर्थकर के माता-पिता को स्नान कराया, उन्हें सम्मानपूर्वक वस्त्राभूषण पहनाये । माता शिवादेवी ने दिक्कुमारियों द्वारा किये गये गर्भ शोधन के बाद गर्भधारण किया । सर्वांग सुन्दर शिवादेवी के गर्भ में तीर्थकर जीव के आने से उनके उदर की त्रिवलियाँ भी भंग नहीं हुईं और न उन्हें गर्भ धारण से अन्य साधारण माताओं की भांति कोई कष्ट ही हुए । तीर्थकर जिसके गर्भ में हैं, उस माँ की वाणी अत्यन्त हित-मित-प्रिय होती है, माता का मन पूर्ण निर्मल था । वे देवांगनाओं द्वारा शोधे गये स्वास्थवर्द्धक, अल्प आहार लेती थीं । नौ माह सुखपूर्वक कब/कैसे बीत गये, उन्हें आभास तक नहीं हुआ ।

वैशाख शुक्ला त्रयोदशी की शुभ तिथि में शिवादेवी ने समस्त जगत को जीतने वाले तीर्थकर पुत्र को जन्म दिया । बाल तीर्थकर के जन्मते ही स्वर्ग में नाना प्रकार के दुदुंभिबाजे बजे और तीन लोक में हर्ष छा गया । चतुर्निकाय के देव जन्मकल्याणक मनाने हेतु चल पड़े ।

बालक के शरीर में १००८ शुभ लक्षण थे तथा वह जन्म से ही मति-श्रुत-अवधि - तीन ज्ञान के धारी थे ।

जन्मकल्याणक का महोत्सव मनाने आये इन्द्रगण और देवगणों के मन-मयूर हर्षातिरेक से नाच रहे थे । नाचते-गाते समस्त इन्द्र बाल तीर्थकर का जन्माभिषेक करने के लिए जब तक सूर्यपुर (सौरीपुर) आये, तब तक यहाँ प्रसन्नचित्त दिक्कुमारियों द्वारा बाल तीर्थकर का समस्त जातकर्म होता रहा । आभूषणों से विभूषित जगतप्रसिद्ध विजया, वैजयन्ती, अपराजिता, जयन्ती, नन्दा, आनन्दा, नन्दिवर्धना और नन्दोत्तरा नामक देवियाँ निर्मल जल से भरी हुई झारियाँ लिए उनके स्वागत में खड़ी थीं ।

यशोधरा, सुप्रसिद्धा, सुकीर्ति सुस्थिरता, प्रणधि, लक्ष्मीमती, चित्रा और वसुन्धरा अपने-अपने गुण और रूप लावण्य में अपने नामों को सार्थक करतीं हुई मणिमय दर्पण लेकर खड़ी थीं ।

इला, नवयिका, सुरा, पीता, पद्मावती, पृथ्वी, प्रवरकांचना और चन्द्रिका नामक देवियाँ माता पर सफेद छत्र लगाये सेवा में उपस्थित थी ।

श्री, धृति, आशा, वाढणी, पुण्डरीकिणी, अलम्बुसा, मिश्रकेसी और ही आदि देवियाँ हाथों पर चमर लिए खड़ी थीं ।

देदीप्यमान कनक चित्रा, चित्रा, त्रिशरा और सूत्रामणि विद्युतकुमारी देवियाँ बालक नेमि के समीप अपनी चेष्टाओं से मेघों के बीच बिजली के समान शोभायमान हो रही थीं एवं समस्त विद्युत कुमारियों में प्रधान रुचक प्रभा, रुचका, रुचकाभी और रुचकोज्वला तथा दिक्कुमारियों में प्रधान विजय आदि चार देवियाँ विधिपूर्वक भगवान का जातकर्म कर रहीं थीं ।

बाल तीर्थकर नेमिकुमार के जन्मोत्सव के पूर्व ही कुबेर ने सूर्यपुर (सौरीपुर) की अद्भुत शोभा बना रखी थी । महलों पर बड़ी-बड़ी, ऊँची-ऊँची ध्वजायें फहरा रही थीं । ऐसा लगता था मानो यह नगर इन्द्रलोक की शोभा को भी फीका कर रहा है ।

अपने-अपने इन्द्रों सहित चारों निकायों के सुर-असुर आदर के साथ शीघ्र ही आकर बाल तीर्थकर की भक्ति से उस नगर की प्रदक्षिणायें देकर उसकी शोभा देखने लगे।

सज्जनों के सखा और लोक मर्यादा को जाननेवाले इन्द्र ने नगर में प्रवेश कर शिवा देवी के महल के समीप खड़े रहकर इन्द्राणी को नवजात बालक को प्रसूतिगृह से लाने का आदेश दिया। इन्द्राणी प्रसूतिगृह में जाकर वहाँ माँ को मायामयी निद्रा में सुलाकर तथा देवमाया से दूसरा बालक माता के पास सुलाकर बाल तीर्थकर नेमि को उठा लाई और इन्द्र को सौंप दिया। इन्द्र ने तीर्थकर बालक को प्रणाम कर जब गोद में लेकर देखा तो उनके रूप-लावण्य को देखते ही रह गये। बालक की सुन्दर छवि को एक हजार नेत्र बनाकर देखा तो भी वे तृप्त नहीं हुए। उसकी देखने की उत्कंठा फिर भी बनी ही रही।

नीलमणि के ऊँचे चूड़ामणी (मुकुट) से सुशोभित इन्द्र बालक नेमि को ऐरावत हाथी पर विराजमान कर सुमेरु पर्वत पर जन्म अभिषेक के लिए ले गये। ऐरावत हाथी वस्तुतः अभियोग जाति का देव होता है, जो इन्द्र की आज्ञा और स्वयं की भक्तिभावना से अपनी विक्रिया से ऐरावत हाथी का रूप धारण करता है; इसकारण उसका रूप सामान्य गजराजों से भिन्न अद्भुत हो तो इसमें आश्चर्य और शंका करने की गुंजाइश नहीं है।

शास्त्रों में ऐसे हाथी का वर्णन करते हुए कहा है कि उसके ३२ मुख थे, प्रत्येक मुख में आठ-आठ दांत थे, प्रत्येक दांत पर एक-एक सरोवर था, प्रत्येक सरोवर में एक-एक कमलनी थी, एक-एक कमलनी में बत्तीस-बत्तीस पत्ते थे, एक-एक पत्ते पर एक-एक अप्सरा सरस संगीत के साथ नृत्य कर रही थी। इसप्रकार लोकोत्तर विभूति के साथ देवगण सुमेरु पर्वत के समीप पहुँचे तथा मेरु की प्रदक्षिणा देकर पाण्डुक नामक विशाल वनखण्ड में प्रविष्ट हुए। वहाँ विशाल पाण्डुकशिला के ऊपर पाँच सौ धनुष ऊँचे सिंहासन पर तीर्थकर बालक को विराजमान किया और इन्द्र ने देवों के साथ भक्तिपूर्वक देवों द्वारा लाये गये १००८ मणिमय स्वर्ण कुंभों से क्षीरसागर के जल से बाल तीर्थकर का जन्माभिषेक किया।

यहाँ ज्ञातव्य है कि अभिषेक दूध से नहीं, वरन क्षीरसागर के निर्मल, प्रासुक जल से किया गया था। समुद्र का नाम क्षीरसागर है, क्षीरसागर का जल त्रस जीव रहित स्वच्छ और पवित्र होता है।

जिनशासन की प्राप्ति से जिनके प्रशस्त राग का उदय हो रहा था, जिनके शरीर में रोमांच प्रगट हुए थे और जिनका संसार सागर अत्यन्त अल्प रह गया था - ऐसे अन्य समस्त स्वर्गों के इन्द्रों ने भी बड़े संतोष के साथ इच्छानुसार निर्मल जल से बाल तीर्थकर नेमिकुमार का अभिषेक किया।

तत्पश्चात् इन्द्राणियों ने तैल-मर्दन एवं उबटन लगाया। फिर इन्द्रादि सभी देव समूह ने उत्तम वस्त्र, मणिमय आभूषण माला तथा विलेपन से सुशोभित बालक की परिक्रमा दी और नाना प्रकार से उनका स्तवन किया।

इन्द्रानियों द्वारा बाल तीर्थकर के उबटन एवं अभिषेक करने की चर्चा आई है। इस कथन के आधार पर सामान्य स्त्रियों को प्रतिमा का अभिषेक करने का दुराग्रह नहीं पालना चाहिए; क्योंकि प्रथम तो इन्द्राणी एवं मनुष्यनी की शारीरिक शुद्धि-अशुद्धि एक जैसी नहीं होती। दूसरे, बालक का उबटन व अभिषेक और अरहंत प्रतिमा का अभिषेक - दोनों की स्थिति अत्यन्त भिन्न-भिन्न होती है। समोशरण में साक्षात् अरहंत भगवन्तों का अभिषेक तो कभी होता ही नहीं है। मात्र प्रतिष्ठित प्रतिमाओं की वीतराग छवि की स्वच्छता हेतु जलाभिषेक अर्थात् प्रक्षालन ही होता है। पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं में विधिनायक प्रतिमा पर पाँचों कल्याणकों की विधि की जाती है, उसमें गर्भक्रिया, जन्माभिषेक, आहारदान आदि सभी का खूब हर्षोल्लास के साथ प्रदर्शन भी होता है और आगमोक्त क्रियायें भी होती हैं।

जन्माभिषेक के उपरान्त सौधर्म इन्द्र ने बाल तीर्थकर अरिष्टनेमि की स्तुति करते हुए कहा - 'हे प्रभो! आपको जन्म से ही सम्यक्मति, श्रुत और अवधि ज्ञान का विशेष क्षयोपशम है। उसके द्वारा आपने द्वादशांग का सार जाना है। आपने पूर्वभव में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के भेद से त्रिविधता को प्राप्त रत्नत्रय सहित उग्र तप किया एवं सोलह कारण भावनाओं के द्वारा तीर्थकर नामक पुण्य प्रकृति का संचय

किया। उसी तीर्थकर कर्मबन्ध के कारण अत्यन्त विशिष्ट एवं अद्भुत पुण्य से देव समूह को प्रभावित किया है। इसी कारण वे आपके चरणों की सेवा में उपस्थित हैं। देव-दुन्दुभि के शब्द आपका यश प्रगट कर रहे हैं। हे नाथ ! आपके यश से शुक्लीकृत जन्म कल्याणक से समस्त भारत पवित्र हुआ है। हे प्रभो ! आपने शरीर की कान्ति से सूर्य-चन्द्र को भी जीत लिया है।

हे भक्त वत्सल ! अब आप जन्म-जरा-मरण रूपी रोग से भयंकर संसाररूपी महादुःख के अपार सागर को पार कर मोक्षस्वरूप समस्त लोक के उस शिखर को प्राप्त होंगे, जहाँ पर उत्कृष्ट सीमा को प्राप्त सिद्ध भगवान विराजमान हैं। जहाँ निरन्तर उदय में रहनेवाला सर्वोत्तम स्वाधीन सुख सुलभ हैं।

हे स्वामिन् आप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाववाले पदार्थों के निरूपण करने में पूर्ण समर्थ होंगे। आपने दसों दिशाओं को सुगन्धित कर दिया है। आपका शरीर उत्कृष्ट संहनन एवं संस्थान से सम्पन्न है। आपके शरीर का रुधिर दूध के समान श्वेत हैं, मल-मूत्र एवं पसीने से रहित हैं। आपने कामदेव को जीत लिया है। हे ईश ! आपका ऐश्वर्य अपरिमित हैं। बाल्यकाल में भी आप लोकोत्तर पराक्रम के धारक हैं” इत्यादि अनेक प्रकार से अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व का गुणगान करते हुए देव और इन्द्रों ने प्रणाम करते हुए अन्त में कहा - हे प्रभो ! हमें बोधि की प्राप्ति हो ! हम भी रत्नत्रय धर्म प्रगट कर अनन्तकाल तक एकमात्र अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग करें - बस, यही हमारी कामना है।

हास्य और अद्भुत रस से परिपूर्ण वाचिक, आंगिक, अभिनय करने में प्रवृत्त अप्सरायें सुन्दर नृत्य कर रहीं थीं। तभी सौधर्म इन्द्र ऐरावत हाथी पर धीर-वीर बाल तीर्थकर को विराजमान कर सुमेरु पर्वत से शौर्यपुर की ओर चला। मार्ग में चलते हुए देवों के समूह भगवान का अभिनन्दन कर रहे थे। ऐसे नेमि जिनेन्द्र शीघ्र ही उस शौर्यपुर नगर में जा पहुँचे, जहाँ के बड़े-बड़े मार्ग उनके स्वागत में दिव्य और सुगन्धित जल की वृष्टि से सींचे जाकर फूलों की पड़ती हुई वर्षा से ढंक से गये थे।

बालक होने पर भी जिनका व्यक्तित्व बालकों जैसा नहीं था, जो वयस्कों के समान धीर-गंभीर एवं

प्रौढ़ थे। जो शौर्यपुर की प्रजा रूप कमलियों को विकसित करने में बालसूर्य थे। ऐसे जिन बालक को इन्द्र ने माता की गोद में दे दिया। तत्पश्चात् विक्रिया शक्ति से युक्त इन्द्र ने स्वयं देदीप्यमान कन्धों की शोभा को पुष्ट करने वाली हजार भुजायें बनाकर उन्हें फैलाया और उन पर नाना प्रकार का नृत्य करने वाली हजारों देवियों से नृत्य कराया। इस लीला को जब सामने बैठे यादव देख रहे थे और इस लाभ से अपने को धन्य मान रहे थे तब इन्द्र ने स्वयं महानन्द नाम का नाटक किया, जिसे सबने टकटकी लगाकर देखा। इसप्रकार उत्सवपूर्वक प्रारंभ किये उत्तम ताण्डव नृत्य की शोभा देखने योग्य थी।

इन्द्र ने माता-पिता को प्रणाम किया, अमूल्य आभूषणों से उन्हें अलंकृत किया। जिनेन्द्र नेमिकुमार के दाहिने हाथ के अंगूठे में अमृतमय आहार निक्षिप्त किया। बालक नेमि के साथ बालक बनकर नाना प्रकार की क्रीड़ा कराकर मनोरंजन करानेवाले देवकुमारों को नियुक्त किया। कुबेर को आज्ञा दी कि तुम नेमिकुमार को ऋतुओं के अनुकूल सुविधायें जुटाते रहना।

इसप्रकार इन्द्र उपर्युक्त समस्त व्यवस्थायें देवताओं को सौंपकर अपने आपको कृतकृत्य मानता हुआ चार निकायों के देवेन्द्रों के साथ अपनी यात्रा को सफल मानता हुआ वापस स्वर्ग चला गया।” ●

केवल नाम सदासुखी रखने से थोड़ी ही कोई सुखी हो जाता है, सुख-शान्ति प्राप्त करने के लिए हमें काम भी ऐसा करना चाहिए, जिससे सुख की प्राप्ति हो। मैंने अपने जीवन में ऐसा कोई काम ही नहीं किया। मैं तो दिन-रात एकमात्र पैसा कमाने के चक्कर में ही पड़ा रहा। वस्तुतः मैं ऐसा मान बैठा था कि पैसा ही सब सुखों का साधन है, पैसे से सब सुख पाये जा सकते हैं, पर अब मेरा यह भ्रम दूर हो गया है; पैसा बहुत कुछ हो सकता है, पर सब कुछ नहीं। अब मैं स्वयं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि आज मेरे पास क्या नहीं है? करोड़ों की चल-अचल संपत्ति, अटूट आमदनी के स्रोत; पर पाप का उदय आते ही वह सब संपत्ति देखते ही देखते विपत्ति बन गई है।

- विदाई की बेला, पृष्ठ-८, हिन्दी संस्करण १० वाँ

युद्ध में भाई अपराजित के मरने से जरासंध को जो दुःख हुआ था - उससे वह अवश्य ही मर जाता; परन्तु यदुवंशी शत्रुओं से बदला लेने के क्रोध ने उसे मरने से बचा लिया। जरासंध ने समस्त यादवों का नाश करने के लिए मन में पक्का विचार कर लिया और निर्भीक होकर शत्रु के सम्मुख जाने के लिए अपने अधीन एवं मित्र राजाओं को आज्ञा दी। स्वामी की आज्ञा पाकर उसके हित चाहने वाले नाना देशों के राजा अपनी-अपनी चतुरंग सेनाओं सहित आ पहुँचे।

इधर जरासंध ने जब यादवों पर चढ़ाई करने के लिए प्रयाण किया तब यादवों ने अपने गुप्तचरों द्वारा शीघ्र ही पता लगा लिया कि जरासंध हम पर आक्रमण करने वाला है। अतः ज्ञानवृद्ध एवं वयोवृद्धों ने विचार-विमर्श किया कि - तीन खण्डों में इसकी आज्ञा का पूर्णपालन होता है, यह स्वयं तो उग्र है ही, इसकी शासन व्यवस्था भी अत्यन्त कठोर है; किन्तु इसमें यह एक अच्छी बात है कि - यह किए हुए उपकार को भूलता नहीं है, कृतज्ञ है। नम्रीभूत हुए व्यक्ति को क्षमा कर देता है। हम लोगों का कभी इसने अपकार (बुरा) नहीं किया है। उपकार करने में ही सदा तत्पर रहा है।

परन्तु जिस तरह गुलाब में जहाँ फूल होते हैं, वहाँ काँटे भी होते हैं, ठीक इसी तरह जरासंध में जहाँ इतनी अच्छाइयाँ हैं, वहीं कुछ कमियाँ भी हैं। वह अहंकारी बहुत है, इसकारण हमारी अपरिमित शक्ति को स्वीकार ही नहीं कर पा रहा है। अत्यन्त प्रगट सामर्थ्य को देखकर भी देख नहीं पा रहा है। नारायण कृष्ण के पुण्य का प्रताप और बलभद्र बलराम का पौरुष बालकपन से ही जगजाहिर हो रहा है; इन्द्रों के आसन को कम्पित कर देने वाले तीर्थंकर नेमिनाथ का प्रभुत्व तीनों लोकों में प्रगट हो चुका है; फिर भी वह अपने अहंकार में इतना चकचूर है कि उसका सारा विवेक कुंठित हो गया है। जिस तीर्थंकर की सेवा में समस्त लोकपाल तत्पर रहते हैं, उस तीर्थंकर के कुल का कौन मनुष्य अपकार कर सकता है?

ऐसा कौन अज्ञानी होगा जो भयंकर ज्वालाओं को धारण करनेवाली अग्नि का हाथ से स्पर्श करेगा? ऐसा कौन बलवान है जो जीतने की इच्छा से तीर्थंकर, बलभद्र और नारायण का सामना करेगा? फिर भी जरासंध दुस्साहस कर रहा है, निःसंदेह जब सियार की मौत आती है तो वह शहर की ओर ही भागता है। यह राजा जरासंध प्रतिनारायण है और इसके मारनेवाले ये बलभद्र तथा नारायण यहाँ उत्पन्न हो चुके हैं। इसलिए इसकी युद्ध करने की बुद्धि हो रही है। फिर भी जब तक यह प्रतिनारायण रूपी पतंगा कृष्णरूपी अग्नि में स्वयं आकर भस्म नहीं हो जाता, तब तक हम लोगों को शीघ्र ही पश्चिम दिशा का आश्रय कर कुछ दिनों तक छुपकर चुप बैठे रहना उचित है, ऐसा करने से निःसंदेह कार्य की सिद्धि होगी।

यह जरासंध माता और भाई अपराजित के वध से उत्पन्न पराभव से क्रोध में है और हम लोगों का सामना करने को उद्धत हो रहा है।

यद्यपि हम लोग चुप रहेंगे; फिर भी जरासंध हमारा सामना करेगा तो हम युद्ध द्वारा उसका सत्कार कर उसे यमराज के पास भेज देंगे।

इसप्रकार परस्पर सलाह कर उन वृद्धजनों ने यह मंत्रणा अपने कटक में प्रगट की और भेरी के शब्द से नगर में प्रस्थान करने की सूचना दे दी। भेरी की आवाज (ध्वनि) सुनकर यादव और भोजवंशी राजाओं की चतुरंग सेना अज्ञातवास के लिए चल पड़ी।

मथुरा, शौर्यपुर और वीर्यपुर की प्रजा ने भी स्वामी के अनुराग से साथ ही प्रस्थान कर दिया। उस समय अपरिमित धन सहित अठारह कोटि यादव शौर्यपुर से निकले थे। उत्तम तिथि नक्षत्र देख वे राजागण जब पश्चिम दिशा की ओर जा रहे थे तो मार्ग में उस विंध्याचल पर्वत के पास से गुजरे जहाँ हाथियों और सिंहों के झुण्ड क्रीड़ा करते हैं।

‘मार्ग में पीछे-पीछे जरासंध आ रहा है’ यह सुनकर अत्यधिक उत्साह से भरे यादव लोग भी युद्ध के लिए तैयार हो उसकी प्रतीक्षा करने लगे। उन दोनों की सेनाओं के बीच थोड़ा अन्तर देखकर भाग्य के नियोग से

भरतक्षेत्र में निवास करनेवाली देवियों ने अपने दिव्य सामर्थ्य से विक्रिया कर बहुत सी चितायें रच दीं और जरासंध शत्रु के लिए यह दिखा दिया कि यादव लोग शत्रु के भय से अग्नि में जल गये हैं।

जरासंध ने स्वयं ऐसा महसूस किया कि जहाँ-तहाँ चतुरंग सेना अग्नि की ज्वाला से व्याप्त है, जल रही है। उन्हीं देवियों द्वारा जलाई चिताओं की ज्वाला से जब जरासंध का आगे बढ़ने का मार्ग अवरुद्ध हो गया तो उसने अपनी सेना को वहीं रोक दिया। जरासंध ने वहाँ पर बुढ़िया का रूप धर एक देवी को रोते हुए देखकर उससे पूछा - हे वृद्धे ! यह विशाल सेना का कटक किसका जल रहा है? और तू यहाँ क्यों रो रही है?

उत्तर में वृद्धा ने रुँधे हुए कंठ एवं सजल नेत्रों से भावुक होकर कहा - “हे राजन ! मुझे इस बात का बहुत दुःख है कि मेरे सामने देखते-देखते जो ये व्यक्तियों का समूह अग्नि को अर्पित हो गया है, ये और कोई नहीं यदुवंशी राजा एवं उनकी प्रजा और सेना है। राजगृह नगर में एक सत्य प्रतिज्ञ जरासंध राजा है, जो समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का शासन करता है।

अपने अपराधों की बहुलता से यादव लोग जरासंध की ओर से सदा सशल्य रहते थे, निःशंक होकर शान्ति से नहीं रह पाते थे। इसकारण वे प्राण बचाने के लिए कहीं पश्चिम दिशा की ओर निकले; परन्तु समस्त पृथ्वी में उन्हें कहीं कोई शरण देनेवाला नहीं दिखा तो वे अग्नि में प्रविष्ट होकर मरण की शरण में चले गये और अग्नि में जलकर निःशल्य हो गये। मैं उन्हीं राजाओं की वंश परम्परा से चली आयी दासी हूँ। मुझे अपना जीवन प्रिय था, इसलिए मैं उनके साथ नहीं जल सकी, परन्तु अपने स्वामी के कुमरण से दुःखी हूँ और रोना आ रहा है।”

वृद्धा के वेष में देवी के वचन सुनकर जरासंध बहुत विस्मित हुआ और उसके वचनों का विश्वास कर जिन यदुवंशियों के पीछे युद्ध हेतु लगा हुआ था, उन्हें अग्नि में जला हुआ मानकर उसी समय वापस घर लौट आया और निश्चिंत होकर रहने लगा। उधर यादव लोग भी पश्चिम समुद्र के पास आकर यथास्थान ठहर गये।

ज्ञानीजन इन सब परिस्थितियों को जानकर, ऐसे जीवन में होनेवाले उत्थान-पतन को देखकर विचार करते हैं - “जब तक आयुकर्म शेष हैं, होनहार भली है, तबतक मार्ग में आनेवाली विपत्तियाँ टल जाती हैं, विपत्तियाँ सम्पत्तियों में बदल जाती हैं।

अत्यन्त निर्दय और कुपित जरासंध अत्यधिक हठ से मार्ग में यादवों के पीछे लगा और शत्रु का नाश करने तथा स्वयं मरने के लिए शीघ्र दौड़ा; परन्तु देवी के द्वारा प्रज्वलित की गई ज्वालाओं के कारण मार्ग अवरुद्ध हो जाने से लौट आया। इस तरह दोनों पक्षों की रक्षा हो गई।

आचार्य कहते हैं कि जो व्यक्ति धर्म की शरण में रहता है, वे पुण्योदय से रक्षित होते ही हैं। अतः सभी को धर्माचरण करने योग्य है। ●

“मैं शरीर नहीं, मैं तो एक अखण्ड ज्ञानानंदस्वभावी अनादि-अनन्त एवं अमूर्तिक आत्मा हूँ तथा यह शरीर मुझसे सर्वथा भिन्न जड़स्वभावी, सादि-सान्त, मूर्तिक पुद्गल है। इससे मेरा कोई संबंध नहीं है।

जिसे आपने कभी न देखा, न पहचाना, उससे मोह कैसा ? अतः आप मुझसे राग-द्वेष का भाव छोड़े। मैं भी आप सबके प्रति हुए मोह एवं राग-द्वेष को छोड़ना चाहता हूँ। आप लोग मेरे महाप्रयाण के बाद, खेद-खिन्न न हों तथा आत्मा-परमात्मा की साधना-आराधना में सदा तत्पर रहें।

बस, यही मेरा आपको संदेश है, उपदेश है, आदेश है और आशीर्वाद है। इसे जिस रूप में चाहें ग्रहण करें। पर इस कल्याण के मार्ग में अवश्य लगें। इस स्वर्ण अवसर को यों ही न जाने दें।

- विदाई की बेला, पृष्ठ-१२८-१२९, हिन्दी संस्करण १० वाँ

जिसप्रकार जिनेन्द्र भगवान के द्वारा निरूपित शास्त्ररूपी समुद्र को देखकर भव्यजीव हर्षित होते हैं। उसीप्रकार समुद्र को देखकर वह राजाओं का समूह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। समुद्र की एक-एक क्रिया मानों राजाओं के सम्मान में तत्पर थी। उससमय वह समुद्र बिखरी हुई पुष्पाञ्जलियों से सुशोभित हो रहा था। तरंगों से लहरा रहा था और शंखों से व्याप्त था। इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानों भगवान नेमिनाथ के आगमन से उत्पन्न अत्यधिक हर्ष से ही उसने पुष्पाञ्जलियाँ बिखेरी हों। तरंग रूपी भुजाओं को ऊपर उठाकर वह नृत्य कर रहा हो और शंखध्वनि के बहाने हर्ष ध्वनि कर रहा हो।

श्रीकृष्ण ने अपने बड़े भाई बलदेव के साथ स्थान प्राप्त करने की अभिलाषा से अष्टम भक्त - (तीन दिन का) उपवास किया तथा पंच परमेष्ठियों का स्तवन करने वाले धीर-वीर श्रीकृष्ण जब समुद्र के तट पर अपने नियम-संयम के कारण घास के आसन पर बैठे थे तब सौधर्म की आज्ञा से गौतम नामक शक्तिशाली देव ने आकर समुद्र को सुखा दिया। तदनन्तर श्रीकृष्ण के पुण्य प्रताप से और श्री नेमिकुमार के प्रति भक्ति विशेष से कुबेर ने वहाँ 'द्वारिका' नामक नगर बसा दिया। वह कुबेर द्वारा निर्मित कृत्रिम द्वारिका नगरी १२ योजन लम्बी, ९ योजन चौड़ी, वज्रमय कोट के घेरे में चारों ओर समुद्र की परिखा से घिरी थी। वह बड़ी बड़ी वापिकाओं, सरोवरों, बगीचों और उत्तमोत्तम फूल एवं फलवाले तथा सघन पल्लवों वाले वृक्षों से सुशोभित हो रही थी। वहाँ प्याऊओं और सदावर्त सदनों का प्रबन्ध था। चौड़ी-चौड़ी सड़कों से एवं ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिरों तथा महलों से नगर की शोभा दर्शनीय थी। उन सब महलों के बीच अठारह खण्डों वाला श्रीकृष्ण का सर्वतोभद्र महल था। श्रीकृष्ण के महल के चारों ओर अन्तःपुर एवं पुत्र आदि के योग्य महलों की पंक्तियाँ सुशोभित हो रहीं थीं।

बलदेव के महल के आगे एक सभामण्डप सुशोभित हो रहा था। जो इन्द्र के सभा मण्डप के समान था और अपनी दीप्ति से सूर्य की किरणों का खण्डन करने वाला था। उस नगरी में उग्रसेन आदि सभी राजाओं के योग्य महलों की पंक्तियाँ भी सुशोभित थीं। वे महल आठ-आठ खण्ड के थे।

ऐसी सुन्दर नगरी की रचना करके कुबेर ने श्रीकृष्ण को नगरी में प्रवेश करने का निवेदन किया तथा सबको एक से बढ़कर एक अनेक प्रकार के वस्त्र-आभूषणों से खूब सम्मान किया। साथ ही युद्ध के योग्य श्रेष्ठ अस्त्र-शस्त्र तथा दैनिक जीवन के निर्वाह की उत्तमोत्तम भोगोपभोग की सामग्री प्रदान की। कुबेर वापस स्वर्ग लोक चले गये।

तदनन्तर यादवों के संघ ने समुद्र के तट पर श्रीकृष्ण और बलदेव का अभिषेक कर हर्षित हो उनकी जय-जयकार घोषित की। श्रीकृष्ण ने चतुरंग सेना और समस्त प्रजा के साथ कुबेर द्वारा निर्मित द्वारिकापुरी में प्रवेश किया।

मथुरा, सूर्यपुर और वीर्यपुर के प्रवासियों ने अपने-अपने वर्तमान निवास स्थानों के नाम पूर्ववत् रखकर संतोष प्राप्त किया। कुबेर की आज्ञा से यक्षों ने इस नगरी के समस्त भवनों में साढ़े तीन दिन तक अटूट धन-धान्यादि की वर्षा की। जब कृष्ण वहाँ रहने लगे तब उनके वशीभूत पश्चिम के राजा उनकी आज्ञा मानने लगे। तत्पश्चात् द्वारिकापुरी के स्वामी श्रीकृष्ण अनेक राजाओं की हजारों कन्याओं के साथ विवाह करके नाना प्रकार से क्रीड़ायेँ करते हुए वहाँ सुख से समय व्यतीत करने लगे।

जिनका शरीर समस्त कलाओं से सुशोभित था। शरीर में अनेक शुभलक्षण थे - ऐसे नेमिकुमार भी वहाँ बाल चन्द्रमा के समान दिनोंदिन बढ़ने लगे। नेमिकुमार, श्रीकृष्ण, बलभद्र और भोजकवृष्टि के निवास से द्वारिकापुरी अत्यधिक सुशोभित हो रही थी।

“जब जो होना होता है, तब वही होता है और तदनुसार सभी कारण भी सहज सुलभ हो जाते हैं। अर्थात् पाँचों समवाय मिल जाते हैं। जिन कारणों की हम कल्पना भी नहीं कर सकते, वे भी अचानक आकाश से उतर आते हैं।”

अवधिज्ञान के धारी अतिमुक्तक मुनिराज के कहे अनुसार रुक्मणी का श्रीकृष्ण की सोलह हजार रानियों में महत्त्वपूर्ण स्थान पाने का नियोग था; किन्तु उसके भाई रुक्मी ने उसका विवाह शिशुपाल से करने का निश्चय कर लिया था और विवाह की तिथि भी निकट ही आ रही थी फिर यह पांसा कैसे पलटा? यह एक रोचक प्रसंग है, यह प्रसंग होनहार को तो निश्चित करता ही है, हमारे-तुम्हारे कर्तृत्व के अहंकार को भी कम करता है और हमारी कर्ता बुद्धि से होने वाली आकुलता को भी कम करता है।

जैनपुराणों के अनुसार नारायण श्रीकृष्ण की सोलह हजार रानियाँ थीं और सभी एक से बढ़कर एक सुन्दर, सुशील और सर्व गुणसम्पन्न थीं; किन्तु उनमें सत्यभामा तो पटरानी थी ही, रुक्मणी को भी रानियों में प्रमुख स्थान और विशेष स्नेह प्राप्त था।

रुक्मणि का विवाह शिशुपाल से न होने में और श्रीकृष्ण से होने में आकाशचारी नारद निमित्त कैसे बने? यह एक विचित्र घटना है।

एक दिन नारदजी आकाश से उतरकर सभासदों से भरी हुई यादवों की सभा में अचानक जा पहुँचे तो उन्हें देख सभी सभासद उनके सम्मान में खड़े हो गये। बस, इसी बात से नारदजी प्रसन्न हो गये। वैसे तो स्वभावतः मनुष्य में मान-सम्मान पाकर खुश होने की प्रकृति है; परन्तु नारदजी कुछ अधिक ही सम्मान के भूखे थे। स्वभाव से ही वे सम्मान के भूखे थे। वे थोड़ा-सा सम्मान पाकर ही प्रसन्न हो जाते थे। यादवों की सभा में उन्हें सम्मान मिल गया और वे संतुष्ट हो गये।

नारदजी तापस के वेष में रहते थे, इसकारण उन्हें नारद मुनि कहा जाता था, वस्तुतः वे उससमय जब राजमहलों में आया-जाया करते थे, तब दिगम्बर जैन मुनियों के स्वरूप और आचरण के अनुसार जैन मुनि नहीं थे। फिर भी बालब्रह्मचारी धर्मात्मा जीव तो थे ही। शुद्ध प्रकृति के भी थे, काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद और मात्सर्य जैसे अवगुण उनमें दिखाई नहीं देते थे; किन्तु वे जैसे मान-सम्मान से शीघ्र संतुष्ट होते थे वैसे ही अपमान या उपेक्षा से शीघ्र ही असंतुष्ट भी हो जाते थे। वे युद्धप्रिय और हास्य स्वभाव के थे। अधिक

बोलने की आदत से मजबूर थे एवं घुम्मकड़ प्रकृति के थे। जिनसेन कृत हरिवंश पुराण में तो उन्हें अन्ततोगत्वा मुक्तिगामी बताया है। इस आधार पर उन्हें चरमशरीरी कहा गया है।

एक बार नारदजी यादवों से अनुमति लेकर श्रीकृष्ण का अन्तपुर देखने के लिए रनवास में पहुँच गये। उससमय - श्रीकृष्ण की पटरानी महादेवी सत्यभामा आभूषण पहन कर मणिमय दर्पण हाथ में लिए अपना रूप निहार रही थी। नारद ने उसको दूर से ही देखा तो वह साक्षात् कामदेव की पत्नी रति के समान सुन्दर लग रही थी। अपना रूप दर्पण में देखने में वह इतनी मग्न थी कि नारदजी को देख ही नहीं पायी, इसकारण वह उनके स्वागत में कुछ भी न कर सकी। सम्मान के भूखे नारदजी इसे अपनी उपेक्षा समझकर अनादर मानकर सत्यभामा से असंतुष्ट होकर तुरन्त बाहर निकल गये। बाहर आकर वह विचार करने लगे कि - “इस संसार में समस्त विद्याधर और भूमि गोचरी राजा तथा उनकी रानियाँ आसन से उठकर मुझे नमस्कार करतीं हैं; परन्तु यह सत्यभामा इतनी अभिमानिनी है कि इसने सौन्दर्य के मद में मेरी ओर देखा भी नहीं। अब मैं कृष्ण के चित्त को आकर्षित करनेवाली और मन को मोहनेवाली अन्य स्त्री को इसके सौत के रूप में खोजकर इसे सौतिया पीड़ा पहुँचाकर इसके गर्व को खण्डित कर ही चैन की साँस लूँगा।

बस, फिर क्या था; नारदजी तत्काल ही आकाश मार्ग से चलकर कुण्डिनपुर जा पहुँचे। वहाँ के राजा भीष्म के रुक्मि नामक पुत्र और रुक्मणी नाम की एक सर्वांग सुन्दर कन्या थी। वह कन्या ऐसी जान पड़ती थी कि मानों तीनों जगत के उत्तम लक्षण, उत्तम रूप और सद्भाग्य को लेकर कृष्ण के लिए ही रची गई हो। वह कन्या अपने हाथ, पैर, मुख, कमल, रोमराजि, नाभि, उरोज, उदर, भौंह, नाक, नेत्र आदि सभी अंगों की आभा से संसार की सभी उपमाओं को तिरस्कृत करती थी। अनेक उत्तमोत्तम स्त्रियों को देखनेवाले नारद भी उस कन्या को देखकर आश्चर्य में पड़ गये तथा सोचने लगे कि - यदि मैं इस कन्या का कृष्ण के साथ विवाह करा सका तो सत्यभामा का अहंकार खण्डित हो जायेगा।

यह विचार कर नारदजी रुक्मणी के आवास पर गये। नारदजी को आया देख, विनयावनत रुक्मणी

उठकर खड़ी हो गई। उसने हाथ जोड़कर बड़े आदर से नारद को प्रणाम किया। नारद ने प्रत्युत्तर में आशीर्वाद देते हुए कहा - 'द्वारिका के स्वामी कृष्ण तुम्हारे पति हों' रुक्मणी ने पूछा - ये श्रीकृष्ण कौन हैं? और आपने मुझे ऐसा आशीर्वाद क्यों दिया है?

नारदजी ने द्वारिका का परिचय कराते हुए श्रीकृष्ण के अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व का परिचय कराया। श्रीकृष्ण का परिचय पाकर रुक्मणी कृष्ण में अत्यन्त अनुरक्त हो गई।

इधर नारद ने रुक्मणी का आश्चर्यजनक रूप चित्रपट पर चित्रित करके कृष्ण को दिखाया। उस चित्रगत अनुपम रूप-गुणसम्पन्न अभूतपूर्व कन्या को देखकर कृष्ण ने दुगने आदरभाव से नारदजी से पूछा - हे भगवान ! यह विचित्र कन्या जो अपने चित्रपट पर अंकित की है, यह किसकी कन्या है? यह तो समस्त मानुषियों का तिरस्कार करनेवाली कोई विचित्र देवकन्या जान पड़ती है। कृष्ण के पूछने पर नारद ने सब समाचार ज्यों का त्यों सुना दिया। सब समाचार जानकर श्रीकृष्ण रुक्मणी के साथ विवाह करने की योजना बनाने लगे।

इधर सब समाचार जानने वाली रुक्मणी की फुआ ने एकान्त में ले जाकर योग्य समय में रुक्मणी से कहा - "हे बाले ! एकबार अवधिज्ञानी अतिमुक्तक मुनि यहाँ आये थे। उन्होंने तुझे देखकर कहा था कि यह कन्या शुभलक्षण वाली है। अतः यह निश्चित ही नारायण श्रीकृष्ण की अतिप्रिय अर्द्धांगिनी बनेगी। कृष्ण के अन्तपुर में एक से बढ़कर एक - सोलह हजार स्त्रियाँ होंगी, उन सबमें यह प्रभुत्व प्राप्त करेगी।"

इस बात को बीते बहुत समय हो गया और यह बात आई-गई सी हो गई थी; किन्तु नारदजी ने इस बात को पुनः उठाया है। अब मुझे लगता है कि उन मुनिराज का कथन सत्य होकर ही रहेगा। परन्तु हे बाले ! तेरा भाई रुक्मि तुझे शिशुपाल के लिए दे रहा है।

फुआ के वचन सुन पहले से ही मानस बनाकर बैठी रुक्मणी ने फुआ से उत्तर में कहा - "आपका कहना सही है, मुनिराज के वचन अन्यथा नहीं होते, अतः आप शीघ्र ही यह संदेश और मेरे अभिप्राय को किसी तरह द्वारिकाधिपति के पास भेजिए।"

फुआ ने रुक्मणी का अनुकूल अभिप्राय जान विश्वासपात्र व्यक्ति के हाथों एक पत्र द्वारा यह समाचार गुप्त रूप से श्रीकृष्ण के पास भेज दिया। पत्र में लिखा था कि - “हे कृष्ण ! रुक्मणी आप में अनुरक्त है आपके द्वारा वह अपना हरण चाहती है; यदि माघ शुक्ला अष्टमी के दिन आप इसका हरण करके ले जाते हैं तो यह निःसंदेह आपकी होगी; अन्यथा पिता और बाँधवजनों के द्वारा यह शिशुपाल के लिए दे दी जायेगी और उस दशा में यह जीवित नहीं रह सकेगी। यह उस दिन नागदेव की पूजा के बहाने आपको नगर के बाहर उद्यान में मिलेगी।”

इधर कन्यादान की तैयारी करनेवाले राजा भीष्म के कहे अनुसार शिशुपाल चतुरंगणी सेना सहित कुण्डिनपुर जा पहुँचा। उधर नारद ने मौका देखकर एकान्त में कृष्ण को प्रेरित किया। प्रेरणा पाकर कृष्ण भी बलदेव के साथ गुप्तरूप से कुण्डिनपुर पहुँच गये। रुक्मणी नागदेव की पूजा के बहाने नगर के बाह्य उद्यान में पहले से ही तैयार खड़ी थी। कृष्ण ने उसे अच्छी तरह देखा। उन दोनों का अनुराग, जो अभी तक सुनने तक सीमित था, वह एक दूसरे को देखने से वायु से - प्रज्वलित अग्नि के समान वृद्धिगत हो गया।

कृष्ण ने सामान्य औपचारिक चर्चा के बाद कहा - “हे भद्रे ! मैं तुम्हारे लिए ही आया हूँ और नारदजी द्वारा बताया जो चित्र तुम्हारे हृदय में अंकित है, वही मैं ही हूँ। यदि तूने सचमुच ही मुझमें अनुपम अनुराग लगा रखा है तो आओ, रथ पर सवार हो जाओ। फुआ ने कृष्ण की बात की अनुमोदना करते हुए जाने को प्रेरित किया और कहा - “हे भद्रे ! जहाँ माता-पिता पुत्री के देनेवाले माने गये हैं, वहाँ वे कर्मों के अनुसार ही देनेवाले माने गये हैं, इसलिए सबसे बड़ा गुरु तो कर्म ही हैं।”

तत्पश्चात् रुक्मणी का अनुकूल अभिप्राय जानकर श्रीकृष्ण ने अनुराग और लज्जा से युक्त रुक्मणी को दोनों भुजाओं से उठाकर रथ पर बैठा लिया। रुक्मणी का कृष्ण के साथ जो संयोग हुआ, उसने उनका पूर्वकृत कर्म ही प्रबल कारण था; क्योंकि उस कर्म ने पूर्वनिश्चय योजना के अनुसार आये हुए शिशुपाल को विमुख कर दिया था और अनायास आये कृष्ण को रुक्मणी के सन्मुख कर दिया था।

प्रस्थान करने के पूर्व श्रीकृष्ण ने रुक्मणी के भाई रुक्मी को, ब्याहने आये शिशुपाल और उसके पिता भीष्म को रुक्मणी के हरण का समाचार देकर अपना रथ आगे बढ़ा दिया। उसी समय श्रीकृष्ण ने दिशाओं को गुंजा देनेवाला अपना पाँचजन्य और बलदेव ने अपना सुघोष शंख फूँका, जिससे शिशुपाल की सेना क्षुभित हो गई। समाचार मिलते ही रुक्मि और शिशुपाल दोनों ही बड़ी शीघ्रता से रथों पर सवार हो विशाल सेना के साथ रुक्मणी को ले जाने वाले श्रीकृष्ण और बलदेव का सामना करने के लिए पहुँचे; किन्तु धीर-वीर कृष्ण एवं बलदेव उनसे जरा भी विचलित नहीं हुए। अपने अर्द्धासन पर बैठी रुक्मणी को सांत्वना बंधाते हुए एवं मार्ग में आये ग्राम, सरोवर एवं नदियों और बाग-बगीचों की छटा दिखाते हुए धीरे-धीरे जा रहे थे।

पीछे-पीछे भयंकर सेना को आते देख मृगनयनी रुक्मणी अनिष्ट की आशंका करती हुई स्वामी श्रीकृष्ण से बोली - “हे नाथ ! क्रोध से युक्त वह मेरा भाई महारथी रुक्मी और शिशुपाल बहुत विशाल सशस्त्र सेना के साथ आ रहे हैं; उनके साथ आप दोनों का युद्ध होने पर मुझे अपनी विजय में संदेह हो रहा है।”

श्रीकृष्ण ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा - “हे कोमल हृदये ! तुम भयभीत न हो, मुझ पराक्रमी के रहते हुए उनकी संख्या बहुत होने पर भी कुछ भी नहीं होगा।”

रुक्मणी में निर्भयता और विश्वास जगाने के लिए श्रीकृष्ण ने अपने बाण से सामने खड़े हुए वटवृक्ष को अनायास ही काट दिया और अंगूठी में जड़े हुए हीरे को हाथ से चूर्ण कर उसके संदेह को नष्ट कर दिया।

राग भी कैसा विचित्र होता है, अभी तक पति के हारने की आशंका से घबराई हुई थी और जब श्रीकृष्ण की असीमित शक्ति का अंदाज लगा तो भाई के प्राण बचाने का विकल्प खड़ा हो गया। नारी के लिए तो जैसा पति का पवित्र प्रेम वैसा ही भाई का पवित्र प्रेम। वह बेचारी जब कभी-कभी दो पाटों के बीच में पिसने जैसी स्थिति में आ जाती है तो उसका तो दोनों ओर से दुःखी होना स्वाभाविक ही है।

रुक्मणी ने श्रीकृष्ण से कहा - “हे स्वामी ! आपके द्वारा युद्ध में मेरा भाई यत्नपूर्वक रक्षणीय है। आप मेरे भाई की रक्षा अवश्य करें।”

श्रीकृष्ण ने कहा - “प्रिये चिन्ता मत करो ! ऐसा ही होगा” - ऐसा आश्वासन देते हुए श्रीकृष्ण ने सेना की ओर अपना रथ आगे बढ़ा दिया ।

रोष से भरे कृष्ण एवं बलभद्र के बाणों से मुठभेड़ करती हुई शत्रु की सेना चारों ओर भागकर तितर-बितर हो गई, नष्ट हो गई । इसकारण शत्रुपक्ष का सारा अहंकार नष्ट हो गया । भयंकर युद्ध में सिंह के समान शूरवीर कृष्ण ने शिशुपाल का मस्तक छेद दिया और बलदेव ने भीष्म पुत्र राजा रुक्मि को ऐसा जर्जर कर दिया कि प्राण ही शेष रह गये ।

वहाँ से चलकर श्रीकृष्ण ने गिरनार पर्वत पर रुक्मिणी के साथ विधिवत् विवाह किया और उसके बाद भाई बलदेव के साथ द्वारिकापुरी में प्रवेश किया । वहाँ श्रीकृष्ण और रुक्मिणी अपने नवीन दाम्पत्य सुख को भोगते हुए सुख से रहने लगे । ●

वस्तुओं के अनुसार ज्ञान नहीं होता, बल्कि अपने इन्द्रिय ज्ञान की योग्यतानुसार ही वस्तुएँ जानी जाती हैं ।

इसे ही शास्त्रीय भाषा में ऐसा कहा गया है कि - ज्ञेयों के अनुसार ज्ञान नहीं होता, बल्कि अपने-अपने प्रगट ज्ञान पर्याय की योग्यता के अनुसार ज्ञेय जाने जाते हैं अर्थात् जिसकी ज्ञान पर्याय में जिस समय जिस पदार्थ को जिस रूप में जानने की योग्यता होती है, वह ज्ञान उसी पदार्थ को उसी रूप में ही जानता है ।

- इन भावों का फल

क्या होगा, पृष्ठ-४०

रुक्मणी से विवाहोपरान्त श्रीकृष्ण ने रुक्मणी के लिए सत्यभामा के महल के पास ही नानाप्रकार की सुख-सुविधाओं एवं भरपूर सम्पदा और दास-दासियों सहित महल बनवा दिया तथा उसे ही प्रमुख रानी का दर्जा देकर उसका सम्मान बढ़ाया, जिससे वह पूर्ण प्रसन्न और संतुष्ट हो गई।

इधर सत्यभामा को जब यह पता चला कि श्रीकृष्ण समस्त रानियों को अतिक्रान्त करनेवाली सर्वगुणसम्पन्न एक और नारी को विवाह कर लाये हैं और वह उन्हें अत्यधिक प्रिय है तो वह अन्तरंग में तो उससे ईर्ष्या करने लगी और दिखावे में बड़ी धीरता से उनके साथ और अधिक प्रेम का व्यवहार करने लगी।

एक दिन श्रीकृष्ण रुक्मणी के द्वारा उगले हुए पान को वस्त्र के छोर में छिपाकर सत्यभामा के घर गये। वह पान स्वभावतः सुगन्धित तो था ही, उस पर रुक्मणी के मुख की सुगन्ध ने उसमें और भी चार चाँद लगा दिए थे, 'यह कोई सुगन्धित पदार्थ है' - इस भ्रान्ति से सत्यभामा ने उसे ले लिया और उस पान के उगाल को अच्छी तरह पीसकर अपने शरीर पर लगा लिया। यह देखकर श्रीकृष्ण हँसी नहीं रोक पाये। उन्हें खूब हँसी आई। इससे सत्यभामा की ईर्ष्या की आग को और भी ज्वलनशील ईंधन मिल गया, वह क्रोधावेश में आगबबूला हो गई।

श्रीकृष्ण की ऐसी चिढ़ानेवाली चेष्टाओं से सत्यभामा सौत के रूप लावण्य को देखने के लिए उत्सुक हो उठी। एतदर्थ उसने एक दिन अपने पति से कहा - हे नाथ ! मुझे मेरी छोटी बहिन रुक्मणी से मिलवाइये न ! श्रीकृष्ण कौतूहल स्वभाव के तो थे ही अतः उन्होंने सत्यभामा को एक और कौतूहल से चकित करने के लिए रुक्मणी से सीधा न मिलाकर एक नई चाल चली।

श्रीकृष्ण ने रुक्मणी को मणिजड़ित बावड़ी के किनारे पर इसतरह खड़ा किया कि वह साक्षात् देवी

जैसी लग रही थी तथा उसे कुछ निर्देश भी दिए और सत्यभामा को लेकर उसी रत्नजड़ित बावड़ी के आस-पास खड़ा कर कहा कि तुम यहीं प्रतीक्षा करो मैं रुक्मणी को लेकर आता हूँ। ऐसा कहकर वे वहीं कहीं झाड़ियों की ओट में खड़े हो गये। सत्यभामा की दृष्टि वापिका के तट पर खड़ी मूर्तिवत निश्चल और देवीतुल्य रूप लावण्य से युक्त रुक्मणी पर पड़ी, जो मणिमय आभूषणों को पहने एक हाथ से आम्र की लता पकड़ कर पंजों के बल खड़ी थी और बायें हाथ से अपनी अत्यन्त सुशोभित मोटी चोटी पकड़े थी। उरोजों के भार से वह कुछ-कुछ नीचे को झुक रही थी तथा ऊपर लगे फूलों पर उसके बड़े-बड़े नेत्र टिके हुए थे। देवी के समान रूपवती रुक्मणी को देखकर सत्यभामा ने समझा कि यह कोई महादेवी है, इसलिए उसने उसके सामने फूलों की अंजुली बिखेरकर तथा उसके चरणों में झुककर प्रणामकर अपने सौभाग्य और सौत के दुर्भाग्य की याचना की; क्योंकि वह ईर्ष्या से जली-भुनी जो थी।

इसीसमय मन्द-मन्द मुस्कराते हुए श्रीकृष्ण ने आकर सत्यभामा से कहा कि 'अहा ! दो बहिनों का यह अपूर्व मिलन हो लिया।' श्रीकृष्ण के वचन सुनकर सत्यभामा सबकुछ समझ गई, सब रहस्य जान गई और कुपित होकर बोली कि 'अरे ! हम दोनों का इच्छानुरूप मिलन हुआ या नहीं इससे आपको क्या मतलब ?'

श्रीकृष्ण का कौतूहल और सत्यभामा का कुपित रूप देखकर रुक्मणी ने सत्यभामा को विनयपूर्वक नमस्कार किया। उच्चकुल में उत्पन्न हुए मनुष्य स्वभाव से ही विनम्र होते हैं। तदनन्तर श्रीकृष्ण दोनों रानियों के साथ सुशोभित उद्यान के लतामण्डप में क्रीड़ा कर महल में लौट गये।

श्रीकृष्ण के दिन उन दोनों रानियों के साथ सुख से बीत रहे थे, तभी एक दिन हस्तिनापुर के राजा दुर्योधन ने प्रिय समाचारों के साथ श्रीकृष्ण के पास अपना दूत भेजा।

समाचार यह था कि आपकी रुक्मणी और सत्यभामा रानियों में से जिसके पहले पुत्र उत्पन्न होगा और मेरे यहाँ यदि पुत्री उत्पन्न होगी तो आपका वह पुत्र मेरी पुत्री का पति होगा।

दूत के वचन सुनकर श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने दूत का सम्मान कर विदा किया। दूत ने अपनी स्वामी को कार्यसिद्ध होने का समाचार कह सुनाया।

यह समाचार सुनकर सत्यभामा ने रुक्मणी के पास अपनी दूती भेजी जो रुक्मणी के चरणों में झुककर कहने लगी कि हे स्वामिनी ! हमारी स्वामिनी सत्यभामा ने कहा है कि 'हम दोनों में से जिसके पहले पुत्र होगा वह दुर्योधन की होनहार पुत्री को विवाहेगा' यह बात अपने स्वामी श्रीकृष्ण द्वारा निश्चित हो चुकी है तथा यह भी अच्छी तरह से समझ लो कि उस विवाह के समय जिनके पुत्र न होगा, उसकी कटी हुई केश-राशि को वर-वधू अपने पैरों के नीचे रखकर स्नान करेंगे तथा यदि आपको यह इष्ट हो तो आप स्वीकृति दीजिए। रुक्मणी ने तुरन्त तथास्तु कहकर दासी को विदा किया।

चतुर्थ स्नान के बाद रुक्मणी एक रात जब शय्या पर सोई तो उसने स्वप्न में हंस विमान के द्वारा आकाश में विहार किया जाना देखा। जागने पर उसने अपने पति से स्वप्न का फल पूछा - उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा - तुम्हारे आकाश में विहार करनेवाला कोई महान भाग्यवान पुत्र होगा।

पति के वचन सुनकर रुक्मणी प्रातः सूर्य की किरणों के संसर्ग से खिली हुई कमल के समान प्रसन्न हुई। तदनन्तर अल्पकाल में ही श्रीकृष्ण एवं समस्त परिजनों के आनन्द को बढ़ानेवाला अच्युतेन्द्र स्वर्ग से पुण्यात्मा जीव रुक्मणी के गर्भ में आ गया। उसीसमय सत्यभामा ने भी उत्तम स्वप्नपूर्वक स्वर्ग से च्युत हुए जीव को गर्भ में धारण किया।

प्रसव का समय पूर्ण होने पर रुक्मणी ने उत्तम लक्षणों से सहित पुत्र को जन्म दिया और साथ-साथ सत्यभामा ने भी उत्तम पुत्र को उत्पन्न किया। दोनों ही रानियों ने यह शुभ समाचार श्रीकृष्ण के पास एकसाथ भेजे। उससमय श्रीकृष्ण सो रहे थे। अतः दोनों दूत उनके जागने की प्रतीक्षा में वहीं खड़े रहे। संयोग से सत्यभामा का दूत श्रीकृष्ण के सिरहाने एवं रुक्मणी का दूत श्रीकृष्ण के चरणों की ओर खड़ा था। जब कृष्ण जागे तो सर्वप्रथम उनकी दृष्टि रुक्मणी के दूत पर पड़ी रुक्मणी के दूत ने श्रीकृष्ण के जागते ही सर्वप्रथम तुरन्त रुक्मणी के पुत्र जन्म का समाचार सुनाया। उससे प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण ने उन्हें अपने आभूषण उतार कर पुरस्कार में दे दिए। बाद में उन्होंने जब मुड़कर देखा तो उनकी दृष्टि सिरहाने खड़े

सत्यभामा के दूत पर पड़ी। तब सत्यभामा के दूत ने उन्हें प्रणाम कर सत्यभामा के पुत्रोत्पत्ति के समाचार सुनाये। उसे भी श्रीकृष्ण ने पुरस्कार में प्रचुर धन दिया।

उसीसमय धूमकेतु नामक राक्षस विमान में बैठकर आकाशमार्ग से जा रहा था कि उसका विमान रुक्मणी के महल पर आकर अचानक अटक गया, इससे उसने आश्चर्य में पड़कर नीचे देखा और अपने विभंग अवधि ज्ञान से जाना कि यह रुक्मणी से उत्पन्न हुआ बालक मेरा पूर्व जन्म का शत्रु है। इसी के कारण मेरा विमान अटक गया है। अतः उसने रुक्मणी को अपनी आसुरी शक्ति से अचेत कर उस बालक का अपहरण कर आकाश मार्ग में उड़ गया और सोचने लगा कि इसे किसतरह पीड़ित करके मारा जाय? अन्त में उसने सोचा – यह तत्काल का पैदा हुआ मांसपिण्ड ही तो है, इसे मार कर व्यर्थ का पाप कमाने से क्या लाभ? इसे ऐसा ही एकान्त में बेसहारा छोड़ देने से यह अपनी मौत स्वतः ही मर जायेगा।

बालक की आयु लम्बी थी, पुण्यशाली भी था। भली होनहारवाला जीव होने से उस असुर के विचार स्वतः ही बदल गये अतः उसने उसे जान से मारने के बजाय नीचे उतरकर एक तक्षशिला के नीचे रख दिया और वह असुर धूमकेतु तारा की भांति अदृश्य हो गया।

संयोग से उसीसमय मेघकूट नगर का राजा कालसंवर अपनी रानी कनकमाला के साथ विहार करता हुआ विमान द्वारा आकाशमार्ग से वहीं उसी तक्षशिला के ऊपर पहुँचा। शिला के नीचे दबे बालक के पुण्यप्रभाव के निमित्त से उस राजा का विमान भी अटक गया। कालसंवर को भी आश्चर्य हुआ कि चलता विमान अचानक कैसे अटक गया? नीचे उतरते ही उसे हिलती हुई एक मोटी शिला दिखी। शिला हटाकर जब उसने देखा कि इतनी विशाल वजनदार शिला के नीचे यह क्रीड़ा करता हुआ बालक! न घायल हुआ है, न कोई अंग दबा है। कामदेव के समान सुन्दर बालक यह कौन है? दया और प्रेम से अभिभूत हो कालसंवर राजा ने उस बालक को उठाकर अपनी पत्नी को सौंपते हुए कहा – तुम्हारे कोई संतान नहीं है। तुम्हारे सौभाग्य से ही मानो यह पुण्यशाली बालक तुम्हें प्राप्त हो गया है। अब तुम इसे अपना ही पुत्र मानो।

पहले तो विद्याधरी कनकमाला ने उसे लेने के लिए दोनों हाथ पसार दिए; परन्तु फिर उस दूरदर्शी विद्याधरी ने उसे गोद में लेने से मना कर दिया। पति के द्वारा गोद में न लेने के कारण पूछने पर उसने कहा कि आपके अन्य रानियों से उच्चकुल में उत्पन्न हुए पाँच सौ पुत्र हैं। वे अहंकार से यदि इस अज्ञात कुलवाले पुत्र को भाई नहीं मानेंगे और अनादर करेंगे तो उनका वह व्यवहार मुझे असह्य होगा। अतः मेरा निपूती रहना ही ठीक है।

राजा कालसंवर ने अपनी प्रियपत्नी कनकमाला को आश्वस्त करते हुए कहा – तुम निश्चिन्त रहो ! ‘यह युवराज होगा’ कनकमाला ने इस सान्त्वना के साथ उस बालक को गोद में ले लिया।

नगर में पहुँचकर कालसंवर ने पुत्र के जन्मोत्सव मनाने हेतु यह घोषित किया महारानी कनकमाला के गूढगर्भ से आज बालक का जन्म हुआ है। अतः सम्पूर्ण नगर में जोरदार जन्मोत्सव मनाया जाय, तदनुसार महोत्सव मनाया गया। स्वर्ण के समान कान्तिवाला होने से उस का नाम प्रद्युम्न रखा गया। वह प्रद्युम्नकुमार सैंकड़ों विद्याधर कुमारों के द्वारा सेवित होता हुआ दिनों-दिन बढ़ने लगा।

इधर द्वारिकापुरी में जब रानी रुक्मणी जाग्रत हुई, उसकी निद्रा भंग हुई तो वह पुत्र को न पाकर जोर-जोर से विलाप करने लगी। रुक्मणी के करुण विलाप को सुनकर परिजन तो इकट्ठे हुए ही, श्रीकृष्ण और बलदेव भी तत्काल वहाँ पहुँच गये। श्रीकृष्ण ने रुक्मणी से कहा – हे प्रिये ! अधिक शोक मत करो, धैर्य धारण करो। वह पुत्र साधारण पुत्र नहीं है, वह तुम्हें शीघ्र ही मिलेगा।

इसप्रकार रुदन करती हुई रुक्मणी को आश्वासन देकर एवं शान्त कर पुत्र को खोजने के उपाय करने लगे। उसीसमय संयोग से नारद ऋषि वहाँ आ पहुँचे। सब जनों का शोक कम करते हुए नारद ने श्रीकृष्ण से कहा – “हे वीर ! आप भी शोक छोड़ो ! मैं शीघ्र आपके पुत्र का सुखद समाचार लाता हूँ।

यद्यपि यहाँ नेमिकुमार को अवधिज्ञान है; परन्तु वे तो जानते हुए भी कुछ नहीं बोलेंगे। इसलिए मैं पूर्वविदेह क्षेत्र में जाकर सीमन्धर भगवान की धर्मसभा से समाधान प्राप्त कर आता हूँ। नारद कृष्ण को धैर्य

बंधाकर रुक्मणी के भवन में गये। वहाँ रुक्मणी की मानसिक पीड़ा देख स्वयं भी मन ही मन करुणा से दुःखी हो गये, पर उन्होंने अपना दुःख व्यक्त न करके रुक्मणी को समझाया और शीघ्र सुखद समाचार लाने की आशा बंधाई।

रुक्मणी ने नारदजी को जाता देख खड़े होकर उनका विनय एवं उचित आदर सम्मान किया और अपने पितातुल्य नारद को विदा देते हुए स्वयं को संभाल नहीं पायी उसकी आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी।

अत्यन्त चतुर नारद ने उन्हें संबोधते हुए कहा - “हे रुक्मणी ! तू शोक छोड़ ! तेरा पुत्र जहाँ भी है, जीवित है और सुखी है; क्योंकि वह तेरी कूँख से श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष की संतान है और स्वयं भी पुण्यशाली है। पुत्री ! तू इतना तो समझती ही है कि इस संसार में प्राणियों को सुख-दुःख देनेवाले संयोग-वियोग तो होते ही रहते हैं; परन्तु जो तत्त्वज्ञान के आलम्बन ले कर्मों के शुभाशुभ क्षणिक फलों एवं वस्तुस्वरूप की श्रद्धा रखते हैं, उन्हें ऐसी स्थिति में तत्त्वज्ञान को ही बारम्बार स्मरण करके धैर्य धरना चाहिए। यही तो धर्म का लाभ है, अन्यथा कोरा शास्त्रज्ञान तो बोझा ही है। अतः तू होनहार का विचार कर धैर्य धारण कर !”

वैसे भी यादव कुल इतना भाग्यहीन नहीं है, जिसे ऐसे भयंकर संकट आयें, जिन्हें वह झेल न सके। फिर भी मैं शीघ्र ही तेरे पुत्र का शुभ समाचार लाता हूँ। तू चिन्ता मत कर ! दुखी न हो।

ऐसे अमृतमय वचनों से आश्वस्त कर नारदजी सीमन्धरस्वामी के समोशरण में पहुँचे और वहाँ वे नानाप्रकार से स्तुति-वंदना करके राजाओं की सभा में जा बैठे।

वहाँ उस समय दीर्घकाय ५०० धनुष ऊँचे पद्मरथ चक्रवर्ती बैठे थे, उन्होंने उनकी तुलना में बहुत छोटे मात्र १० धनुष ऊँचे भरत क्षेत्र के नारद मुनि को साश्चर्य देखा और अपनी हथेली पर रखकर सीमन्धरस्वामी से पूछा - “हे प्रभु ! यह मनुष्याकार कीड़ा कौन है ? और यहाँ इस मनुष्यों की सभा में क्यों आया है ?”

समोशरण का यह भी एक अतिशय है कि - तीर्थंकर द्वारा किसी के प्रश्नों के सीधे उत्तर दिए बिना ही शंकाकार की शंकाओं का पूरा समाधान सहज ही स्वतः हो जाता है। समोशरण में उपस्थित श्रोताओं

के मन में जो भी छोटी-मोटी शंकायें होती हैं। उन सबका समाधान बिना उत्तर दिये अपने आप होता है। पद्मरथ चक्रवर्ती के प्रश्न के उत्तर में यह समाधान हुआ कि यह जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के नौवें नारायण के हित में तत्पर रहनेवाले नारद हैं और नौवें नारायण श्रीकृष्ण के अपहरण हुए पुत्र की जानकारी प्राप्त करने तथा उसका पूरा पता पूछने आये हैं, जो कि अपनी सोलह वर्ष की उम्र में सोलह प्रकार के विशेष लाभ प्राप्तकर अपने माता-पिता से मिलेगा।

प्रज्ञप्ति नामक महाविद्या से जिसका पराक्रम चमक उठेगा ऐसा महाभाग्यशाली तद्भव मोक्षगामी वह प्रद्युम्नकुमार इस पृथ्वी पर समस्त देवों के लिए भी अजेय हो जायेगा।

चक्रवर्ती पद्मरथ के मन में जिज्ञासा हुई कि उस प्रद्युम्न का चरित्र कैसा होगा ? और वह किसकारण हर लिया गया है ?

समाधान में प्रद्युम्न का जो चरित्र उन्हें ज्ञात हुआ, वह इसप्रकार है -

सोमशर्मा और अग्रिला दम्पति से अग्निभूत और वायुभूत नाम के दो पुत्र हुए। ये दोनों ही पुत्र वेद-वेदार्थ में अत्यन्त निपुण थे, इससे वे बृहस्पति के समान दैदीप्यमान होने लगे। जातिवाद से गर्वित वातावरण में पले-पुसे ये दोनों ही पुत्र युवा होने पर भोग-वासना में लीन हो गये। जब वे सोलह वर्ष की युवक अवस्था को प्राप्त हुए तो कामुक हो स्त्री रमण को ही सम्पूर्ण सुख मानने लगे और लोक-परलोक की हितकर कथा मात्र से द्वेष करने लगे।

किसी समय बहुश्रुतज्ञ आचार्य नन्दीवर्द्धन ससंघ उसी शालिग्राम के बाहर उपवन में कुछ दिन के लिए ठहर गये। ग्राम के सभी धर्मनिष्ठ व्यक्ति उनके दर्शनार्थ आने-जाने लगे। उन्हें देख दोनों ब्राह्मण पुत्रों ने जनसमूह से उपवन में जाने का कारण पूछा। कारण जानकर उन अहंकारी अग्निभूत-वायुभूत ने सोचा - हम लोगों से बढ़कर दूसरा वन्दनीय है ही कौन ? चलो हम भी चलकर देखें तो सही - ऐसे अहंकार से भरे दोनों भाई उपवन में गये। जब वे वहाँ पहुँचे उस समय अवधिज्ञानी साधु शिरोमणि आचार्य नन्दीवर्द्धन समुद्र के समान अपार जनसमूह के मध्य विराजे धर्म का उपदेश दे रहे थे।

वे बता रहे थे कि 'देखो, धन, जाति और शास्त्रीय ज्ञान का गर्व करना कुगति का कारण है। पर्याय पलटते ही न जाति का कोई ठिकाना रहता है, न कुल का। क्षण में राजा पापकर्म के फल में रंक हो जाता है, रुग्ण होकर दुःखी हो जाता है। संक्लेश परिणामों से मरणकर नरकों में भी चला जाता है और पशु भी अकामनिर्जरा करके मनुष्य व देवगति प्राप्त कर लेता है। पुराणों में तो ऐसे अनेक उदाहरण मिलते ही हैं, हम अपने जीवन में भी दिन-रात ऐसी घटनायें देखते-सुनते रहते हैं। अतः हमें प्राप्त पर्याय की अनुकूलता में न तो मूर्च्छित होना चाहिए और न ही अहंकार करना चाहिए। कहा भी है -

द्रव्यरूप करि सर्व थिर, पर्यय थिर है कौन
?

द्रव्यदृष्टि आपा लखो, पर्यय नय करि गौण ॥

द्रव्यदृष्टि से तो हम सभी अनन्तगुणों के घनपिण्ड और अनन्तशक्तियों के पुंज हैं ही, कोई भी किसी से कम नहीं है, अतः अहंकार करने की बात ही नहीं बनती और पर्यायदृष्टि में जो अन्तर दिखाई देता है, वह भी बादल और बिजली की भांति क्षणभंगुर है, उन क्षणिक अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में भी हर्ष-विषाद करना निरर्थक ही है।”

यह सब उपदेश नवीन आगन्तुक अग्निभूत एवं वायुभूत भी ध्यान से सुन रहे थे। उपदेश के बीच जब आचार्यश्री की दृष्टि उन पर पड़ी और उन्हें बीच में बोलने का उत्सुक देखा तो आचार्यश्री को विचार आया कि इन्हें आगे बुलाकर थोड़ा आदर देना चाहिए; अन्यथा ये सभा में विघ्न बाधा खड़ी कर सकते हैं।

मुनिराज अवधिज्ञानी भी थे, इसकारण वे उनके विषय में बहुत कुछ जान चुके थे। अतः उपदेश के बीच में ही आचार्यश्री ने उन दोनों को आगे बुलाया। उन्हें आगे बुलाने से जो महत्त्व मिला, उससे उनको तो मान की खुराक मिलने से वे तो प्रसन्न हुए ही, विशिष्ट अन्य लोग भी उनके व्यक्तित्व की ओर आकर्षित हुए और अधिकांश प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने आसपास बैठकर उन्हें घेर लिया।

आचार्यश्री ने उन दोनों के मिथ्या गर्व को खंडित करने के अभिप्राय से और उन्हें सन्मार्ग दिखाने की पवित्र भावना से अपने प्रवचन में उन्हें सम्बोधित करते हुए उनसे पूछा - हे विद्वानो ! आप लोग कहाँ से आये हैं? उत्तर में उन्होंने कहा - गुरुदेव ! हम इसी शालिग्राम से आये हैं।

मुनिराज ने कहा - यह तो ठीक है, हम तो आप जैसे विद्वानों से यह जानना चाहते हैं कि इस अनादि-अनंत संसार में परिभ्रमण करते हुए आप इस मनुष्यगति में किस गति से आये हैं?

दोनों विद्वानों ने कहा - “यह बात हम तो क्या ? शायद ही कोई बता सके कि कौन किस गति से आया है और कौन कहाँ जायेगा ? यदि आप जानते हों तो हमें अवश्य बतायें। हमें यह जानने की पूरी-पूरी जिज्ञासा जाग्रत हो गई है।”

मुनिराज ने कहा - “मुझे अवधिज्ञान प्राप्त है, यद्यपि मैं उसका उपयोग कभी करता नहीं हूँ, क्योंकि उसका विषय बहुत स्थूल है और पर के जानने मात्र में उसका उपयोग है। आत्मा का हित तो आत्मा के जानने और उसी में जमने-रमने से है; परन्तु आप जैसे श्रुतज्ञ विद्वानों को देखने से अनायास ही तुम्हारे भूतकाल को जानने में मेरा अवधिज्ञान जुड़ गया है, फिर भी मैं तुम्हें बताना नहीं चाहता था, क्योंकि उसे तटस्थ भाव से जानकर उसका आत्महित में उपयोग करना हर एक के वश की बात नहीं है। तुम अपनी पूर्व की कथा-व्यथा सुनकर कहाँ तक सह पाओगे, मैं नहीं जानता। अपनी पूर्व की दुर्दशा का दिग्दर्शन करने में बहुत ही सहनशीलता चाहिए। तुम सोच लो ! क्या तुम सुनकर सहज रह सकोगे ?

अग्निभूत-वायुभूत ने कहा - मुनिवर ! आप अवश्य कहें, अब हमें जानने की और भी तीव्र जिज्ञासा जाग्रत हो गई है। हम धैर्य से सुनेंगे और उसका आत्महित में ही उपयोग करने का प्रयत्न करेंगे।

मुनिराज ने कहा - ठीक है, सुनो ! तुम दोनों भाई इस जन्म से पूर्व इसी शालिग्राम की सीमा के निकट शृंगाल थे। दोनों ही परस्पर प्रीति से रहते थे। इसी ग्राम में एक किसान रहता था। एक दिन वह खेत को जोतकर निर्वृत्त हुआ ही था कि बड़े जोर से वर्षा होने लगी तथा तीव्र आंधी आ गयी। उससे वह बहुत पीड़ित हुआ, उसका शरीर काँपने लगा, जिससे वह खेत के पास ही वटवृक्ष के नीचे चमड़े का उपकरण छोड़कर

घर चला गया। वर्षा लगातार सात दिन-रात तक होती रही। इस बीच में तुम दोनों श्रृंगाल की पर्याय में भूख से अत्यन्त व्याकुल हो उठे और तुम दोनों श्रृंगालों ने भूख मिटाने हेतु उस किसान के वे भीगे उपकरण खा लिए। कुछ समय बाद पेट में बहुत भारी शूल की वेदना उठने से दोनों श्रृंगालों को असह्य वेदना सहन करनी पड़ी। अकामनिर्जरा के योग से प्रशस्त आयु का बन्ध हो गया और उसके फलस्वरूप मरकर सोमदेव ब्राह्मण जाति के गर्व से गर्वित अग्निभूत और वायुभूति नाम के तुम दोनों पुत्र हुए।

पाप के उदय से प्राणियों को दुर्गति मिलती है और पुण्य के उदय से सुगति प्राप्त होती है इसलिए जाति का गर्व करना वृथा है। वर्षा बन्द होने पर जब किसान खेत पर पहुँचा तो वहाँ मरे हुए तुम दोनों श्रृंगालों को देखकर घर उठा लाया और उनकी मशकें बनवाकर अपना काम चलाने लगा। वे मशकें उसके घर में आज भी रखी हैं। तीव्र मान से वह किसान भी समय पाकर मर गया और स्वयं के पुत्र का पुत्र हुआ। वह कामदेव के समान कान्ति का धारक है तथा जाति स्मरण होने से झूठ-मूठ ही गूँगा के समान रहता है। देखो, वह अपने बन्धु-जनों के बीच में बैठा मेरी ओर टकटकी लगाकर देख रहा है। इतना कहकर मुनिराज ने उस गूँगे को अपने पास बुलाकर कहा कि तुझे तो जातिस्मरण ज्ञान से ज्ञात ही है कि तू वही किसान के पुत्र का पुत्र हुआ है। अब तू शोक और गूँगेपन को छोड़ तथा वचनरूपी अमृत को प्रकट कर, स्पष्ट बातचीत कर अपने बन्धुजनों को हर्षित कर! इस संसार में नट के समान स्वामी और सेवक, पिता और पुत्र, माता तथा स्त्री में विपरीतता देखी जाती है अर्थात् स्वामी सेवक हो जाता है और सेवक स्वामी हो जाता है, पिता-पुत्र हो जाता है, पुत्र पिता हो जाता है और माता स्त्री हो जाती है, स्त्री माता हो जाती है। यह संसार रहट में लगी घटियों के जाल के समान जटिल तथा कुटिल है। इसमें भ्रमण करनेवाले जन्तु निरन्तर ऊँच-नीच अवस्था को प्राप्त होते रहते ही हैं। इसलिए हे पुत्र! संसाररूपी सागर को निःसार एवं भयंकर जानकर धर्म को अंगीकार कर! इसप्रकार मुनिराज ने जब उसके गूँगेपन का कारण प्रत्यक्ष दिखा दिया तब वह तीन प्रदक्षिणा देकर उनके चरणों में गिर पड़ा। उसके नेत्र आनन्द के आँसुओं से व्याप्त हो गये। वह बड़े आश्चर्य

के साथ खड़ा हो हाथ जोड़ मस्तक से लगा गद्गद् वाणी से कहने लगा -

“हे भगवन् ! आप सर्वज्ञ के समान हैं, यहाँ बैठे-बैठे ही तीनों लोकसम्बन्धी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानते हैं। हे नाथ ! मेरा मनरूपी नेत्र अज्ञानमयी पटल से मलिन हो रहा था सो आज आपने उसे ज्ञानरूपी अंजन की सलाई से खोल दिया। महामोहरूपी अन्धकार से व्याप्त इस अनादि संसार-अटवी में भ्रमण करते हुए मुझे आपने सच्चा मार्ग दिखलाया है। इसलिए हे मुनिराज ! आप ही मेरे बन्धु हैं। हे भगवन् ! मुझे दिगम्बरी दीक्षा दीजिए। इसप्रकार गुरु के निकट आ उस गूँगे किसान ने दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। उस किसान का यह चरित सुनकर तथा देखकर कितने ही लोग मुनिपद को प्राप्त हो गये और कितनों ने श्रावक के व्रत ग्रहण किए।

अग्निभूति और वायुभूति अपने पूर्वभव की कथा सुन बड़े लज्जित हुए। वे सह न सके; क्योंकि उनकी होनहार ही भली नहीं थी। अतः उस समय तो वे चुपचाप चले गये। रात्रि के समय वे मुनिराज कहीं एकान्त में कायोत्सर्ग मुद्रा से स्थित थे, तब उन्हें अग्निभूति और वायुभूति तलवार हाथ में ले मारना ही चाहते थे कि यक्ष ने उन्हें कील दिया। जिससे वे तलवार उठाये हुए ज्यों के त्यों खड़े रह गये। प्रातःकाल होने पर लोगों ने मुनिराज के पास खड़े हुए उन दोनों को देखा और ये वही निन्दित कार्य के करनेवाले पापी हैं। इसप्रकार कहकर उनकी निन्दा की। अग्निभूति, वायुभूति सोचने लगे कि देखो, मुनिराज का यह कितना भारी प्रभाव है कि जिनके द्वारा अनायास ही कीले जाकर हम दोनों खम्भे जैसी दशा को प्राप्त हुए हैं। उन्होंने मन में यह भी संकल्प किया कि यदि किसी तरह इस कष्ट से हम लोगों का छुटकारा होता है तो हम अवश्य ही जिनधर्म धारण करेंगे; क्योंकि उसकी सामर्थ्य हम इसतरह प्रत्यक्ष देख चुके हैं।

उसीसमय उनका कष्ट सुन उनके माता-पिता शीघ्र दौड़े आये और मुनिराज के चरणों में गिरकर उन्हें प्रसन्न करने का उद्यम करने लगे। करुणा के धारक मुनिराज अपना योग समाप्त कर जब विराजमान हुए तब उन्होंने यह सब जिनशासन के सेवक देवों द्वारा किया जाकर उन्हें अभयदान देने का देवों को आदेश दिया और कहा यह इनका अनीति से उत्पन्न दोष क्षमा कर दिया जाये। इसप्रकार राजाओं की आज्ञा के

समान मुनिराज की आज्ञा प्राप्त कर जैसी आपकी आज्ञा हो यह कह देवों ने दोनों को छोड़ दिया ।

तदनन्तर मुनिराज के समीप जाकर अग्निभूति, वायुभूति ने मुनि और श्रावक के भेद से दो प्रकार का धर्म श्रवण किया और अणुव्रत धारण कर श्रावक पद प्राप्त किया । सम्यग्दर्शन की भावना से युक्त दोनों चिरकाल तक धर्म का पालन कर मृत्यु को प्राप्त हो सौधर्म स्वर्ग में देव हुए ।

अग्निभूति, वायुभूति के जीव जो सौधर्म स्वर्ग में देव हुए थे, स्वर्ग के सुख भोग, वहाँ से च्युत हुए और अयोध्या नगरी में रहनेवाले समुद्रदत्त सेठ की धारिणी नामक स्त्री से पुत्र उत्पन्न हुए । उनमें बड़े पुत्र का नाम पूर्णभद्र और छोटे पुत्र का नाम मणिभद्र था । इस पर्याय में भी दोनों ने सम्यक्त्व की विराधना नहीं की थी तथा दोनों ही जिनशासन से स्नेह रखनेवाले थे । किसी समय पूर्णभद्र और मणिभद्र रथ पर सवार हो मुनिपूजा के लिए नगर से जा रहे थे कि बीच में उन्होंने ज्यों ही एक चाण्डाल तथा कुत्ती को देखा तो उनके हृदय में स्नेह उमड़ आया ।

मुनिराज के पास जाकर दोनों ने भक्तिपूर्वक उन्हें नमस्कार किया । तदनन्तर आश्चर्य से युक्त हो उन्होंने पूछा हे स्वामिन् कुत्ती और चाण्डाल के ऊपर हम दोनों को स्नेह किस कारण उत्पन्न हुआ ?

अवधिज्ञान के द्वारा तीनों लोकों की स्थिति को जाननेवाले मुनिराज ने कहा कि अग्निभूति-वायुभूति के जन्म में तुम्हारे जो माता-पिता थे । वे ही ये कुत्ती और चाण्डाल हुए हैं । सो पूर्वभव के कारण इन पर तुम्हारा स्नेह हुआ है । इसप्रकार सुनकर तथा मुनिराज को नमस्कार कर दोनों भाई कुत्ती और चाण्डाल के पास पहुँचे । वहाँ जाकर उन्होंने उन दोनों को धर्म का उपदेश दिया तथा पूर्वभव की कथा सुनायी, जिससे वे दोनों शान्त हो गये । चाण्डाल ने संसार से विरक्त हो दीनता छोड़ चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दिया और एक माह का सन्यास लेकर नन्दीश्वर द्वीप में देव हुआ । कुत्ती इसी नगर में राजा की पुत्री हुई । इधर राजपुत्री का स्वयंवर हो रहा था । जिस समय वह स्वयंवर में स्थित थी, उसी समय पूर्वोक्त नन्दीश्वर देव ने आकर उसे सम्बोधा । जिससे संसार को असार जान सम्यक्त्व की भावना से युक्त उस नवयौवनवती

राजपुत्री ने एक सफेद साड़ी का परिग्रह रख आर्यिका दीक्षा ली।

पूर्णभद्र और मणिभद्र नामक दोनों भाई चिरकाल तक श्रावक के उत्तम एवं श्रेष्ठ व्रत का पालन कर अन्त में सल्लेखना द्वारा पुनः सौधर्म स्वर्ग में उत्तम देव हुए। पश्चात् स्वर्ग से च्युत होकर वे अग्निभूति-वायुभूति के जीव अयोध्या नगरी के राजा हेमनाभ की धरावती रानी के मधु और और कैटभ नामक पुत्र हुए। तदनन्तर किसी दिन राजगद्दी पर मधु का और युवराज पद पर कैटभ का अभिषेक कर राजा हेमनाथ ने जिनदीक्षा धारण कर ली। मधु और कैटभ पृथ्वीतल पर अद्वितीय वीर हुए। वे दोनों सूर्य और चन्द्रमा के समान अद्भुत तेज के धारक थे।

राजा मधु एवं चन्द्रप्रभा का कथाप्रसंग

सौधर्म स्वर्ग से चयकर वे अग्निभूति एवं वायुभूति के जीव पुनः अयोध्यानगरी के राजा हेमनाभ की धरावती रानी से मधु एवं कैटभ नामक पुत्र हुए। राजा हेमनाभ मधु को राजा एवं कैटभ को युवराज का पदभार देकर स्वयं साधु हो गये। दोनों पुत्र सूर्य और चन्द्रमा के समान अद्भुत तेज के धारक वीर पुरुष थे।

राजा मधु का अधीनस्थ राजा भीमक ही एकबार इनके विरुद्ध युद्ध के लिए तैयार हो गया। उसे वश में करने के लिए दोनों भाई ससैन्य चलकर अपने दूसरे अधीनस्थ राजा वीरसेन की राज्यसीमा में पहुँचे। वहाँ के राजा वीरसेन ने इनका खूब आदर-सम्मान तो किया ही, अपना स्वामी समझ कर अन्तःपुर में ठहरने का स्थान भी दे दिया।

राजा वीरसेन की चन्द्रिका के समान अत्यन्त रूपवती चन्द्राभा नाम की रानी थी। चन्द्राभा के मधुर भाषण से न्याय-नीति में निपुण राजा मधु का मन तो मोहित हो ही गया, पर आश्चर्य की बात तो यह है कि विवाहिता चन्द्राभा भी पति से विमुख हो पर पुरुष पर आकर्षित हो गई। उसका मन भी राजा मधु के रूप लावण्य और पौरुष पर मोहित हो गया।

यद्यपि राजा मधु बुद्धिमान और स्वाभिमानी था, वह जानता था कि परस्त्री के कारण मेरा अपवाद होगा, मैं कलंकित हो जाऊँगा; तथापि विनाश काले विपरीत बुद्धि के अनुसार उसने सोच लिया कि चन्द्रामा में जो कलंक है वह जिसतरह चन्द्रमा की शोभा का कारण बना हुआ है, उसीतरह मेरा यह कलंक भी मेरी शोभा ही बढ़ायेगा।

जब व्यक्ति के बुरे दिन आते हैं, तब बुद्धि वैसी ही विपरीत हो जाती है और वह चेष्टाएँ भी वैसी ही करने लगता है और बाह्य कारण भी तदनुकूल मिल ही जाते हैं। संयोग से राजा मधु जब राजा भीमक पर विजय प्राप्त कर वापिस लौटा था तब राजा वीरसेन और उसकी पत्नी चन्द्राभा भी साथ आये थे। वहाँ राजा मधु ने उन दोनों का खूब सत्कार करके राजा वीरसेन को तो वापिस विदा कर दिया और मन में छल रखकर चन्द्राभा को यह कह कर रोक लिया कि अभी उसके योग्य आभूषण तैयार नहीं हो पाये, आभूषण तैयार होते ही भेज देंगे। भोला-भाला वीरसेन उसके छल को नहीं समझ पाया और घर चला गया। इधर राजा मधु ने चन्द्राभा को अपनी महारानी (पत्नी) बनाकर सब रानियों में उसे सर्वोच्च स्थान - महादेवी का पद प्रदान कर दिया।

कहावत है 'अंधा क्या चाहता दो आँखें' चन्द्राभा भी यही चाहती थी, अतः उसने भी अपने विवाहित पति राजा वीरसेन की उपेक्षा करके राजा मधु की स्त्री बनना स्वीकार कर लिया और उसके साथ भोगों में मग्न हो गई। सचमुच कामान्ध व्यक्ति अपना हिताहित नहीं समझता।

इधर चन्द्राभा का पूर्व पति वीरसेन अपनी पत्नी की विरहरूपी अग्नि की ज्वाला में जल-भुन कर आधा पागल-सा होकर इधर-उधर भटकने लगा। एक दिन वह 'चन्द्राभा ! चन्द्राभा !!' की रट लगाये विलाप करता हुआ नगर की गलियों में भटक रहा था कि महल पर खड़ी चन्द्राभा ने उसे उस हालत में देखा तो उसके हृदय में दया उमड़ आई। उसने अपने पास ही बैठे राजा मधु से कहा - हे नाथ ! देखो यह मेरा पूर्व पति कैसा पागल की तरह प्रलाप करता हुआ मेरे नाम की रट लगाये घूम रहा है।

संयोग से उसी अवसर पर कुछ कठोर हृदय वाले कर्मचारियों ने एक परस्त्री सेवन के अपराधी को मारते-

पीटते उसकी दुर्दशा करते राजा मधु के दरबार में न्याय की माँग करते पेश किया और कहा कि हे न्याय के सिंहासन पर विराजमान राजन् ! इसके लिए कौन-सा दण्ड दिया जाय ?

राजा मधु ने उत्तर दिया - यह इसका अक्षम्य अपराध है, यह महापापी है। इसलिए इसके हाथ-पाँव काटकर इसे भयंकर दण्ड दिया जाय।

देवी चन्द्राभा ने उसी समय राजा मधु को रोकते हुए कहा - हे देव ! यदि यह इतना बड़ा अपराध है तो यही अपराध तो आपने भी किया है।

चन्द्राभा के वचन सुनते ही राजा मधु की आँखे फटी की फटी रह गईं। उन्हें मानो पक्षाघात हो गया हो - ऐसे हतप्रभ हो गये, मुख म्लान हो गया, कान्ति नष्ट हो गई। वह विचार करने लगा - मेरी हितचिन्तक चन्द्राभा ने सच ही कहा है। सचमुच परस्त्रीहरण का महापाप निश्चय ही कुगति का कारण है। दुःखद दुर्गति करनेवाला है। मेरी बुद्धि कैसे भ्रष्ट हो गई ?

राजा मधु को अपने पापों का प्रायश्चित्त करते हुए संसार से विरक्त होता देख चन्द्राभा भी विरक्त हो गई और कहने लगी - हे प्रभो ! अब इन परस्त्री विषयक भोगों से क्या प्रयोजन ! हे नाथ ये इन्द्रियों के विषयसुख यद्यपि वर्तमान में सुखद लगते हैं, किन्तु वस्तुतः ये अविचारित रम्य हैं, विचार करने पर तो स्पष्ट समझ में आता है कि जो इन्द्रिय सुख-आदि में, मध्य में और अन्त में आकुलता ही उत्पन्न करते हैं, बाधा सहित हैं, क्षणिक हैं, पापबन्ध के कारण हैं, इन्हें कोई भी समझदार सुख नहीं कह सकता।

चन्द्राभा के द्वारा इसप्रकार समझाये जाने पर राजा मधु मोहरूपी मदिरा के मद से मुक्त हो गया और बड़ी प्रसन्नता से आदरपूर्वक उससे कहा - हे चन्द्राभा ! तुम सचमुच साध्वी हो, तुमने बहुत अच्छी बात कही है। यथार्थ बात यही है कि सत्पुरुषों के ऐसे कुकृत्य करना सर्वथा अनुचित है; क्योंकि ऐसे दूसरों के दुःख पहुँचानेवाले पापरूप कामों से इहलोक व परलोक दोनों भव बिगड़ते हैं। जब मेरे जैसा प्रबुद्ध व्यक्ति ऐसा लोकनिन्द्य कार्य करेगा तो अविवेकी साधारण की तो बात ही क्या है ?

जहाँ स्वस्त्री के प्रति अति आसक्ति को पापबन्ध के कारण होने से त्याज्य कहा हो, वहाँ परस्त्री के भोग होनेवाले पापबन्ध की तो बात ही क्या कहें ? उसके विषय में तो सोचना भी महापाप है, नरक-निगोद का कारण है। शास्त्रों में कहा है कि यह मनरूपी मदोन्मत्त हाथी ज्ञानरूपी अंकुश से रोके जाने पर भी बड़े-बड़े विद्वानों तक को कुमार्ग में गिरा देता है तो साधारण ज्ञानहीन जिनके पास ज्ञान और वैराग्य के बल का अंकुश नहीं है, उनकी दुर्दशा की क्या कथा करें ?

जो ज्ञानीजन इस निरंकुश मन को आत्मज्ञान और वैराग्य से वश में कर लेते हैं, वे विरले ज्ञानी धन्य हैं। इसप्रकार अपने विवेक को जाग्रत कर राजा मधु ने आगे कहा - “अब मैं तप के द्वारा अपने पूर्व संचित पापों का क्षय करता हुआ ध्यानरूपी अग्नि से आत्मा की शुद्धि करूँगा। यह कहकर राजा मधु ने अपने छोटे भाई कैटभ के साथ नगर में आये विमलवाहन आदि एक हजार मुनिराजों के संघ में जाकर दिगम्बरी जिनदीक्षा ले ली। वे निर्ग्रन्थ मुनि बन गये। चन्द्राभा आदि रानियाँ भी संसार को असार जानकर दीक्षित हो गईं।

मधु और चन्द्राभा ने मुनि एवं आर्यिका के व्रत लेकर अपने पापों का प्रायश्चित्त तो कर ही लिया; अहिंसा, सत्य आदि पाँच महाव्रत ईर्या, भाषा, ऐषणा आदि समितियाँ, पाँचों इन्द्रियों के विषयों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर तथा समता, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और आत्मध्यान आदि अन्तरंग तपों द्वारा कर्मों की निर्जरा भी की।

उन दोनों धीर-वीर मुनिराजों ने एवं चन्द्राभा ने अपनी देह की पीड़ा की परवाह न करके आत्मसाधना हेतु बेला, तेला आदि कठिन बाह्य तप भी किए। अनुप्रेक्षाओं, दशधर्मों की भावना भाते हुए बाईस परीषहों को जीतकर कर्मों का संवर करते हुए रत्नत्रय की विशुद्धि कर अन्त में सम्मेदशिखर पर एक माह का प्रायोपगमन सन्यास लेकर समाधिपूर्वक देह का त्याग कर आरण और अच्युत स्वर्ग में २२ सागर की आयु प्राप्त कर इन्द्र व सामानिक देव हुए।

इस राजा मधु और चन्द्राभा की घटना से पाठक यह सबक सीख सकते हैं, यह प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं कि कदाचित् अज्ञान और मोहावेश में कामान्ध होकर किसी ने मधु एवं चन्द्राभा जैसा भयंकर पाप भी कर लिया हो तो संयम-साधना और प्रायश्चित्त लेकर मुनिव्रतों तथा घोर तपश्चरण द्वारा उसको नष्ट भी किया जा सकता है।

ये पौराणिक कथायें पाप प्रवृत्ति त्यागने और धर्ममार्ग में लगाने हेतु ही हमारे पूज्य आचार्यों ने लिखी हैं। अतः इन्हें बारम्बार आद्योपान्त पढ़ें और आत्मकल्याण करें।

--
--

--

राजा मधु का जीव ही स्वर्ग से आकर भरतक्षेत्र में नारायण श्रीकृष्ण की रुक्मणी रानी के उदर से प्रद्युम्न नामक पुत्र हुआ और कैटभ का जीव भी स्वर्ग से आकर श्रीकृष्ण की पट्टरानी जाम्बवती के उदर से शम्भु (शम्भू) नाम का पुत्र हुआ। प्रद्युम्न और शम्भु दोनों भाई अत्यन्त धीर-वीर चरमशरीरी तद्भव मोक्षगामी थे। दोनों में परस्पर अत्यधिक प्रेम था।

वटकपुर का राजा चन्द्राभा का पूर्व पति वीरसेन अपनी पत्नी के विरहजन्य संताप से इष्टवियोगज आर्तध्यान से मरण कर चिरकाल तक संसार चक्र में उलझा हुआ भटकता रहा। अन्त में मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर वह आत्मज्ञान से रहित तापसी हो गया। तप के प्रभाव से देवगति तो मिली, परन्तु अज्ञानमय तप के कारण वह अग्नि के समान प्रचण्ड धूमकेतु नामक देव हुआ। उसे कुवधिज्ञान से अपने पूर्वभव में राजा मधु द्वारा चन्द्राभा के अपहरण की घटना सम्बन्धी बैर का ज्ञान हो गया। इसकारण उसने राजा मधु के ही जीव प्रद्युम्न को माता से वियुक्त कर दिया।

आचार्य कहते हैं कि विवेकी जीवों को ऐसे कोई काम नहीं करना चाहिए जो दूसरों को क्रोध उत्पन्न करें और बैर-विरोध का कारण बने। बैर बहुत बुरा भाव है। जब क्रोध किसी के प्रति लम्बे काल तक बना रहता है तो वही क्रोध बैर के रूप में भव-भव में दुःख का कारण बनता है। बैर की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि “बैर क्रोध का ही अचार या मुरब्बा है।”

कहाँ राजा मधु जो २२ सागर के लम्बे काल तक स्वर्ग में रहा, वहाँ से आकर प्रद्युम्न हुआ, तब तक राजा वीरसेन भी न जाने कितनी योनियों में जा चुका होगा, फिर भी उस भव का बैर भाव आत्मा में किसी कोने में पड़ा-पड़ा पापार्जन करता रहा। इसीलिए तो कहते हैं कि अपने द्वारा जाने-अनजाने में हुए अपराधों की यहीं क्षमायाचना करके और दूसरों को क्षमादान देकर सब पाप का हिसाब यही चुकता कर देना चाहिए। क्षमावाणी पर्व के भी इसीकारण गीत गाये जाते हैं और प्रतिवर्ष यह पर्व जोर-शोर से मनाया जाता है; फिर भी यदि कोई क्रोध की गांठ बांध कर रखे तो उससे बड़ा मूर्ख दुनिया में दूसरा कोई नहीं होगा। सचमुच ऐसे बैरभाव को पुनः पुनः धिक्कार है।

इसप्रकार सीमन्धर भगवान के समोशरण में प्रद्युम्न के जीवन सम्बन्धी शंकाओं का समाधान पाकर राजा पद्मरथ को भारी प्रसन्नता हुई। उन्होंने बड़ी भक्ति भावना से जिनेन्द्र को प्रणाम किया।

इधर आनन्द के वशीभूत हुए नारद सीमन्धर जिनेन्द्र को नमस्कार कर आकाश मार्ग से मेघकूट पर्वत पर आ पहुँचे। वहाँ पुत्रलाभ के उत्सव से नारद ने रानी कनकदेवी एवं कालसंवर राजा का यथायोग्य अभिनन्दन किया। सैंकड़ों कुमारों से सेवा प्राप्त रुक्मणी पुत्र प्रद्युम्न को देख नारद को भारी प्रसन्नता हुई। कालसंवर ने नारद का भी सम्मान किया, उन्हें प्रणाम कर अभिवादन किया। तत्पश्चात् नारद द्वारिका पहुँचे। वहाँ नारद ने प्रद्युम्न के सम्बन्ध में आद्योपान्त सम्पूर्ण जानकारी देकर यादवों को हर्ष प्रदान किया तथा रुक्मणी को उसके अपहरण हुए पुत्र प्रद्युम्न के विषय में सविस्तार समाचार सुनाये, जिसे सुनकर रुक्मणी परम संतोष को प्राप्त हुई।

अन्त में नारद ने कहा - हे रुक्मणी ! मैंने विद्याधरों के राजा कालसंवर के घर क्रीड़ा करता हुआ तुम्हारा पुत्र देखा है। वह देवकुमार के समान अत्यन्त रूपवान है। वह सोलह लाभ प्राप्तकर तथा प्रज्ञप्ति विद्या का संग्रह कर सोलहवें वर्ष में तुम्हारे पास अवश्य आवेगा।

हे रुक्मणी ! जब उसके आने का समय होगा तब तेरे उद्यान में असमय में ही प्रिय समाचार को सूचित

करनेवाला मयूर अत्यन्त उच्च स्वर से शब्द करने लगेगा। तेरे उद्यान में जो मणिमयी वापिका सूखी पड़ी है वह उसके आगमन के समय कमलों से सुशोभित जल से भर जावेगी। तुम्हारा शोक दूर करने के लिए शोक दूर होने की सूचना देनेवाला अशोकवृक्ष असमय में ही अंकुरित और पल्लवित होने लगेगा। तेरे यहाँ जो गूँगे हैं, वे तभी तक गूँगे रहेंगे जब तक कि प्रद्युम्न दूर है। उसके निकट आते ही वे गूंगापन छोड़ देवेंगे। इन प्रकट हुए लक्षणों से तू पुत्र के आगमन का समय जान लेगी। इसप्रकार नारद के हितकारी वचन सुनकर पुत्र के स्नेहवश रुक्मणी के स्तनों से दूध झरने लगा। श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर रुक्मणी ने कहा - हे मुने ! हे नाथ ! मैं पुत्र के विरह की शोकाग्नि में जल रही थी। आपने पुत्र के समाचार रूप शीतल जल से मेरे शोक की ज्वाला शान्त कर दी। अब मुझे विश्वास हो गया है कि मेरे रहते मुझे अवश्य ही पुत्र प्राप्त होगा। अब आप इच्छानुसार जाइए और मुझे आपका दर्शन फिर भी प्राप्त हो इस बात का ध्यान रखिए। इसप्रकार नारद से निवेदन कर रुक्मणी ने उन्हें प्रणाम किया और नारद आशीर्वाद देकर चले गये। तदनन्तर रुक्मणी शोक छोड़ श्रीकृष्ण की इच्छा को पूर्ण करती हुई पूर्व की भांति रहने लगी।

यहाँ कुमार प्रद्युम्न और शम्भू के पूर्वभवों का वर्णन है, जिसमें उनके मनुष्य से देव, देव से मनुष्य, फिर मनुष्य से देव और देव से मनुष्य और पुनः मनुष्य से देव और देव से मनुष्य होने का चरित बताया गया है तथा यह भी बताया गया है कि दोनों अन्त में मोक्ष के अभ्युदय को प्राप्त करेंगे; इसलिए जिनशासन में भक्ति रखनेवाले भव्यजन इस चरित का अच्छी तरह आचरण करें - ध्यान से पढ़ें-सुनें और पाप त्याग कर धर्माचरण द्वारा अपना जीवन सफल करें।

सत्यभामा के पुत्र भानुकुमार के व्यक्तित्व की एवं श्रीकृष्ण द्वारा जाम्बवती के हरण की चर्चा करते हुए कहा है कि - रानी सत्यभामा का पुत्र सूर्य के प्रभामंडल के समान देदीप्यमान था। इसीकारण उसका नाम 'भानुकुमार' रखा गया था। प्रातःकाल के सूर्य की किरणों के समान 'भानुकुमार' का तेज ज्यों-ज्यों बढ़ रहा था, त्यों-त्यों सत्यभामा का मान भी बढ़ता जा रहा था।

अज्ञान दशा में ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं हैं। अज्ञान का तो फल ही यही है। यदि हम चाहते हैं कि ये कुगति की कारणभूत मानादि कषायें हमें न हों तो हम सर्व प्रथम स्व-पर का भेदज्ञान करके परपदार्थों में एकत्व-ममत्व भाव छोड़े और पुण्य-पाप के फलों में प्राप्त अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों की क्षणभंगुरता का विवेक जागृत करें।

जब नारदजी श्रीकृष्ण की सभा में आये तो श्रीकृष्ण ने उनसे पूछा - “हे नर पुंगव ! आप इस समय कहाँ से आ रहे हैं? कमल की भाँति खिला हुआ आपका मुख कमल किसी बड़े भारी हर्ष की सूचना दे रहा है।”

नारदजी ने जाम्बव नामक विद्याधर की एक अत्यन्त रूपवती सर्वांग सुन्दर पुत्री जाम्बवती का परिचय कराते हुए कहा - “वह इस समय सखियों के साथ स्नान करने के लिए गंगा नदी में उतरी है और वस्त्राच्छादित होते हुए भी उभरे उरोजों से लजाती हुई अपने लम्बे और काले-काले केश राशि से स्थूल और उतंग उरोजों को आच्छादित करने का प्रयत्न करती हुई अपनी शोभा से चन्द्रमा की शोभा को लज्जित करती है।”

नारदजी ने आगे कहा - “वह सुन्दरी आपके सिवाय किसी अन्य के द्वारा अलभ्य है; क्योंकि ऐसी अनुपम सुन्दरी को प्राप्त करने का अन्य किसी के पास ऐसा पुण्य ही कहाँ है?”

नारद के इसप्रकार वचन सुनकर श्रीकृष्ण जाम्बवती को पाने के लिए उत्सुक हो उठे। वे अनावृष्टि और बलदेव को साथ लेकर वहाँ पहुँचे, जहाँ जाम्बवती अपनी सहेलियों के साथ स्नान कर रही थी, इधर श्रीकृष्ण ने जाम्बवती को देखा और जाम्बवती की दृष्टि भी श्रीकृष्ण पर जा पड़ी। एक दूसरे को देखते ही वे दोनों कामबाण से ऐसे घायल हो गये मानो कामदेव ने अपने पाँचों बाणों से दोनों के हृदयों को वेध दिया हो। वे ऐसा अनुभव करने लगे कि इन्हें पाये बिना तो हमारा जीवन ही निरर्थक है।

बस, फिर तो अवसर पाते ही श्रीकृष्ण जाम्बवती को तत्काल हर कर ले आये। जाम्बवती का हरण

होने से भयभीत हुई साथ में स्नान करनेवाली सखियाँ जोर-जोर से रोने लगीं। उनके रोने की आवाज समीपवर्ती सैनिक शिविरों में सुनी गई। आवाज सुनकर जाम्बवती के पिता जाम्बव युद्ध की पूरी तैयारी के साथ शीघ्र वहाँ आ पहुँचा; किन्तु वहाँ उपस्थित श्रीकृष्ण के सेनापति ने उसे युद्ध में हराकर बाँध लिया और श्रीकृष्ण के समीप उपस्थित कर दिया। इस घटना से जाम्बव को वैराग्य हो गया। वह अपने पुत्र विश्वसेन को राजपद देकर स्वयं साधु हो गये।

जाम्बवती के विवाह से आनन्दित श्रीकृष्ण अपने साले विश्वसेन को साथ लेकर द्वारिका चले गये। रुक्मणी जाम्बवती के आगमन से हर्षित हुई, अतः जाम्बवती का महल रुक्मणी के महल के पास बनवाया। रुक्मणी और जाम्बवती की पारस्परिक प्रीति दिन प्रतिदिन वृद्धिगत होती गई।

इसी क्रम में श्रीकृष्ण ने लक्ष्मणा, सुसीला, गौरी, पद्मावती और गान्धारी के पितृ पक्ष की सेनाओं पर विजय प्राप्त कर इन सबका हरण करके इनके साथ विवाह रचाया और इन सबके मनोरथों को पूरा किया। यह सब जिनधर्म की आराधना से प्राप्त सातिशय पुण्य का ही फल है – ऐसी श्रद्धा से हम भी सदैव धर्म आराधना करें, परमात्मा की उपासना द्वारा पापकर्मों का क्षय करें। ●

यह कैसा विचित्र संयोग है पुण्य-पाप का ? यह रूप लावण्य सचमुच कोई गर्व करने जैसी चीज नहीं है। इतना और ऐसा पुण्य तो पशु-पक्षी भी कमा लेते हैं, फुलवारियों के फूल भी कमा लेते हैं, वे भी देखने में बहुत सुन्दर लगते हैं; पर कितने सुखी हैं वे ?

जब पाप का उदय आता है तब परिस्थिति बदलते देर नहीं लगती। जो अपने गौरव के हेतु होते हैं, सुख के निमित्त होते हैं, वे ही गले के फंदे बन जाते हैं।

– इन भावों का फल क्या होगा, पृष्ठ-५३,५८

यहाँ पाण्डवों और कौरवों के कथा प्रसंग में कुरुवंश की पूर्व परम्पराओं का वर्णन है। हरिवंश की पूर्व परम्परा दसवें तीर्थंकर के काल में हुए राजा हरि से चली है। यहाँ कुरुवंश की पूर्व परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के समकालीन बताई जा रही है। दानतीर्थ के प्रवर्तक महाराजा श्रेयान्स और सोमप्रभ नामक दो राजा हुए। वे कुरुवंश के तिलक थे। उनमें सोमप्रभ से जयकुमार नामक पुत्र हुआ और जयकुमार से कुरु नामक पुत्र हुआ, उसी राजा कुरु से कुरुवंश चला।

इसी वंश में चतुर्थ चक्रवर्ती सनतकुमार, पंचम चक्रवर्ती शान्तिनाथ, षष्ठम चक्रवर्ती कुन्थुनाथ एवं सप्तम चक्रवर्ती अरनाथ हुए हैं अर्थात् शान्ति, कुन्थ एवं अरनाथ – ये तीनों तीर्थंकर चक्रवर्ती व कामदेव पद के धारक भी थे और इसी वंश के तिलक स्वरूप थे।

इनके बाद क्रम-क्रम से बहुत राजाओं के हो जाने पर पद्म चक्रवर्ती भी इसी वंश में हुए। तदनन्तर शत-सहस्रों राजाओं के होने के क्रम में राजा धृत से धृतराज नामक पुत्र हुआ। राजा धृतराज की अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका नाम की तीन पत्नियाँ थीं। उनमें अम्बिका से धृतराष्ट्र अम्बालिका से पाण्डु और अम्बा से ज्ञानप्रवर विदुर नामक पुत्र हुए। धृतराज के भाई रुक्म भीष्म पितामह के पिता थे और भीष्म की माता का नाम गंगा था।

राजा धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र थे, जो परस्पर एक-दूसरे का हित करने में तत्पर रहते थे। राजा पाण्डु की पत्नी का नाम कुन्ती था। कुन्ती से युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम – ये तीन पुत्र हुए। इन्हीं पाण्डु की माद्री नामक दूसरी पत्नी से नकुल और सहदेव हुए। पाण्डु से उत्पन्न होने के कारण ये पाण्डव कहलाए। कर्ण भी कुन्ती के उदर से जन्मे पाण्डु पुत्र ही थे; किन्तु वह पाण्डु के साथ विधिवत हुए विवाह के पहले कुन्ती

के उदर से हो गया था। यद्यपि पुराणों में उनके गांधर्व विवाह का उल्लेख है; परन्तु ऐसे गांधर्व विवाहों यानि अघोषित विवाहों को उस समय वैधानिक मान्यता नहीं थी। अतः राज्य के बटवारे में उसे कोई हिस्सा नहीं मिला। इसकारण कर्ण का भी पाण्डवों से विरोध हो गया था।

‘शत्रु का शत्रु मित्र हो जाता है’ इस उक्ति के अनुसार कर्ण की कौरवों से मित्रता हो गई।

पाँचों पाण्डवों को पूर्वोपार्जित पुण्य के फल में अज्ञातवास के समय भी सब अनुकूलतायें सहज उपलब्ध होती रहीं। असीम प्रतिकूलताओं में भी उन्हें दुःख का आभास तक नहीं हुआ। भोजन, शयन, आसन आदि सब अचिन्तित रूप से प्राप्त होते रहते थे।

यदि हम भी उनके समान सुखद जीवन बिताना चाहते हैं तो सदैव सत्कर्म करें, दूसरों के दुःख में कारण न बनें। ज्ञातव्य है कि - हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील एवं परिग्रह संग्रह रूप पाँचों पापों से दूसरों के प्राण पीड़ित होते हैं अतः इनसे हमें सदैव संकल्पपूर्वक बचना चाहिए।

उन्होंने आगे चलने पर तापस का वेष धारण कर और तापसों के तपोवन में विश्राम किया। वहाँ ‘वसन्त सुन्दरी’ राजकन्या रहती थी। गुरुजनों ने उस कन्या को पहले से ही युधिष्ठिर को देने का संकल्प कर रखा था; परन्तु जब उनके जल जाने का समाचार मिला तो वह कन्या उस अग्नि दाह की दुर्घटना को अपने पूर्वकृत पापकर्म का फल मानकर उसकी निन्दा करती हुई तपस्वियों के उस आश्रम में ही अपने पापों का क्षय करने को तप करने लगी।

यदि हम ऐसी दुःखद प्रतिकूलताओं में नहीं पड़ना चाहते हों तो हम भी अपने पूर्वपापों का क्षय करने के लिए यथाशक्ति तप करें।

तप दो प्रकार के हैं - एक, अन्तरंग तप और दूसरा, बहिरंग तप। अनशन, उनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्तशैया और आसन तथा काय-क्लेश - ये बहिरंग तप हैं। आत्मा की पवित्रता के लिए ये भी यथा शक्ति करना ही चाहिए।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान - ये अन्तरंग तप हैं। जो आत्मा के निर्मल परिणामों और विषय-कषायों की मन्दता में होते हैं।

राजकन्या सर्वांग सुन्दर तथा आकर्षक बाह्य व्यक्तित्व की धनी तो थी ही, तापसी के वेष में उसका रंग-रूप और भी निखर गया था” कठिन तप करने से वह समस्त तापसों द्वारा आदरणीय थी। उसने पाण्डवों का खूब अतिथि सत्कार किया।

एक दिन पाण्डवों की माता कुन्ती ने उससे पूछा - हे कोमलांगी ! तुझे नई यौवन अवस्था में वैराग्य किस कारण से हो गया?

मृगनेत्री राजपुत्री मधुर वाणी से बोली - मेरे माता-पिता ने पहले से ही पाण्डवों के बड़े भाई युधिष्ठिर से मेरा विवाह करने का संकल्प कर रखा था; परंतु मेरे पाप के प्रभाव से उनका अग्नि में जलने से निधन हो गया। जब मैंने यह सुना तो मैं हताश हो गई। उनको ही मैंने पति रूप में माना है, मैं उन्हें पुनर्जन्म में पा सकूँ एतदर्थ मैं तप करने लगी हूँ।

तापसी कन्या के वचन सुनकर माता कुन्ती ने कहा - हे भद्रे! तूने बहुत उत्तम किया जो अपने प्राणों की रक्षा की।

जब भली होनहार होती है तो विचार भी तदनुकूल सहज ही बन जाते हैं। अब भी तू तप करते हुए अपने प्राणों की रक्षा करना। यदि तू तप करते हुए जीवित रहेगी तो तेरे पापों का क्षय इसी जन्म में हो जायेगा और तुझे तेरे अभीष्ट की सिद्धि इसी जन्म में अवश्य होगी।

युधिष्ठिर ने भी माँ कुन्ती के भावों का अनुसरण करते हुए उस राजकन्या को अहिंसा आदि पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का स्वरूप समझाया।

जिसे यथार्थ सम्यग्दर्शन प्रकट हो चुका है, आत्मानुभूति हो गई है, उसे ही ज्ञानी कहते हैं। ऐसा ज्ञानी जीव जब अपने में देशचारित्रस्वरूप आत्मशुद्धि प्रकट करता है, तब वह व्रती श्रावक कहलाता है।

जो आत्मशुद्धि प्रकट हुई, उसे निश्चय व्रत कहते हैं और उक्त आत्मशुद्धि के सद्भाव में जो हिंसादि पंच पापों के त्याग तथा अहिंसादि पंचाणुव्रत धारण करने रूप शुभभाव होते हैं, उन्हें व्यवहार व्रत कहते हैं। इस प्रकार के शुभभाव ज्ञानी श्रावक के सहज रूप में प्रकट होते हैं।

ये व्रत बारह प्रकार के होते हैं। उनमें हिंसादि पाँच पापों के एक-देश त्यागरूप पाँच अणुव्रत होते हैं। इन अणुव्रतों के रक्षण और उनमें अभिवृद्धिरूप तीन गुणव्रत तथा महाव्रतों के अभ्यासरूप चार शिक्षाव्रत होते हैं।

अणुव्रत :- पाँचों पापों का आंशिकत्याग अणुव्रत है।

१. **अहिंसाणुव्रत :-** हिंसाभाव के स्थूल रूप में त्याग को अहिंसाणुव्रत कहते हैं। इसे समझने के लिए पहिले हिंसा को समझना आवश्यक है। कषायभाव के उत्पन्न होने पर आत्मा के उपयोग की शुद्धता (शुद्धोपयोग) का घात होना भावहिंसा है और उक्त कषायभाव निमित्त है जिसमें ऐसे अपने और पराये के द्रव्यप्राणों का घात होना द्रव्यहिंसा है।

“आत्मा में रागादि दोषों का उत्पन्न होना ही हिंसा है तथा उनका उत्पन्न न होना ही अहिंसा है।”

— पुरुषार्थसिद्धयुपाय : आ. अमृतचन्द्र

राग-द्वेषादि भाव न करके, योग्यतम आचरण करते हुए सावधानी रखने पर भी यदि किसी जीव का घात हो जाये, तो वह हिंसा नहीं है। सारांश यह है कि हिंसा और अहिंसा का निर्णय प्राणी के मरने या न मरने से नहीं, रागादि भावों की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति से है।

निमित्त भेद से हिंसा चार प्रकार की होती है :-

- (१) संकल्पी हिंसा (२) उद्योगी हिंसा
- (३) आरम्भी हिंसा (४) विरोधी हिंसा

केवल निर्दय परिणाम ही हेतु है जिसमें ऐसे संकल्प (इरादा) पूर्वक किया गया प्राणघात ही संकल्पी हिंसा है।

व्यापारादि कार्यों में तथा गृहस्थी के आरंभादि कार्यों में सावधानी वर्तते हुए भी जो हिंसा हो जाती है, वह उद्योगी और आरंभी हिंसा है।

अपने तथा अपने परिवार, धर्मायतन आदि पर किए गये आक्रमण से रक्षा के लिए अनिच्छापूर्वक की गई हिंसा विरोधी हिंसा है।

व्रती श्रावक उक्त चार प्रकार की हिंसाओं में संकल्पी हिंसा का तो सर्वथा त्यागी होता है अर्थात् सहज रूप से उसके इस प्रकार के भाव ही उत्पन्न नहीं होते हैं। अन्य तीनों प्रकार की हिंसा से भी यथासाध्य बचने का प्रयत्न रखता है।

हिंसा भाव का एकदेश त्याग होने से यह व्रत अहिंसाणुव्रत कहलाता है।

२. सत्याणुव्रत :- प्रमाद के योग से असत् वचन बोलना असत्य है, इसका एकदेश त्याग ही सत्याणुव्रत है। असत्य चार प्रकार का होता है :-

- | | |
|--------------------|---------------------|
| (१) सत् का अपलाप | (२) असत् का उद्भावन |
| (३) अन्यथा प्ररूपण | (४) गर्हित वचन |

विद्यमान पदार्थ को अविद्यमान कहना सत् का अपलाप है।

अविद्यमान को विद्यमान कहना असत् का उद्भावन है।

कुछ का कुछ कहना अर्थात् वस्तु स्वरूप जैसे है वैसा न कह कर अन्यथा कहना अन्यथा प्ररूपण है। जैसे - हिंसा में धर्म बताना।

निंदनीय, कलहकारक, पीड़ाकारक, शास्त्रविरुद्ध, हिंसापोषक, परापवादकारक आदि वचनों को गर्हित वचन कहते हैं।

३. **अचौर्याणुव्रत** :- जिस वस्तु में लेने-देने का व्यवहार है, ऐसी वस्तु को प्रमाद के योग से उसके स्वामी की अनुमति बिना ग्रहण करना चोरी है। ऐसी चोरी का त्याग अचौर्यव्रत है। चोरी का त्यागी होने पर भी गृहस्थ कूप, नदी आदि से जल एवं खान से मिट्टी आदि वस्तुओं को बिना पूछे भी ग्रहण कर लेता है, अतः एकदेश चोरी का त्यागी होने से अचौर्याणुव्रत कहलाता है।

४. **ब्रह्मचर्याणुव्रत** :- पूर्णतया स्त्री-सेवन का त्याग ब्रह्मचर्यव्रत है। जो गृहस्थ इसे धारण करने में असमर्थ हैं, वे स्वस्त्री में संतोष करते हैं और परस्त्री-रमण के भाव को सर्वथा त्याग देते हैं, उनका यह व्रत एकदेशरूप होने से ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है।

५. **परिग्रहपरिणामव्रत** :- अपने से भिन्न पर-पदार्थों में ममत्वबुद्धि ही परिग्रह है। यह अन्तरंग और बहिरंग के भेद से दो प्रकार का होता है। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्यादि नव नोकषाय - ये चौदह अंतरंग परिग्रह के भेद हैं। तथा जमीन-मकान, सोना-चाँदी, धन-धान्य, नौकर-नौकरानी, बर्तन आदि अन्य वस्तुयें बाह्य परिग्रह हैं। उक्त परिग्रहों में गृहस्थ के मिथ्यात्व नामक परिग्रह का तो पूर्ण रूप से त्याग हो जाता है तथा बाकी अंतरंग परिग्रहों का कषायांश के सद्भाव के कारण एकदेश त्याग होता है तथा वह बाह्य परिग्रह की सीमा निर्धारित कर लेता है। इस व्रत को परिग्रहपरिमाणव्रत कहते हैं।

गुणव्रत :- दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत, ये तीन गुणव्रत हैं।

१. **दिग्व्रत** - कषायांश कम हो जाने से गृहस्थ दश दिशाओं में प्रसिद्ध स्थानों के आधार पर अपने आवागमन की सीमा निश्चित कर लेता है और जीवनपर्यन्त उसका उल्लंघन नहीं करता, इसे दिग्व्रत कहते हैं।

२. **देशव्रत** :- दिग्व्रत की बाँधी हुई विशाल क्षेत्र व काल की सीमा को घड़ी, घंटा, दिन, सप्ताह, माह आदि काल की मर्यादापूर्वक क्षेत्र की सीमा और भी सीमित (कम) कर लेना देशव्रत है।

३. **अनर्थदण्डव्रत** - बिना प्रयोजन हिंसादि पापों में प्रवृत्ति करना या उस रूप भाव करना अनर्थदण्ड

है और उसके त्याग को अनर्थदण्डव्रत कहते हैं। व्रती श्रावक बिना प्रयोजन जमीन खोदना, पानी ढोलना, अग्नि जलाना, वायु संचार करना, वनस्पति छेदन करना आदि कार्य नहीं करता अर्थात् त्रसहिंसा का तो वह त्यागी है ही, पर अप्रयोजनीय स्थावरहिंसा का भी त्याग करता है। राग-द्वेषादिक प्रवृत्तियों में भी उसकी वृत्ति नहीं रमती, वह इनसे विरक्त रहता है। इसी व्रत को अनर्थदण्डव्रत कहते हैं।

शिक्षाव्रत :- जिनसे मुनिव्रत पालन की शिक्षा मिले, वे शिक्षाव्रत हैं।

१. **सामायिकव्रत :-** सम्पूर्ण द्रव्यों में राग-द्वेष के त्यागपूर्वक समता भाव का अवलम्बन करके आत्मभाव की प्राप्ति करना ही सामायिक है। व्रती श्रावक प्रातः, दोपहर, सायं कम से कम अन्तर्मुहूर्त एकान्त स्थान में सामायिक करते हैं।

२. **प्रोषधोपवासव्रत :-** कषाय, विषय और आहार का त्याग कर आत्मस्वभाव के समीप ठहरना उपवास है। प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशी को सर्वारंभ छोड़कर उपवास करना ही प्रोषधोपवास है।

यह तीन प्रकार से किया जाता है - उत्तम, मध्यम और जघन्य।

उत्तम - पर्व के एक दिन पूर्व और एक दिन बाद एकासनपूर्वक पूर्ण उपवास करना उत्तम प्रोषधोपवास है।

मध्यम - केवल पर्व के दिन चारों प्रकार के आहार के त्यागपूर्वक उपवास करना मध्यम प्रोषधोपवास है।

जघन्य - पर्व के दिन केवल एकासन करना जघन्य प्रोषधोपवास है।

३. **भोगोपभोगपरिमाणव्रत :-** प्रयोजनभूत सीमित परिग्रह के भीतर भी कषाय कम करके भोग और उपभोग का परिमाण घटाना भोगोपभोग-परिमाणव्रत है। पंचेंद्रिय के विषयों में जो एक बार भोगने में आ सकें उन्हें भोग और बारबार भोगने में आवें उन्हें उपभोग कहते हैं।

४. **अतिथिसंविभागव्रत :-** मुनि, व्रती श्रावक और अव्रती श्रावक इन तीन प्रकार के पात्रों को अपने भोजन में से विभाग करके विधिपूर्वक दान देना अतिथिसंविभागव्रत है।

निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक उक्त बारह व्रतों को निरतिचार धारण करने वाला श्रावक ही व्रती श्रावक कहलाता है, क्योंकि बिना सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के सच्चे व्रतादि होते ही नहीं हैं तथा निश्चय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानपूर्वक अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव होने पर प्रकट होने वाली आत्मशुद्धि के साथ सहज ही ज्ञानी श्रावक के उक्त व्रतादिरूप भाव होते हैं।”

यह उपदेश सुनकर राजकन्या को सच्चा व्रत-तप कैसे होता है, किसके होता है ? कब होता है ? यह जानने का विशेष लाभ मिला तथा वक्ता के प्रति अज्ञात स्नेह उमड़ने से ऐसा लगा मानो ये ही मेरे पति युधिष्ठिर हैं, जो मेरे तप के प्रभाव से यहाँ प्रगट हो गये हैं। यद्यपि वे चले गये; फिर भी कन्या उनकी प्राप्ति की आशा से वही तपोवन में रहने लगी।

इधर जब समुद्रविजय को ज्ञात हुआ कि दुर्योधन ने हमारी बहिन कुन्ती और भानजों को महल में जलाकर मार डाला है, तो वे क्रोधित हो कौरवों को मारने हेतु आये। इसके बाद जरासंध ने स्वयं आकर यादवों और कौरवों के बीच संधि करा दी।

“वस्तुस्वातन्त्र्य किसी धर्मविशेष या दर्शनविशेष की मात्र मानसिक उपज या किसी व्यक्ति विशेष का वैचारिक विकल्प मात्र नहीं है। बल्कि यह सम्पूर्ण भौतिक एवं जैविक जगत की अनादि-अनन्त स्व-संचालित सृष्टि का स्वरूप है, ऑटोमेटिक विश्वव्यवस्था है।

इस जगत में जितने चेतन व अचेतन पदार्थ हैं, जीव-अजीव द्रव्य हैं; वे सब पूर्ण स्वतंत्र हैं, स्वावलम्बी हैं। उनका एक-एक समय का परिणामन भी पूर्ण स्वाधीन है।”

- विदाई की बेला, पृष्ठ-५३, हिन्दी संस्करण १० वाँ

अब धीर-वीर पाण्डवों का सुख से समय बीत रहा था। उन्हें सुखी देख कौरव अपने स्वभाव के कारण पुनः अपनी सीमा का उल्लंघन करने लगे, मर्यादा खोने लगे। दुर्जनों का ऐसा ही स्वभाव होता है कि वे दूसरों को सुखी नहीं देख सकते, यदि वे कुटुम्ब के हों तब तो उनकी ईर्ष्या का कहना ही क्या है ? कौरवों का मामा शकुनि इस विषय में दुर्योधनों से भी एक कदम आगे था। उसकी नीति दोनों को आपस में लड़ाकर तमाशा देखने की थी। वह 'दोनों पलीतों दे दो तैल, तुम नाचौ हम देखें खेल' वाली नीति अपना कर मजा लेता था। उसने दुर्योधन को उकसाकर युधिष्ठिर के साथ जुआ खेलने को कहा और अपनी चालाकी से जुए की चाल चलाकर युधिष्ठिर के विरुद्ध दुर्योधन को जिता दिया।

जीत लेने पर दुर्योधन ने युधिष्ठिर से कहा - तुम सत्यवादी हो, तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार यहाँ से चला जाना चाहिए। और ऐसे स्थान पर छुपकर रहना चाहिए कि जहाँ से तुम्हारा नाम भी सुनाई न दे सके।

दुर्योधन की इस बात को सुनकर यद्यपि भीमसेन आदि भाईयों को क्षोभ हुआ, तथापि युधिष्ठिर के कहने पर शान्त होकर वे बारह वर्ष की लम्बी अवधि के लिए सब राजपाट छोड़कर हस्तिनापुर से बाहर निकल गये। चन्द्रमा की चाँदनी की भांति द्रौपदी भी अर्जुन के पीछे-पीछे गई।

धैर्य से सम्पन्न, उत्तम शक्ति से सुशोभित एवं एक-दूसरे के हित में तत्पर वे सब श्रेष्ठ पुरुष रास्ते में पुण्य-पाप के उदयानुसार सुविधा-असुविधा सुख-दुःख एवं संकटों को झेलते हुए रामगिरि पर्वत पर पहुँचे, जहाँ पहले राम-लक्ष्मण रह चुके थे। और उनके द्वारा निर्मित सैकड़ों जिनमन्दिर थे। पाण्डवों ने भी उन जिनमन्दिरों में विराजित जिन प्रतिमाओं की भक्ति-भाव से वंदना की। वे भाग्यशाली पाण्डव रामगिरि पर्वत पर ही ग्यारह

वर्ष तक सुखपूर्वक रहे ।

पश्चात् वे वहाँ से चलकर विराट नगर पहुँचे, वहाँ के राजा का नाम विराट था । राजा विराट की पत्नी का नाम सुदर्शना था । पाण्डव और द्रौपदी राजा विराट से सम्मानित हो, उनके आतिथ्य को स्वीकार कर कौरवों से छिपकर गुप्त रूप से वहाँ रहने लगे ।

रानी सुदर्शना के १०० भाई थे । उनमें एक कीचक नामका भाई था । जो स्वभाव से क्रूर था । रूपवान और शूरवीर होने से वह अभिमानी भी था ।

एक बार वह अपनी बहिन सुदर्शना को देखने विराट नगर आया । वहाँ उसने द्रौपदी को देखा । द्रौपदी का बाह्य व्यक्तित्व आकर्षक तो था ही, वह रूप-यौवन आदि सभी दृष्टियों से अत्यंत सुन्दर थी । यद्यपि कीचक मानी था, परन्तु वह उसे देखते ही उस पर मोहित हो गया, वह द्रौपदी को प्राप्त करने के लालच में हीन भावना से ग्रसित भी हो गया । वह कहीं भी जाता, द्रौपदी उसके चित्त से नहीं हटती । उसने द्रौपदी को अपनी ओर आकर्षित करने के नाना उपाय किये; किन्तु वह सफल नहीं हुआ । द्रौपदी सती नारी जो थी । वह तो उसे तुच्छ और दीन-हीन ही समझती थी । वह उसकी खोटी नीयत को समझ गई थी, अतः उसने उसे ऐसी कुछ भी कुचेष्टा करने से स्पष्ट मना किया; किन्तु वह बेशर्म बनकर कामुक कु-चेष्टायें करता रहा । तब द्रौपदी ने उससे बचने के लिए नया उपाय सोचा और उसने उधर तो शैलन्धी के वेष में उससे एकान्त में मिलने की योजना बनाई और इधर अपने जेठ भीमसेन से उसकी नीच हरकतों की शिकायत करके सब स्थितियों से अवगत कराकर उसे मारने की अपनी योजना समझा दी और अपनी जगह भीमसेन को शैलन्धी के कपड़े पहना कर (शैलन्धी के वेष में) अपने पूर्व निर्धारित स्थान पर यथासमय पहुँचा दिया । स्वयं भी वहीं आस-पास कहीं छिप गई ।

उधर कामवासना से पीड़ित कामुक कीचक भी वहाँ समय पर पहुँच गया । शैलेन्धी के वेष में भीमसेन

ने पहले तो नारी के हावभाव में कीचक को छकाया, लुभाया, उसे कामुक चेष्टायें करने को उकसाया और बाद में प्रगट होकर अपनी दोनों भुजाओं से कीचक को दबोच लिया और पृथ्वी पर पटककर उसकी छाती पर दोनों पैरो से चढ़ गया और मुक्कों के प्रहारों से पीटा और अपमानित किया।

कीचक विषयों की आकांक्षा का प्रत्यक्ष अपमानजनक फल देखकर और दीन-हीन भावनाओं से ग्रसित स्वयं को पाकर उससे अत्यन्त विरक्त हो गया और रतिवर्द्धन मुनिराज के पास जाकर मुनि दीक्षा ले ली। अब मुनिराज कीचक द्वादश अनुप्रेक्षाओं के द्वारा संसार, शरीर और भोगों की क्षणभंगुरता का और आत्मा का स्वरूप विचारते हुए, शास्त्रों का स्वाध्याय करते और भावशुद्धि के द्वारा रत्नत्रय को शुद्ध करने के लिए उद्यम करने लगे।

कीचक के सौ भाइयों ने जब कीचक को वहाँ नहीं देखा तो वे बहुत ही घबराये। उन्होंने जहाँ-तहाँ उसकी खोज की, पर वह कहीं नहीं मिला। उसीसमय उन्हें एक जलती हुई चिता दिखी। किसी ने बोल दिया कि वह कीचक की ही चिता है, यह सुनकर वे सब भाई बहुत ही कुपित हुए। वे सोचने लगे कि कीचक की यह दशा उस शैलन्धी के कारण ही हुई है इसलिए वे कुपित होकर भीम को उस चिता में डालने का प्रयत्न करने लगे। किन्तु भीमसेन ने अपनी सुरक्षा हेतु, उनसे संघर्ष करते हुए कीचक के उन सभी भाइयों को जलती हुई चिताओं में झोंक दिया, जिससे वे जलकर भस्म हो गये।

एक दिन कीचक मुनि एकान्त उपवन के मध्य पद्मासन योगारूढ़, निश्चल विराजमान थे। एक यक्ष ने उन्हें वहाँ उस स्थिति में देखा। उनकी परीक्षा करने के लिए वह यक्ष आधी रात में द्रौपदी का रूप धरकर उनके पास पहुँचा और कामुक हावभाव प्रदर्शित करने लगा; परन्तु मुनिराज कीचक उसकी उन क्रियाओं को देखने-सुनने में मानो अंधे एवं बहरे बन गये। वे इन्द्रियों और मन को वश में करके मनशुद्धि करने में तत्पर थे। यह देख यक्ष ने उन्हें प्रणाम किया और कहा कि - हे नाथ ! मुझे क्षमा कीजिए। इसतरह

क्षमायाचना कर यक्ष ने द्रौपदी के प्रति उमड़े मोह के विषय में जिज्ञासा प्रगट की।

मुनि कीचक ने मोह की उत्पत्ति का कारण बतलाते हुए कहा - “मैं पूर्वभव में एक रौद्र परिणामी था, किन्तु मुनि के दर्शन करने से मैं एकदम शान्त परिणामी हो गया और मैं वहाँ से मरणकर कुमारदेव नाम का मनुष्य हो गया। वहाँ से मरकर फिर कुत्ता हो गया। कुत्ता से पुनः एक तापसी के मधु नामक पुत्र हुआ। उस पर्याय में मैं मुनि होकर स्वर्ग गया। मेरी माता इधर-उधर भटकती हुई द्रौपदी हुई है। पूर्वभव के इस मातृस्नेह के संस्कारवश मुझे मोह हो गया था।

देखो, माता बहिन हो जाती है, पुत्री प्रिय स्त्री हो जाती है और स्त्री माता, बहिन, बेटी हो जाती है। आश्चर्य की बात है कि संसाररूपी चक्र के साथ घूमनेवाले जीवों में ऐसे सम्बन्ध बनते-बिगड़ते रहते हैं। इसलिए हे भव्य जीवो ! संसार के भोगों से विरक्त हो आत्मकल्याण में प्रवृत्त होओ !” कीचक मुनि से यह संदेश सुनकर यक्ष चला गया।

ध्यान संयोगों पर से संपूर्णतया ज्ञानोपयोग को हटाकर पाँच इन्द्रियों और मन के माध्यम से विकेंद्रित ज्ञानोपयोग को आत्मा में केन्द्रित करने की, उपयोग को आत्मसन्मुख करने की अंतर्मुखी प्रक्रिया है। इसमें एक शुद्धात्मा के आलम्बन के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं चाहिए। यहाँ तक कि मन-वचन-काय भी, जो कि आत्मा के एकक्षेत्रावगाही हैं, उन तीनों योगों से भी काम लेना बन्द करके जब आत्मा का ज्ञानोपयोग अपने स्वरूप में ही स्थिर हो जाता है, उसे अध्यात्म में आत्मध्यान या निश्चय धर्मध्यान संज्ञा प्राप्त होती है।

- इन भावों का फल क्या होगा, पृष्ठ-१३५

अपनी अज्ञातवास की अवधि समाप्त होने पर धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा से भीमसेन आदि पाँचों पाण्डव हस्तिनापुर आकर रहने तो लगे; किन्तु उनका आगमन कौरवों को अच्छा नहीं लगा।

दुर्योधन आदि सौ भाई ऊपर से प्रसन्नता का प्रदर्शन करते हुए भी मन ही मन पुनः क्षोभ को प्राप्त होने लगे। भीतर ही भीतर पाण्डवों को परास्त करने के उपाय सोचने लगे। दुर्योधन ने पुनः पहले के समान राज्य के बंटवारे की संधि में दोष निकालना प्रारंभ कर दिया। भीम-अर्जुन उन्हें शान्त करते रहे। स्वच्छ बुद्धि के धारक धीर-वीर एवं दयालु युधिष्ठिर कौरवों का स्वप्न में भी अहित नहीं चाहते थे। इसलिए वे माता तथा भाई आदि परिवार के साथ पुनः दक्षिण दिशा की ओर चले गये और चलते-चलते विन्ध्यवन में पहुँच गये। विन्ध्यवन के आश्रम में रहकर तपस्या करनेवाले मुनिराज विदुर को देखकर उन्होंने प्रणाम किया और स्तुति करते हुए कहा “हे मुनिवर तुम्हारा जन्म ही सफल है जो तुम सम्पदा का मोह त्यागकर महातप कर रहे हो। जिस मार्ग में तत्त्वश्रद्धान रूप निर्मल सम्यग्दर्शन, समस्त पदार्थों को यथार्थ जाननेवाला सम्यग्ज्ञान और आत्मलीनता रूप निर्दोष चारित्र्य प्रतिपादित है। व्रत, समिति, गुप्ति, इन्द्रिय और कषाय को जीतनेवाले संयम का निरूपण किया है, तुम उस उत्कृष्ट मार्ग में स्थित हो; अतः तुम्हारा जीवन धन्य है।”

इसप्रकार जिनेन्द्रोक्त मुक्तिमार्ग एवं महामुनि विदुर की स्तुति कर युधिष्ठिर आदि सभी बन्धु द्वारिका पहुँचे। जब समुद्रविजय, वसुदेव आदि यादवों को पाण्डवों के आगमन का पता चला तो उन्हें हार्दिक हर्ष हुआ और उन्होंने इनका खूब स्वागत किया।

समुद्रविजय आदि दशों भाइयों ने बहिन कुन्ती तथा भानजों को बहुत समय बाद देखा था। नेमिकुमार, श्रीकृष्ण, बलदेव आदि समस्त यादव और प्रजा के सब लोग बहुत सन्तुष्ट हुए।

श्रीकृष्ण द्वारा पाण्डवों को सर्वश्रेष्ठ पाँच महलों में पृथक्-पृथक् ठहरा दिया गया।

पाण्डवों की सज्जनता की पराकाष्ठा तब दिखाई देती है, जब १२ वर्ष के अज्ञातवास के बाद पुनः हस्तिनापुर पहुँचे तो कौरवों को हर्ष होने के बजाय पुनः क्षोभ होने लगा। पाण्डवों ने जब यह देखा तो वे पुनः दक्षिण की ओर चले गये और द्वारिका पहुँचे। उनके मिलाप से यादवों को भारी हर्ष हुआ और उन्होंने खूब स्वागत किया रहने की उत्तम व्यवस्था की। उस समय पाण्डवों ने ऐसा अनुभव किया कि कौरवों ने हमारा अपकार नहीं, बल्कि उपकार किया है। यदि वे हमारे मिलने पर क्षोभ व्यक्त नहीं करते तो यादवों से हमारी ऐसी मित्रता कैसे होती ? और यह स्नेह और सम्मान कहाँ से मिलता ? सचमुच कौरव हमारे बड़े उपकारी हैं। सज्जन कहते ही उसे हैं जो बुराई में भी भलाई (अच्छाई) खोज लेते हैं।

पाँचों पाण्डवों के पूर्वभव

संसार के तीव्र भय से भयभीत पाण्डव पल्लवदेश में विहार करते हुए श्री नेमि जिनेन्द्र के समीप पहुँचे एवं प्रदक्षिणा देकर नमन किया पश्चात् समोशरण में दिव्यध्वनि रूपी धर्माभूत का पान कर पाण्डवों ने अपने पूर्वभव जानने की जिज्ञासा प्रगट की।

दिव्यध्वनि के अतिशय से उनका इस प्रकार सहज समाधान हुआ।

इसी भरतक्षेत्र की चम्पापुरी नगरी में जब कुरुवंशीय राजा मेघवाहन राज्य करता था। तब वहाँ एक सोमदेव नाम का ब्राह्मण रहता था उसकी सोमिला नाम की स्त्री थी और उसके सोमदत्त, सोमिल और सोमभूति नाम के तीन पुत्र थे। इनका मामा अग्निभूत था। उसकी पत्नी अग्निला थी। दोनों से धनश्री, सोमश्री और नागश्री नाम की तीन कन्यायें हुईं, जो उक्त तीनों भानजों की स्त्रियाँ हुई थीं।

वेदविज्ञ सोमदेव ब्राह्मण संसार से विरक्त हो जिनधर्म में दीक्षित हो गया।

सोमदत्त आदि तीनों भाई भी जिनधर्म से प्रभावित थे। अतः वे अर्थ और काम पुरुषार्थ की साधना करते हुए गृहस्थाश्रम में रत हो गये।

एकबार धर्मरुचि नामक मुनिराज भिक्षा के समय आहार हेतु उनके घर में प्रविष्ट हुए। सोमदत्त ने उठकर विनयपूर्वक मुनिराज को पड़गाहा। पड़गाहिने के बाद किसी अन्य काम में व्यस्त होने से वह तो चला गया और दान देने के कार्य में नागश्री को नियुक्त कर गया। अपने पूर्वकृत पापोदय से मुनिराज को नागश्री के द्वारा विष मिश्रित आहार मिला; क्योंकि नागश्री मुनियों के प्रति ईर्ष्यालु थी। मुनिराज अपनी मृत्यु निकट जानकर संन्यास मरण कर सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुए। नागश्री के इस दुष्कार्य को जानकर वे तीनों भाई सोमदत्त, सोमिल और सोमभूति बहुत दुःखी हुए और संसार से विरक्त हो उन्होंने वरुण गुरु के समीप दीक्षा धारण कर ली। धनश्री और मित्रश्री ने भी समस्त संसार के सुखों से विरक्त हो गुणवती आर्यिका के समीप दीक्षा धारण कर ली। इस प्रकार वे सब तप की शुद्धि के लिए चारित्र पालन करने के लिए उद्यत हो गये। चारित्र के सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात - ये पाँचों भेद हैं। यह चारित्र मोक्ष का साक्षात् साधन है। तप के दो भेद हैं - अन्तरंग और बहिरंग।

संयम और ध्यान की सिद्धि के लिए तथा राग को दूर करने के लिए उपर्युक्त तप श्रेष्ठ साधन हैं। इसीप्रकार के तपों द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना करने वाले सोमदत्त आदि पाँचों जीव अन्त समय समाधिमरण करके अच्युत स्वर्ग में सामानिक जाति के देव हुए। वहाँ उनकी २२ सागर की आयु थी। अत्यन्त शुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले वे देव उत्तम भोग भोगते हुए वहाँ २२ सागर तक रहे।

विषमिश्रित आहार देनेवाली नागश्री भी मर कर पाँचवे नरक में सत्तरह सागर की आयु तक महा दुःख भोग कर निकली। वहाँ से निकल कर सर्प हुई। वहाँ पुनः तीन सागर की आयु वाले तीसरे नरक में गई। वहाँ से निकल कर त्रस-स्थावर पर्यायों में दो सागर तक भटकती रही। तत्पश्चात् चम्पापुरी में एक चाण्डाल की कन्या हुई। पाप के पूर्व संस्कार से उसके शरीर से तीव्र दुर्गन्ध आती थी। इसकारण किसी की भी वह स्नेहपात्र नहीं बन सकी।

उसी नगरी में सुबाहु वणिक के जिनदेव एवं जिनदत्त नामक दो वैश्यपुत्र रहते थे। जिनदेव के कुटुंबीजनों ने उस दुर्गन्ध कन्या के साथ उसका विवाह करना चाहा, पर उसे वह विवाह स्वीकृत नहीं था। इसकारण वह सुव्रत

मुनि के पास जाकर दीक्षित हो गया, मुनि दीक्षा ले ली। कुटुम्बीजनों के आग्रह पर छोटे भाई जिनदत्त ने उससे विवाह तो कर लिया, किन्तु दुर्गन्ध के कारण उसने भी उसे छोड़ दिया।

इस घटना से चाण्डाल कन्या ने अपनी भूल का प्रायश्चित्त कर बहुत आत्मनिन्दा की। उसने एक दिन उपवास किया और क्षान्ता नामक आर्यिका के साथ अनेक आर्यिकाओं को भक्तिभाव से आहारदान दिया।

क्षान्ता आर्यिका के साथ दो आर्यिकाएँ परम रूपवती कठिन तप करने वाली थीं, उन्हें देख दुर्गन्ध सुकुमारिका ने क्षान्ता आर्यिका से पूछा – ये दो रूपवती आर्यिकाएँ इतना कठिन तप किस कारण कर रही हैं ?

क्षान्ता आर्यिका ने बताया कि ये सुकुमारिकायें पूर्वभव में सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र की विमला और सुप्रभा नामक देवियाँ थीं। एक दिन ये नन्दीश्वर पर्वत की यात्रा में जिनपूजा के लिए आयीं थीं कि संसार से विरक्त हो चित्त में इसप्रकार विचारने लगीं कि यदि हम मनुष्य भव को प्राप्त हों तो स्त्री पर्याय छेदक महातप करेगी। इसप्रकार संकल्प के साथ वे देवियाँ स्वर्ग से च्युत हुईं और अयोध्या नगरी के राजा श्रीषेण की हरिषेणा और श्रीषेणा पुत्री हुईं। ये दोनों रूपवती कन्याएँ जब यौवन को प्राप्त हुईं और इनका स्वयंवर रचा जाने लगा तो इन्हें अपने पूर्वभव के संकल्प का स्मरण हो आया, जिससे ये बन्धुजनों को छोड़कर तत्काल तप करने लगीं।

क्षान्ता आर्यिका से उन दोनों रूपवती आर्यिकाओं की कहानी सुनकर सुकुमारिका भी विरक्त हो गई और संसार के दुःखों से भयभीत हो उन्हीं के पास दीक्षित हो गई।

एक दिन उसी गाँव की गणिका वसन्तसेना वन विहार के लिए आई। क्रीड़ा करने में उद्यत उस गणिका को देख आर्यिका सुकुमारिका ने खोटे परिणामों से युक्त हो यह निदान किया कि अन्य जन्म में मुझे भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो। आयु के अन्त में मरकर वह आरण-अच्युत युगल में अपने पूर्वभव के पति सोमभूति देव की पचपन पत्य की आयुवाली देवी हुई। सोमदत्त आदि तीनों भाइयों के जीव स्वर्ग से च्युत हो पाण्डु राजा

की कुन्ती से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन नामक पुत्र हुए। धनश्री एवं मित्रश्री के जीव उन्हें पाण्डु राजा की माद्री रानी से नकुल व सहदेव नामक पुत्र हुए। सुकुमारिका का जीव भी स्वर्ग से च्युत हो द्रोपदी हुई।

पूर्वभव के स्नेह के कारण इस भव में द्रोपदी व अर्जुन का संयोग हुआ। तीन ज्येष्ठ पाण्डव अर्थात् युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तो इसी भव से मोक्ष को प्राप्त होंगे और अन्तिम दो पाण्डव नकुल व सहदेव सर्वार्थसिद्धि जायेंगे। सम्यग्दर्शन से शुद्ध द्रोपदी तप के फलस्वरूप आरण-अच्युत युगल में देव होंगी। इसके बाद मनुष्य पर्याय प्राप्त कर मुक्त होगी।

इसप्रकार पाण्डव धर्म तथा अपने पूर्वभव श्रवण कर संसार से विरक्त हो तीर्थकर नेमिप्रभु के समीप संयमी हो गये। कुन्ती, द्रोपदी तथा सुभद्रा आदि राजीमती आर्यिका के समीप तप में लीन हो गईं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, महाव्रत, समिति, गुप्तियों से अपनी आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करते हुए वे पाण्डव भी तप करने लगे। उन सब मुनियों में भीमसेन मुनि बहुत ही शक्तिशाली थे। उन्होंने भाले के अग्रभाग से दिए हुए आहार को ग्रहण करने का नियम लिया था। क्षुधा से उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया। फिर भी छह महीने में उन्होंने वृत्तिपरिसंख्यान तप को पूरा कर हृदय का श्रम दूर किया था।

युधिष्ठिर आदि मुनियों ने भी बड़ी श्रद्धा के साथ बेला-तेला आदि उपवास किए थे। इसप्रकार भीमसेन ने जैनागम के ज्ञाता युधिष्ठिर आदि मुनियों के साथ विहार किया।

--

--

--

रुक्मणी का पुत्र प्रद्युम्नकुमार विद्याधर कालसंवर के यहाँ कनकमाला की गोद में पलने और बढ़ने लगा। उसने आठ वर्ष में ही आकाशगामिनी विद्या सीख ली। वह बाल्यकाल से ही अपने रूप सौन्दर्य और पौरुष से सभी पुरुषों के मन को हरण करता था।

युवा होते-होते समस्त अस्त्र-शस्त्रों में निपुण हो गया। वह कामदेव पद का धारक पुण्यवान पुरुष था। कालसंवर के अन्य पत्नियों से जो ५०० पुत्र थे, उन ५०० पुत्रों को कालसंवर ने अपने शत्रु सिंहस्थ को परास्त

करने के लिए भेजा, किन्तु सिंहरथ ने उन सभी ५०० पुत्रों को पराजित कर दिया। अन्त में प्रद्युम्न ने उस ५०० पुत्रों को हरानेवाले सिंहरथ को जीत लिया। प्रद्युम्न के पराक्रम को देख कालसंवर तो प्रसन्न हुआ; परन्तु वे ५०० पुत्र अपनी हीन वृत्ति के कारण प्रद्युम्न जैसे पुण्यवान और पराक्रमी पुरुष से ईर्ष्या करने लगे और प्रद्युम्न को मार डालने की योजना बनाने लगे।

एक बार वे सब प्रद्युम्न को सिद्धायतन के गोपुर के समीप ले गये और छल से उसे ऐसे खतरनाक स्थानों पर भेजने को प्रेरित करने लगे, जहाँ से जिन्दा लौटना उन्हें संभव नहीं लगता था। सर्वप्रथम प्रद्युम्न को उस गोपुर के अग्रभाग पर चढ़ने को कहा, जहाँ से दुर्लभ विद्यायें प्राप्त करके लानी थीं। प्रद्युम्न वेग से गोपुर के अग्रभाग पर चढ़ गया तथा वहाँ के देव से सचमुच विद्याओं का खजाना एवं मुकुट ले आया।

पुनः उनके कहने पर वह महाकाल गुफा में घुस गया तो वहाँ से भी तलवार, ढाल, छत्र, चमर लेकर लौटा। वहाँ से उन लोगों ने नाग गुफा में जाने को प्रेरित किया, वहाँ से भी देवों द्वारा प्रदत्त पादपीठ, नागशैय्या, आसन, वीणा तथा भवन वाली विद्यायें ले आया। वापिका में गया तो वहाँ भी युद्ध में जीते हुए देव से मकर चिह्न से चिह्नित ध्वजा प्राप्त कर निकला। तदनन्तर अग्निकुण्ड में प्रविष्ट हुआ, वहाँ से अग्नि द्वारा शुद्ध किए हुए दो शस्त्र लेकर आया। मेषाकृति पर्वत में प्रवेश कर कानों के दो कुण्डल ले आया। पाण्डुक वन में प्रवेश कर वहाँ के निवासीदेव से मुकुट एवं अमृतमयी माला लेकर लौटा। कपित्थ नामक वन में गया तो वहाँ के देव से विद्यामय हाथी ले आया। वाल्मीकि वन में प्रवेश कर वहाँ के निवासी देव से छुरी-कवच-मुद्रिका आदि ले आया। शाख नामक पर्वत में गया, वहाँ के निवासी देवों से कटिसूत्र, कवच, कड़ा, बाजूबंद और कंठाभरण प्राप्त किए। सूकर नामक वन में गया और वहाँ से शंख व धनुष प्राप्त किए। मनोवेग विद्याधर से हार और इन्द्रजाल प्राप्त किया तथा मनोवेग और वसन्त विद्याधर की मित्रता करा दी, उससे एक कन्या एवं नरेन्द्र जाल प्राप्त किया। एक भवन में प्रवेश करने से उसके अधिपति से पुष्पमय धनुष, संताप और शोक को उत्पन्न करनेवाले बाण प्राप्त किये। तत्पश्चात् एक ऐसी नाग गुहा में गया जहाँ

के स्वामी देव से चन्दन की मालायें, फूलों के छत्र और फूलों की शैया प्राप्त की। उसके बाद जयन्त गिरि पर वर्तमान दुर्जय नामक वन में गया, वहाँ से विद्याधर वायु की पुत्री रति लेकर लौटा।

इसप्रकार प्रद्युम्नकुमार को इन सोलह स्थानों में जहाँ पाँच सौ पुत्रों ने उसे मारने की खोटी भावना से भेजा था, वहीं से उसे अनेक महालाभों की प्राप्ति हुई, जिसे देखकर कालसंवर के ५०० पुत्र आश्चर्यचकित रह गये और पुण्य का माहात्म्य समझ कर वे संतोष की सांस लेते हुए प्रद्युम्न के साथ अपने मेघकूट नगर में वापस आ गये।

नगर में पहुँचते ही प्रद्युम्न ने धर्मपिता कालसंवर को नमस्कार किया। कांतिमय युवा प्रद्युम्नकुमार को श्रेष्ठ वेष में रथ पर बैठा देख धर्ममाता कनकमाला किसी दूसरे ही भाव को प्राप्त हो गई, वह उसके रूप-लावण्य पर मोहित हो गई। रथ से नीचे उतर कर नग्रीभूत हुए प्रद्युम्न की कनकमाला ने बहुत प्रशंसा की, उसका मस्तक सूंघा, उसे पास में बैठाया और कोमल हाथ से उसका स्पर्श किया। मोह का तीव्र उदय होने से कनकमाला गोद लिए पुत्र प्रद्युम्न पर ऐसी मोहित हुई कि उसके मन में काम-भोग जैसे खोटे विचार उठने लगे।

प्रद्युम्न यह बात कभी स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था; क्योंकि वह तो कनकमाला को माँ ही जानता था। उसे तो अभी तक यह भी ज्ञात नहीं था कि वह इनके यहाँ कैसे आया और उसकी असली माँ कौन है? अतः वह कनकमाला को प्रणाम कर तथा इससे आशीर्वाद लेकर अपने आवास पर चला गया।

उधर प्रद्युम्न के आलिंगनजन्य सुख को प्राप्त करने की तीव्र लालसा से वह विद्याधरी कनकमाला काम की पीड़ा से पीड़ित होकर सब सुध-बुध भूल गई, अस्वस्थ हो गई। अस्वस्थ होने का समाचार पाकर प्रद्युम्न जब उसे देखने गया तो देखता है कि कनकमाला कमलिनी के पत्तों की शैय्या पर पड़ी हुई बहुत व्याकुल हो रही है। प्रद्युम्न ने उससे अस्वस्थता का कारण पूछा तो उसने शारीरिक और वाचनिक कामुक चेष्टाओं से अपना अभिप्राय प्रगट कर दिया।

प्रद्युम्न ने परिणामों की विचित्रता और कर्मों की विडम्बना पर विचार किया कि माता की पुत्र के प्रति भी ऐसी परिणति हो सकती है? यह तो कल्पना करना भी दुःखद है। अतः उसने कनकमाला को अपने

माता और पुत्र के सम्बन्ध को जताते हुए जब उसकी इस चेष्टा की निन्दा की तो कनकमाला ने अपनी सारी पूर्व घटना सुनाकर यह बतलाने का प्रयत्न किया कि तुम मेरे उदर से उत्पन्न पुत्र नहीं हो। कनकमाला से अपना सम्बन्ध सुनकर प्रद्युम्न के मन में संशय उत्पन्न हुआ इसके समाधान के लिए वह जिनमन्दिर में विद्यमान अवधिज्ञानी मुनि सागरचन्द्र के पास गया और विनयपूर्वक वन्दना करके अपने पूर्वभव पूछे। पूर्वभव की जानकारी में उसे यह भी ज्ञात हो गया कि वह कनकमाला पूर्वभव में चन्द्राभा थी तथा तुम्हें उससे प्रज्ञप्ति विद्या का लाभ होनेवाला है।

प्रद्युम्न ने कामपीड़िता कनकमाला से प्रज्ञप्ति विद्या के विषय में पूछा - कनकमाला ने उत्तर में कहा हे प्रद्युम्न ! यदि तू मुझे चाहता है तो मैं तुझे गौरी और प्रज्ञप्ति नामक विद्यायें देती हूँ।

प्रद्युम्न को विद्याओं की चाह थी, अतः उसने मन की बात मन में रखकर ऊपर से यह कह दिया कि 'मैं आपको चाहता हूँ, विद्यायें मुझे दीजिए।' कामपीड़ित व्यक्ति गहराई से अपना हिताहित नहीं सोच पाता, भावुकता में उससे कुछ भी कराया जा सकता है। बस, प्रद्युम्न के इतना-सा कहने पर कनकमाला ने विद्याधरों को दुष्प्राप्य विद्यायें प्रद्युम्न को दे दीं।

विद्यायें प्राप्त कर प्रद्युम्न ने कहा - पहले अटवी से लाकर आपने मेरी रक्षा कर प्राणदान दिया और अभी विद्यादान दिया। इसतरह प्राणदान और विद्यादान देने से आप मेरी गुरु हैं। इस प्रकार उत्तमवचन कहकर तीन प्रदक्षिणाएँ देकर हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर सामने खड़ा हो गया और बोला - 'पुत्र या शिष्य के योग्य जो आज्ञा हो मुझे दीजिए।'

कनकमाला चुप रह गई और प्रद्युम्न थोड़ी देर रुककर वहाँ से चला गया। कनकमाला क्रोध में आग बबूला हो गई वह सोचती है - 'मैं इसके द्वारा छली गई हूँ अब मुझे इसके लिए कुछ और ही करना पड़ेगा।' कामासक्त क्या-क्या नहीं करता? कनकमाला ने विवेकशून्य हो अपने वक्षस्थल को नाखूनों से लहुलुहान कर लिया, कपड़े फाड़ लिये और पति को अपनी दुर्दशा दिखाते हुए कहा - 'हे नाथ ! यह प्रद्युम्न की करतूत देखो। पति कालसंवर ने पत्नी के प्रपंच पर विश्वास कर लिया और उसने भी अपने ५०० पुत्रों को यह आदेश दे दिया कि - किसी को पता न चले, इसतरह गुप्तरूप से प्रद्युम्न को मार डाला जाये।

पिता की आज्ञा पाकर वे फूले नहीं समाये, वे स्वयं ईर्ष्यालु तो थे ही और उसे मार डालना चाहते थे; किन्तु पुण्यवान व्यक्ति का कोई बालबांका भी नहीं कर सकता। इतना विवेक उन्हें नहीं था। उन सबने प्रद्युम्न को मारने में पहले भी कोई कमी नहीं रखी थी; पर नहीं मार पाये। व्यक्ति अपनी खोटी भावना करके स्वयं पाप बांध लेता है, दूसरों का बुरा करना तो किसी के हाथ में है ही नहीं। उसका भला-बुरा तो उसके स्वयं के पुण्य-पाप के परिणामों से होता है। यदि यह बात समझ में आ जाये तो कोई किसी का बुरा चाहेगा ही क्यों?

वे सभी ५०० पुत्र दूसरे ही दिन कालाम्बु नामक वापिका (बाबड़ी) पर गये और प्रद्युम्न को बार-बार प्रेरित करने लगे कि चलो बावड़ी में क्रीड़ा करें। उसीसमय प्रज्ञप्ति विद्या ने प्रद्युम्न के कान में सब बात ज्यों की त्यों कह दी। सुनकर प्रद्युम्न सावधान हो गया और उसने तत्क्षण विद्या के बल से मूल शरीर छिपा कर अपने मायामयी शरीर से बावड़ी में कूद पड़ा। उसके कूदते ही सभी पुत्र उसके ऊपर कूद पड़े, ताकि वह वहीं मर जाये; परन्तु ऐसा नहीं हुआ। प्रद्युम्न ने एक को बचा कर शेष सभी को अंधा लटका कर कील दिया। एक को पाँच चोटियों वाला विदूषक जैसा बनाकर कालसंवर के पास समाचार देने भेज दिया।

पुत्रों की दुर्दशा का समाचार सुन क्रोधित हुआ कालसंवर युद्ध की तैयारी कर वहाँ पहुँचा। उधर प्रद्युम्न ने भी विद्या के बल से वैसी ही सेना की तैयारी कर ली और युद्ध में भी कालसंवर को हरा दिया। कालसंवर जीवन की आशा छोड़ दौड़ा-दौड़ा कनकमाला के पास आकर प्रज्ञप्ति विद्या माँगी, जिसे वह पहले ही प्रद्युम्न को दे चुकी थी। अतः उसने उत्तर में कहा वह विद्यायें मैं बाल्यकाल में ही दूध के साथ उसे पिला चुकी हूँ।

कालसंवर स्त्री की मायाचारी का अनुमान लगाकर अपना मन मारकर पुनः लड़ने लगा तो प्रद्युम्न ने उसे बांधकर शिला पर रख दिया। इसी बीच में नारदजी वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने सब रहस्य खोल दिया।

राजा कालसंवर को बन्धन-मुक्त करते हुए प्रद्युम्न ने उनसे क्षमा माँगी और कहा कि माता कनकमाला ने जो भी किया वह पूर्वकर्म के उदय के वशीभूत होकर किया है। अतः आप उन्हें भी क्षमा कर दें। पाँच सौ कुमारों को भी छोड़ दिया और भातृस्नेह प्रगट करके उनसे भी क्षमा माँगी।

तदनन्तर रुक्मणी और श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए अत्यन्त लालायित प्रद्युम्न ने कालसंवर से आज्ञा

माँगी और कालसंवर ने पूर्ण संतुष्ट होकर प्रद्युम्न को जाने की आज्ञा दे दी। प्रद्युम्न नारदजी के साथ द्वारिका की ओर प्रस्थान कर गये।

आकाश मार्ग में आते हुए जब दोनों हस्तिनापुर के पार कुछ आगे निकले तब एक सेना उन्हें दिखाई दी। सेना को देख प्रद्युम्न ने नारद से पूछा - “हे पूज्य ! यह अटवी के बीच बड़ी भारी सेना किसकी है ?”

उत्तर में नारदजी ने सुनाया - “एक हस्तिनापुर का कुरुवंशी दुर्योधन नाम का राजा है, एकबार उसने कृष्ण से प्रतिज्ञा की थी कि यदि मेरे कन्या होगी और आपकी रुक्मणी तथा सत्यभामा रानियों के पुत्र हुए तो जो पुत्र पहले होगा उसके लिए मैं अपनी कन्या दूँगा। संयोग से रुक्मणी के तुम और सत्यभामा के भानु साथ ही साथ हुए; परन्तु तुम्हारी खबर श्रीकृष्ण को पहले मिली, इसकारण तुम अग्रज घोषित किए गए और भानु अनुज। तदनन्तर अकस्मात् कहीं जाता हुआ धूमकेतु नामक असुर तुम्हें हर ले गया, इसकारण तुम्हारी माँ रुक्मणी बहुत दुःखी और सत्यभामा संतुष्ट हुई। जब तुम्हारा कुछ समाचार नहीं मिला तो दुर्योधन ने अपनी उदधिकुमारी पुत्री को भानु के लिए देने की घोषणा की। तथा जोर से कहा कि - यह वही उदधिकुमारी कन्या है जो बड़ी भारी सेना से सुरक्षित हो द्वारिका को जा रही है तथा सत्यभामा के पुत्र भानु की स्त्री होनेवाली है।”

यह सुनकर प्रद्युम्न ने नारद को तो वहीं छोड़ा और स्वयं उसी क्षण नीचे उतरकर भील का वेश रखकर सेना को रोककर सामने खड़ा हो गया और बोला कि “श्रीकृष्ण महाराज ने मेरे लिए जो शुल्क देना निश्चित किया है, वह देकर जाइए।”

भील के इसप्रकार कहने पर कुछ लोगों ने कहा - “माँग क्या चाहता है?” भील ने कहा - “इस समस्त क्षेत्र में जो वस्तु सबसे सारभूत हो वही चाहता हूँ।”

लोगों ने क्रोधित होते हुए कहा - ‘सेना में सारभूत तो कन्या है।’ भील ने कहा - ‘तो वह कन्या ही दे दीजिए।’

यह सुन लोगोंने कहा - ‘तू श्रीकृष्ण की पैदाइश नहीं है, यह कन्या उसे दी जायेगी जो श्रीकृष्ण की संतान होगी।’

भील ने जोर देकर कहा - 'मैं विष्णु से उत्पन्न हुआ हूँ।'

इस बकवास करनेवाले की धृष्टता तो देखो - ऐसा कहकर उसे धनुष की नोक से अलग हटाकर ज्यों ही आगे जाने लगे कि उस भील वेषधारी प्रद्युम्न ने विद्या द्वारा निर्मित भीलों की सेना से दुर्योधन की सेना में जाकर अपना असली रूप प्रगट किया, उस असली रूप को देख कन्या निर्भय हो गई और नारद के कहने से यथार्थ बात को समझकर हर्षित हो सुखी हो गई।

कन्या उदधिकुमारी और नारद मुनि के साथ विमान में बैठे प्रद्युम्नकुमार द्वारिका जा पहुँचे। वहाँ सत्यभामा का पुत्र भानु घुड़सवारी करने नगर के बाहर मैदान में आया था उसे प्रद्युम्न ने देखा। देखते ही वह विमान से उतरा और वृद्ध का रूप रखकर सुन्दर घोड़ा लेकर भानुकुमार के पास पहुँचा। और बोला - 'मैं यह घोड़ा भानुकुमार के लिए लाया हूँ।' देखते ही भानुकुमार उस घोड़े पर सवार हो गया। इच्छानुरूप वेष धारण करनेवाले उस घोड़े ने भानुकुमार को बहुत देर तक तो तंग किया और बाद में भानुकुमार को अपनी पीठ पर बैठाकर वृद्ध वेषधारी प्रद्युम्न के पास ले आया। भानुकुमार घोड़े से नीचे उतर आया।

वृद्ध ने अट्टहास कर व्यंग में कहा - 'अहा ! घोड़ा चलाने में तो आप बहुत होशियार हैं ? साथ ही कहा कि मैं बूढ़ा हूँ, यदि कोई मुझे घोड़े पर बिठा दे तो मैं भी थोड़ा अपना घुड़सवारी का कौशल दिखा सकता हूँ।' भानुकुमार के लोगों ने उसे घोड़े पर बिठाने की बहुत कोशिश की, परन्तु उस वृद्ध ने अपना शरीर इतना भारी कर लिया कि कोई उसको घोड़े पर नहीं बिठा पाये। जब वे सब तंग हो गये तो वह स्वयं घोड़े पर चढ़ गया और अपना कौशल दिखलाता हुआ चला गया। इसके बाद उसने मायामयी बानरों और घोड़ों से सत्यभामा का उपवन उजाड़ डाला तथा उसकी बावड़ी सुखा दी। नगर के द्वार पर श्रीकृष्ण आ रहे थे कि उन्हें देख उसने मायामयी मक्खियों और डांस-मच्छरों को इतनी अधिक संख्या में छोड़ा कि उनका आगे बढ़ना कठिन हो गया। तदनन्तर वह गधों और मेढ़ों के रथ पर सवार हो नगर में चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा। इसतरह नाना प्रकार की क्रीड़ाओं से नगरवासियों को मोहित कर अपने बाबा वसुदेव के साथ युद्ध क्रीड़ा की।

तत्पश्चात् सत्यभामा के महल में पहुँचा। वहाँ ब्राह्मणों का भोज होनेवाला था, वहाँ ब्राह्मण का वेष धारणकर सबसे आगे की पंक्ति में जा बैठा। एक अपरिचित ब्राह्मण को आगे बैठा देखकर सब ब्राह्मण कुपित हो गये। उस ब्राह्मण भोज में जितना भोजन बना था, वह सब अकेला ब्राह्मण वेषधारी प्रद्युम्न खा गया। खाने को जब कुछ भी न बचा तो सत्यभामा को कृपण बताकर खाया भोजन वहीं उगल कर बाहर चला गया।

अब वह नकली साधु का वेष धारण कर रुक्मणी के महल में गया। वहाँ उसने रुक्मणी के द्वारा दिये गये लड्डू खाये। उसी समय सत्यभामा का नाई रुक्मणी के शिर के बाल लेने के लिए वहाँ आ पहुँचा। प्रद्युम्न को बाल काटने की बात पहले से ज्ञात थी, अतः उसने नाई का खूब तिरस्कार किया। सत्यभामा द्वारा शिकायत सुन बलदेव रुक्मणी के महल में आने को तैयार हुए तो वहाँ प्रद्युम्न ब्राह्मण के वेष में द्वार पर पैर फैलाकर खड़ा रहा। बलदेव ने उसे दूर हटने के लिए कहा, परन्तु वह टस से मस नहीं हुआ। कहने लगा कि - 'आज सत्यभामा के घर बहुत भोजन करके आया हूँ। अतः मुझसे उठते नहीं बनता।' क्रोध में आकर बलदेव ने टांग पकड़कर खींचना चाहा, पर उसने टांग को इतना मजबूत कर लिया कि वे खींचते-खींचते तंग आ गये। इसप्रकार नाना विद्याओं में कुशल प्रद्युम्न अपनी इच्छानुसार लोगों को आश्चर्य उत्पन्न कराता हुआ बहुत समय तक क्रीड़ा करता रहा।

प्रद्युम्न के आने के जो चिह्न, जो संकेत नारद ने बतलाये थे, वे माता रुक्मणी को प्रत्यक्ष दिखने लगे। उसके स्तनों से दूध झरने लगा। अत्यन्त आश्चर्य में पड़कर वह विचार करने लगी 'कहीं सोलह वर्ष व्यतीत होने के बाद मेरा पुत्र ही तो रूप बदलकर नहीं आ गया है।' उसी क्षण प्रद्युम्न ने अपने असली रूप में प्रगट होकर पुत्र का स्नेह प्रगट कर माता को प्रणाम किया। पुत्र को देखते ही रुक्मणी आनन्द से भर गई। उसके नेत्र हर्ष के आंसुओं से भर आये। उसने प्रद्युम्न से कहा - 'हे पुत्र ! वह कनकमाला धन्य है, जिसे तेरी बाल क्रीड़ाओं को देखने का सौभाग्य मिला।' इतना कहते ही प्रद्युम्न ने अपना बालक का रूप बनाया और नाना बाल सुलभ क्रीड़ाओं से माता के हृदय को संतुष्ट किया, माता के सभी मनोरथ पूर्ण किए।

तत्पश्चात् वह माता को दोनों भुजाओं में उठाकर आकाश में ले जाकर बोला - 'समस्त यादव राजा सुने ! मैं श्रीकृष्ण की प्रिया रुक्मणी को हरकर ले जा रहा हूँ। शक्ति हो तो उसकी रक्षा करो।' - इसप्रकार कहकर तथा शंख फूंककर रुक्मणी और उदधिकुमारी को तो नारदजी के पास बिठा दिया और युद्ध करने को तत्पर हो गया। घमासान युद्ध हुआ। प्रद्युम्न प्रत्येक लड़ाई में सफल होता गया। अन्त में दोनों पिता-पुत्र बड़ी भुजाओं से युद्ध करने को उद्यत हुए तब रुक्मणी के द्वारा प्रेषित होकर नारद ने शीघ्र ही आकर पिता-पुत्र का सम्बन्ध बतलाकर दोनों को युद्ध करने से रोका।

श्रीकृष्ण होनहार 'वीर' और विद्याधर पुत्र को देखकर परम हर्ष को प्राप्त हुए। पुत्र को पाकर रुक्मणी और जाम्बवती ने ख़ूब उत्सव कराया। तदनन्तर प्रद्युम्न अन्य स्त्रियों को अपने अतिशय रूप-लावण्य से लजा देनेवाली उदधिकुमारी आदि कन्याओं के साथ विवाहकर मंगल को प्राप्त हुए।

शम्बकुमार और सुभानुकुमार

राजा मधु का भाई कैटभ जो अच्युत स्वर्ग में देव हुआ था। वहाँ से चय कर श्रीकृष्ण की पत्नी जाम्बवती से शम्बकुमार या शम्भूकुमार हुआ और उसी समय सत्यभामा के भी सूर्य के समान दैदीप्यमान सुभानु-कुमार हुआ।

इधर प्रद्युम्न की प्राप्ति से रुक्मणी और शम्ब की प्राप्ति से जाम्बवती हर्षित हुई। उधर भानु और सुभानु की प्राप्ति से सत्यभामा भी अत्यधिक हर्षित हुई। श्रीकृष्ण की अन्य स्त्रियों से भी अनेक पुत्र उत्पन्न हुए, जो यादवों के हृदयों को आनन्द देनेवाले तथा सत्य, पराक्रम और यश से अत्यधिक सुशोभित थे। सैंकड़ों कुमारों से सेवित शम्ब समस्त क्रीड़ाओं में सुभानु को दबा देता था और उसे जीतकर सातिशय क्रीड़ा करता था।

रुक्मणी के भाई रुक्मि के एक वैदर्भी नामक कन्या थी। रुक्मणी ने उसे प्रद्युम्न के लिए माँगा, परन्तु रुक्मि के पूर्व विरोध के कारण प्रद्युम्न के लिए वह कन्या नहीं दी गई। यह सुन शम्ब और प्रद्युम्न - दोनों भील के वेष में आये और रुक्मि को पराजित कर बलपूर्वक उस कन्या को हरकर ले आये और प्रद्युम्न ने उससे विवाह कर माँ रुक्मिणी की भावना को पूरा कर दिया।

शम्ब जुआ खेलने में तो बहुत चतुर था ही, अन्य अनेक कलाओं में भी निपुण था। एक बार उसने सुभानु का सब धन जीत लिया और सब लोगों में बाँट दिया। वह नाना प्रकार के पक्षियों की बोली बोलने में, सुगंधि की परीक्षा करने आदि की प्रतियोगिताओं में तो समय-समय पर जीतता ही रहा; एक बार तो उसने अपना बल-पराक्रम दिखाकर सुभानु को ऐसा जीता कि श्रीकृष्ण उस पर बहुत प्रसन्न हो गये तथा उन्होंने उसे पुरस्कार स्वरूप मुँह माँगा यथेच्छ वर माँगने का आग्रह किया; फलस्वरूप उसने एक माह के लिए राज्यसत्ता का सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त कर ऐसी अनैतिक क्रियायें कीं, जिससे समस्त प्रजा त्राहि-त्राहि कर उठी। बहु-बेटियों का शील सुरक्षित नहीं रहा, परन्तु यह स्थिति बहुत काल नहीं रही।

जब श्रीकृष्ण तक शम्ब के स्वच्छन्दता पूर्वक किए अनैतिक आचरण की चर्चा पहुँची तो उन्होंने भी बहुत डाँटा-फटकारा और मुँह माँगे वरदान के दुरुपयोग पर उन्हें पश्चाताप भी बहुत हुआ।

शम्ब के चरित्र में विविधिता के दर्शन भी होते हैं। एक ही रात्रि में १००-१०० नैतिक-अनैतिक शादियाँ करनेवाला अत्यन्त कामुक प्रवृत्ति वाला होते हुए भी अन्त में ऐसा पलटा कि आत्मसम्मुखता का अपूर्व पुरुषार्थ करके सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेष का नाश कर उसी भव में मुक्त हो गया।

ऐसे उदाहरण पुराणों में भी बहुत कम मिलते हैं।

इस सर्ग की विषयवस्तु में पाठकों को सीखने की बात यह है कि अन्त में वही शम्ब समस्त दुष्प्रवृत्तियों का त्याग कर संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर मुनिव्रत अंगीकार कर आत्मसाधना का अपूर्व पुरुषार्थ कर चार घातिया कर्मों का अभाव कर केवली हुए, भगवान बन गये तो हम भले अबतक भूले-भटके हैं, पापी हैं, फिर हम भी शम्ब की तरह भगवान बन सकते हैं। अतः निराश होने की जरूरत नहीं है।

जब जाग जाओ तभी है सबेरा।

न सोचो अभी मित्र कितना अंधेरा ॥

निर्वाणकाण्ड में भी शम्ब और प्रद्युम्न के नामों का उल्लेख है।

शम्ब प्रद्युम्न कुंवर दोग्य भाय, अनिरुद्ध आदि नमूँ तसुपाय।

गोपिका यशोदा माँ के उदर से जन्मी और देवकी की गोद में पली-बढ़ी श्रीकृष्ण की बहिन यद्यपि सर्वांग सुन्दर थी, परन्तु जन्म के समय देवकी के प्रसूति गृह में जाकर कंस ने उसकी नाक दबाकर चपटी कर दी थी, इस कारण उसके मन में हीन भावना ने घर कर लिया।

एक बार बलदेव के पुत्रों ने आकर उसे नमस्कार किया और जाते समय अपने अल्हड़ स्वभाव से उसे 'चपटी' नाक वाली कह कर चिढ़ा भी दिया। यह निन्द्य वचन सुनकर वह लज्जित होती हुई उस स्त्री पर्याय से ही विरक्त हो गई। उसने नगर में विद्यमान सुव्रता नामक गणनी की शरण प्राप्तकर उनके साथ अवधिज्ञान के धनी व्रतधर मुनिराज के पास जाकर पूछा - "मैंने पूर्व में ऐसा क्या पाप किया था, जिससे मुझे यह कुरूप प्राप्त हुआ?"

उत्तर में मुनिराज ने कहा - "पूर्वभव में तू सुराष्ट्र देश में उत्तम रूपवान पुरुष था। उस पुरुषपर्याय में तू विषयजन्य सुखों में अत्यन्त लीन था। एकबार एक मुनि के ऊपर तूने अपनी गाड़ी चढ़ा दी। इससे उनकी नाक चपटी हो गई। उन्होंने धैर्य रखा, वे आकुल-व्याकुल नहीं हुए, मुनिराज के जीव का घात नहीं हुआ। इसकारण तेरा जीव नरक में तो नहीं गया, किन्तु उनके शरीर का कुछ घात हुआ था, इसकारण तेरा मुख विकृत हुआ है।"

संसार में जो जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है। इसप्रकार गुरु के वचन सुन वह यशोदा गोपिका सुव्रत गणनी के साथ चली आई और आर्यिका के व्रत ले लिए। उस नवदीक्षिता आर्यिका को देखकर ऐसा लगता था मानो यह साक्षात् सरस्वती अथवा रति तपस्या कर रही है। व्रत, तप, संयम आदि एवं प्रतिदिन भायी जानेवाली अनित्यादि बारह भावनाओं से वह विशुद्धि को प्राप्त हुई थी। सदा आत्मसाधना

करते हुए आर्यिकाओं के समूह के साथ निवास करती थी।

अपने विहार काल में जिनेन्द्रों के जन्म, दीक्षा और निर्वाण कल्याणक के तीर्थक्षेत्रों के दर्शन करते हुए वह अपनी सहधर्मिणियों के साथ विन्ध्याचल के विशाल वन में जा पहुँची। वहाँ सिंह के द्वारा आक्रमण होने पर उन्होंने समाधि ले ली। वह तो मृत्यु को प्राप्तकर अपने विशुद्ध परिणामों के फल में स्वर्ग गई; परन्तु उसके नाम पर चोर-लुटेरे और मूर्ख भीलों द्वारा जो हिंसक बलिदान की प्रथा चलाई गयी, वह जानने योग्य है। ताकि भविष्य में कोई ऐसी गलत प्रथाओं के चक्कर में न पड़े।

बात यों बनी - जब वह आर्यिका माता निश्चलरूप से प्रतिमायोग से ध्यानस्थ थी। उससमय कुछ लुटेरे भीलों ने उसे देखा और उन्होंने उसे देवी की मूर्ति समझकर प्रार्थना की और यह संकल्प किया कि यदि हम इस संघ को लूटने में सफल हो जायेंगे तो हे देवी ! तेरी ठाट-बाट से पूजा करेंगे।

वे लुटेरे अपनी होनहार से संघ को लूटने में सफल हुए और खूब माल भी मिला, इससे वे मालामाल हो गये, इसे वे उसी देवी का आशीर्वाद और प्रसाद मानकर उसकी पूजा करने वहाँ आये; किन्तु वहाँ आकर देखा तो आर्यिका की जगह केवल उसकी मांस से लथपथ तीन उंगलियाँ ही मिलीं। इस बीच सिंह ने आक्रमण कर उसे मारकर खा लिया था।

भीलों ने उन तीन उंगलियों को ही देवी की प्रतिमा के रूप में स्थापित कर और उसे मांसप्रिय मानकर भैंसों का बलिदान कर उसकी पूजा प्रारंभ कर दी।

यद्यपि वह आर्यिका परम दयालु थी, निष्पाप थी और तप के प्रभाव से उत्तमगति को प्राप्त हुई थी; किन्तु इस संसार में मांसलोभी नरकगामी मूर्खजन उसकी पूजा के नाम पर भैंसा को मारकर प्रसाद के रूप में स्वयं मांस खाने लगे। इसीतरह कुप्रथायें चल जाती हैं और भेड़िया समान भोले प्राणी अंधानुकरण करके भयंकर पाप कर नरकगति के पात्र बन जाते हैं।

वस्तुतः मनुष्यों की कार्यसिद्धि तो अपने पूर्वकृत कर्म के अनुसार होती हैं; परन्तु देवताओं की प्रतिनिधि रूप मूर्ति की उपासना करनेवाला उस सिद्धि को मूर्ति द्वारा किया हुआ मानता है। इसकारण मूर्ति के समक्ष

बलि देने लगता है, जो कि सर्वथा गलत है।

यदि अपने पुण्य-प्रताप के बिना मात्र देवी-देवताओं द्वारा संसार में इष्ट वर दिया जा सकता होता तो किसी भी मनुष्य को इष्ट सामग्री से रहित नहीं होना चाहिए; क्योंकि प्रायः सभी लोग अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए अपने इष्ट देवों की उपासना निरन्तर करते देखे जाते हैं।

जो देवी-देवता अपनी मूर्ति और मन्दिर स्वयं नहीं बना सकते तथा उनकी सुरक्षा भी नहीं कर सकते और जिन्हें प्रतिदिन उपयोग में आनेवाली दीप, धूप, फल, फूल, नैवेद्य आदि के लिए भक्तों द्वारा पूजा की अपेक्षा-आशा करनी पड़ती हो, दूसरों का मुँह देखना पड़ता हो, वे दूसरों के लिए क्या वरदान देंगे ?

पूरी पृथ्वी कल्पित देवताओं से भरी हुई है, इसलिए विवेक से विचार कर यथार्थ देव का निर्णय करना चाहिए। लोक में देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, शास्त्रमूढ़ता - इन तीन मूढ़ताओं रूपी अन्धकार का समूह बहुत प्रबल है। अतः सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का निर्णय कर श्रद्धान करना परम-आवश्यक है।

मनुष्य की सम्यक् श्रद्धा ही सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की प्राप्ति का कारण है। अतः सर्वप्रथम देव-शास्त्र-गुरु एवं सात तत्त्व की तथा आत्मा के स्वरूप की सम्यक्श्रद्धा होना अनिवार्य है; क्योंकि व्रत, तप, शील, संयम आदि सम्यक्दर्शन की शुद्धि से ही निर्मल होते हैं; अतः सर्वप्रथम अन्य रागी-द्वेषी देवी-देवताओं से रहित वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु तथा सात तत्त्वों का यथार्थ निर्णय करना चाहिए।

एक वणिक अपने बहुमूल्य मणि बेचने के लिए राजा जरासंध से मिला। मणियों को देख राजा जरासंध ने पूछा - 'ये मणि तुम कहाँ से लाये ?'

वणिक ने कहा - "ये मणि उस द्वारिका से लाये हैं जहाँ अत्यन्त पराक्रमी राजा श्रीकृष्ण रहते हैं। यादवों के स्वामी समुद्रविजय और उनकी रानी शिवादेवी के जब नेमिकुमार उत्पन्न हुए थे तब पन्द्रह मास तक देवों ने रत्नवृष्टि की थी। उन्हीं रत्नों में से ये रत्न लाया हूँ।"

वणिक तथा अपने मंत्रियों से यादवों की प्रशंसा और महिमा सुनकर जरासंध को वह प्रशंसा बर्दाश्त

नहीं हुई। अतः उसे क्रोध आ गया और यादवों से सन्धि करने के वह विरुद्ध हो गया और मंत्रियों से पूछने लगा - “अभी तक ये यादव उपेक्षित कैसे रह गये ? इन पर आक्रमण क्यों नहीं किया ? गुप्तचर और मंत्री ही तो राजा के नेत्र होते हैं; फिर सामने रहकर आप लोगों ने हमें यादवों की शक्ति और उनसे युद्ध न करने के कारणों से अनजान क्यों रखा ? यदि मैं अपने ऐश्वर्य में मत्त रहने के कारण उन्हें नहीं देख पाया तो आप लोगों से वे अदृष्ट कैसे रह गये ?” जरासंध ने आगे कहा -

“यदि शत्रु उत्पन्न होते ही नष्ट नहीं कर दिये जाते तो कुपित बीमारी की भांति दुःखद हो जाते हैं, जिनका परिणाम अच्छा नहीं होता। ये दुष्ट यादव मेरे जमाई कंस और भाई अपराजित को मारकर द्वारिका में निर्भयता से कैसे रह रहे हैं ? तीव्र अपराध करनेवाले वे लोग साम-दाम के स्थान नहीं, बल्कि भेद और दण्ड के ही पात्र हैं। इन्हें इसी कोटि में रखिये।”

मंत्रियों ने विनम्रता से जरासंध के क्रोध को शान्त करते हुए कहा - “हे नाथ ! हम लोग शत्रुओं की द्वारिका में होनेवाली महावृद्धि को जानते हुए भी समय व्यतीत करते रहे; क्योंकि यादवों के वंश में उत्पन्न नेमिकुमार तीर्थंकर जो जन्म से अतुल्यबल के धनी हैं। श्रीकृष्ण और बलदेव भी इतने बलवान हैं कि मनुष्य तो क्या ? देवों द्वारा भी उन्हें जीतना कठिन है ?”

मंत्रियों ने आगे कहा - “स्वर्गावतार के समय जो रत्नों की वृष्टि से पूजित हुआ था, जन्म समय इन्द्रों ने सुमेरु पर्वत पर जिसका अभिषेक किया और देव जिसकी सदा रक्षा करते हैं, वह नेमिकुमार युद्ध में आपके द्वारा कैसे जीता जा सकता है ? पृथ्वी तल के समस्त राजा मिलकर भी उसे नहीं जीत सकते; क्योंकि उसके देह में अतुल्यबल है। शिशुपाल वध से लेकर अबतक जितने भी युद्ध हुए, क्या आपने उनमें भी कृष्ण और बलदेव की लोकोत्तर सामर्थ्य एवं यादवों की विजय नहीं देखी। सोते हुए सिंह को जगाया न जाय, इसी में दोनों पक्षों का भला है। ऐसी व्यवस्था ही प्रशंसनीय है, जिसमें अपना और दूसरों का समय सुख से व्यतीत हो। हाँ ! यदि अपने शान्त रहने पर भी वे क्रोध करते हैं अथवा ललकारते हैं तो प्रतिकार करने के लिए हम अवश्य लड़ेंगे।”

मंत्रियों के इतना समझाने पर भी जरासंध ने उनकी बात पर कुछ ध्यान नहीं दिया। यह सच ही है कि 'विनाश काले विपरीत बुद्धि' जब बुरे दिन आते हैं तो मनुष्य अपनी हठ नहीं छोड़ता।

राजा जरासंध ने मंत्रियों को अनसुना कर उनके परामर्श की उपेक्षा करके अजितसेन नामक दूत को द्वारिका भेज दिया। साथ ही अपनी चतुरंग सेना के सेनाध्यक्ष एवं सभी अधीनस्थ राजाओं को युद्ध का आमंत्रण भेज दिया। समाचार पाते ही कर्ण, दुर्योधन आदि राजा उनके पास आ गये। चलते समय अपशकुन होने पर भी वे रुके नहीं।

उधर दूत अजितसेन द्वारिका जा पहुँचा और जरासंध का संदेश सुनाते हुए बोला - "जरासंध का कहना है कि तुम यादव लोग आकर शीघ्र ही मुझे नमस्कार करो। यदि तुम दुर्ग का संबल पाकर नमस्कार किए बिना रहोगे तो मैं तुम्हारी दुर्दशा कर दूँगा।" दूत के वचन सुनकर श्रीकृष्ण आदि समस्त राजा कुपित हो उठे और बोले - तुम्हारा राजा सेना के साथ आ रहा है; आने दो, हम युद्ध से उसका स्वागत-सत्कार करेंगे। हम लोग संग्राम के लिए उत्कंठित हैं - इसप्रकार कहकर यादवों ने दूत को विदा किया।

मंत्र करने में निपुण विमल, अमल और शार्दूल मंत्रियों ने सलाह कर राजा समुद्रविजय से निवेदन किया कि हे राजन ! साम की नीति स्वपक्ष एवं परपक्ष - दोनों को शान्ति का कारण रहेगा, इसलिए हम लोग जरासंध के साथ साम का ही प्रयोग करें। सब स्वजनों का परिवार ही ये है। जिसप्रकार हमारी सेना में अमोघ बाणों की वर्षा करने वाले योद्धा हैं, उसीप्रकार जरासंध की सेना भी प्रसिद्ध है। युद्ध में यदि एक भी स्वजन की मृत्यु हो गई तो दोनों पक्षों के लिए समान दुःखद होगी। अतः साम के लिए जरासंध के पास दूत भेजा जाय। हाँ, यदि वह साम से शान्त नहीं होता तो हम उसके अनुरूप कार्य करेंगे ही।

मंत्रियों के इस परामर्श को स्वीकार कर समुद्रविजय ने बहुत ही चतुर शूरवीर और नीति निपुण लोहजंघ कुमार को दूत के रूप में भेजा। लोहजंघ सेना सहित जरासंध के साथ संधि सन्देश लेकर गया।

पूर्वमालव देश में पहुँचकर उसने जहाँ सेना का पड़ाव डाला, वहाँ उसे विचरण करते हुए तिलकानन्द और नन्दन दो मुनिराज मिले। वे दोनों मुनिराज मासोपवासी थे और उनकी प्रतिज्ञा यह थी कि वन में आहार

मिलेगा तो ही आहार लेंगे, अन्यथा नहीं।

उन्हें देख कुमार लोहजंघ को उनके प्रति भक्ति जागृत हुई और उसने उन्हें विधिवत् आहारदान दिया। फलस्वरूप पंच आश्चर्य हुए। तभी तो वह स्थान देवावतार नामक तीर्थ बन गया।

जरासंध यद्यपि संधि के पक्ष में नहीं था तथापि लोहजंघ के मधुर संबोधन से वह बहुत प्रसन्न हुआ और उसने छह माह तक के लिए संधि स्वीकार कर ली। लोहजंघ वापिस द्वारिका लौट आया और सब सुख से रहने लगे। एक वर्ष शान्ति से व्यतीत हुआ। एक वर्ष बाद दोनों पक्ष पूरी तैयारी से युद्ध के मैदान 'कुरुक्षेत्र' में आ पहुँचे।

अपने-अपने अधीनस्थ सैकड़ों राजाओं की सेनाओं के साथ दोनों पक्ष की विशाल सेनायें जब आमने-सामने युद्ध के लिए आ गईं तो कुन्ती बहुत घबराई। वह शीघ्र ही कर्ण के पास गई। वहाँ जाने को युधिष्ठिर आदि ने उसे अनुमति दे दी। कन्या (कुमारी) अवस्था में उत्पन्न हुए कर्ण पर उसका अपार स्नेह था, इसकारण वह वहाँ जाने के लिए विवश हो रही थी। वहाँ पहुँचकर उसने कर्ण को कंठ से लगाकर रोते-रोते जो जैसी घटना घटी थी, अपने माता-पुत्र का सम्बन्ध बताया उसने यह भी बताया कि मैंने तुम्हें उत्पन्न होते ही लोक-लाज के भय से कम्बल में लपेटकर छोड़ दिया था। कर्ण कम्बल के वृतान्त को जानता था और यह भी जानता था कि मेरा जन्म कुरुवंश में हुआ है। कुन्ती के कहने पर अब उसे निश्चय हो गया कि मैं कुन्ती और पाण्डु का ही पुत्र हूँ।

कर्ण को यह सब ज्ञात होने पर उसने अपनी सर्व पत्नियों के साथ कुन्ती की पूजा की। आदर-सत्कार किया। स्नेह प्रगट करते हुए कुन्ती ने कर्ण से अपने भाई-बन्धुओं से मिलने का आग्रह किया और कहा - कि वे सब तुमसे मिलने को उत्कंठित हैं। इतना ही नहीं युधिष्ठिर तेरे ऊपर छत्र लगायेगा, भीम चंवर ढोरेगा, धनञ्जय मंत्री होगा, सहदेव-नकुल तेरे द्वारपाल होंगे।

इसप्रकार माता के वचनों को सुनकर यद्यपि कर्ण भाइयों के स्नेह को विवश हो गया, परन्तु जरासंध

ने उसके ऊपर जो उपकार किये थे, उन्हें ध्यान में रखकर बोला - “आपका कहना सब सच है, परन्तु अवसर पर स्वामी का कार्य छोड़कर भाइयों का मोह अनुचित है। इस समय तो मैं स्वामी का कार्य करता हुआ इतना कर सकता हूँ कि युद्ध में भाइयों को छोड़ अन्य योद्धाओं के साथ युद्ध करूँ। युद्ध समाप्त होने पर यदि हम जीवित रहेंगे तो भाइयों का समागम अवश्य होगा। तू जा और भाइयों को इतनी खबर दे दे - ऐसा कहकर कर्ण ने पुनः माँ के चरण स्पर्श कर विदा किया। माँ कुन्ती ने आकर कर्ण के कहे अनुसार सब बातें कृष्ण आदि को बता दीं।

जरासंध के सेनापतियों ने युद्ध के लिए सेना की बहुत बड़े चक्रव्यूह की रचना की। जिसमें गांधार और सिन्धदेश की सेना, दुर्योधन सहित सौ कौरव और मध्यप्रदेश के राजा भी सम्मिलित थे।

इधर वसुदेव को जब पता चला कि जरासंध की सेना में बृहद चक्रव्यूह की रचना की गई है, तब उसने भी चक्रव्यूह को भेदने के लिए उससे भी प्रबल गरुडव्यूह की रचना कर डाली।

गणधरदेव कहते हैं कि कोई कितनी भी तैयारी करे, कितनी भी चक्रव्यूहों की रचना में अपनी चतुराई दिखाये, किन्तु जिसने धर्माचरण द्वारा विशेष पुण्यार्जन किया होगा - वही विजयी होगा। युद्ध में विजय तो एक पक्ष की ही निश्चित है, दूसरा पक्ष, जिसके पल्ले पुण्य कम होगा, उसे तो हारना ही है, अतः चक्रव्यूह के साथ अपने परिणामों के दुष्चक्र को भी सुधारना चाहिए; क्योंकि लौकिक सफलता प्राप्त करने में पराक्रम के साथ पुण्य का भी महान योगदान होता है।

गरुडव्यूह संरचना के सफल संचालन के लिए - समुद्रविजय ने वसुदेव के पुत्र अनावृष्टि को अपनी सेना का सेनापति बनाया और दूसरे पक्ष से जरासन्ध ने चक्रव्यूह रचना के संचालन हेतु हिरण्यनाभ को सेनापति बनाया। दोनों ओर से तैयार चक्रव्यूह और गरुडव्यूह की रचना में स्थित सेना युद्ध के लिए तैयार तो थी ही। युद्ध प्रारंभ हुआ।

शत्रुसेना को प्रबल और अपनी सेना को पीछे हटती देख समुद्रविजय, वसुदेव, नेमिनाथ, अर्जुन, कृष्ण

और अनावृष्टि स्वयं युद्ध के लिए आगे आये। पूरे दिन दोनों पक्षों में घमासान युद्ध होता रहा। दोनों पक्षों के बहादुर योद्धाओं ने सम्पूर्ण समर्पण के साथ अपने अस्त्रों-शस्त्रों के प्रहारों से वीरता का परिचय दिया। अन्ततोगत्वा सूर्यास्त होते-होते जरासंध की सेना हारकर निराश एवं विषादयुक्त हो अपने निवास पर चली गई और यादवों की सेना शत्रु को हराकर अत्यधिक हर्षित होती हुई अपने निवास पर आ गई।

दूसरे दिन मध्याह्न में जरासन्ध और श्रीकृष्ण युद्ध के लिए तैयार हो अपनी-अपनी सेनाओं के साथ बाहर निकले। जरासन्ध ने सोचा - “सेना पर प्रहार करने के बजाय श्रीकृष्ण, नेमिकुमार, युधिष्ठिर, अर्जुन, भीमसेन जैसे महावीर योद्धाओं को ही अपना निशाना बनाया जाये, सेना का संहार करने से क्या लाभ?” यह सोचकर जरासन्ध ने अपने सारथी को आदेश दिया कि - ‘तू मेरा रथ यादवों की ओर ले चल!

सारथी ने रथ आगे बढ़ाया और जरासन्ध लगातार बाणों की वर्षा से यादवों को आच्छादित करने लगा। जरासन्ध के सैकड़ों पुत्र भी यादवों के ही साथ यथासंभव रण करने लगे। युद्ध अपनी पराकाष्ठा पर था। जरासन्ध सीधे श्रीकृष्ण के साथ युद्ध करने लगा। दोनों के बीच भयंकर युद्ध होने लगा। जरासन्ध जो भी बाण छोड़ता श्रीकृष्ण उसका काट कर देते। जैसे जरासंध ने आग्नेयबाण छोड़ा तो श्रीकृष्ण ने वर्षाबाण से उसे बुझा दिया।

इसतरह जब जरासन्ध के सब प्रयास व्यर्थ हो गये तो उसने अपना धनुष तो पृथ्वी पर फेंक दिया और हजार यक्षों द्वारा रक्षित चक्ररत्न का चिन्तवन किया। चिन्तवन करते ही सूर्य के समान दैदीप्यमान चक्ररत्न हाथ में आ गया। जरासन्ध ने वह चक्ररत्न श्रीकृष्ण के ऊपर फेंका। उसे फीका करने के लिए श्रीकृष्ण पक्ष के सभी योद्धाओं ने अपने-अपने चक्र छोड़े। श्रीकृष्ण शक्ति और गदा लेकर, बलदेव हल व मूसल लेकर, भीम गदा लेकर, अर्जुन अस्त्र लेकर, अनावृष्टि परिध लेकर, और युधिष्ठिर नागशक्ति लेकर आगे आये। समुद्रविजय भी महाअस्त्र छोड़ने लगे; किन्तु नेमिकुमार श्रीकृष्ण के साथ उस चक्ररत्न के सामने खड़े रहे। वह चक्ररत्न धीरे-धीरे मित्रवत् आया और भगवान नेमिनाथ एवं श्रीकृष्ण की प्रदक्षिणा देकर श्रीकृष्ण के दाहिने हाथ में आ गया। उसीसमय आकाश में दुन्दुभि बजने लगी, पुष्पवृष्टि होने लगी और ‘यह नौवा

नारायण प्रगट हुआ' इसप्रकार देव कहने लगे।

ह
रि
वं
श
क
था

संग्राम में श्रीकृष्ण को चक्र हाथ में लिए देख जरासन्ध इसप्रकार विचार करने लगा कि “हाय! यह चक्र चलाना भी व्यर्थ हो गया। आज तीन खण्ड के अधिपति शक्तिशाली - अर्द्धचक्री राजा जरासन्ध का पौरुष भी खण्डित हो गया। जब तक दैव का बल प्रबल है, तभी तक चतुरंग सेना, (हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल सेना) काल, पुत्र, मित्र एवं पुरुषार्थ कार्यकारी होते हैं। “मैं बलवान होने का मिथ्या अहंकार कर रहा था। यदि ऐसा नहीं होता तो बड़े-बड़े लोगों से अलंघनीय इन छोटे लोगों के द्वारा क्यों हार जाता? तथा आज जो मेरे द्वारा भी अबंधनीय हो गया, इतना प्रबल हो गया, वह बाल्यकाल में गोकुल में क्लेश क्यों पाता? इसलिए विधि की विडम्बना को धिक्कार है। जो वैश्या की तरह अन्य-अन्य पुरुषों के पास जाने को सदा तैयार रहती हैं - ऐसी लक्ष्मी को भी धिक्कार है।” - ऐसा सोचते-विचारते जरासंध को यद्यपि यह निश्चय हो चुका था कि हमारा मरण काल आ चुका है, तथापि वह प्रकृति से निर्भय होने के कारण श्रीकृष्ण से इसप्रकार बोला - “अरे गोप ! तू चक्र चला!”

जरासन्ध के इसप्रकार कहने पर स्वभाव से विनम्र श्रीकृष्ण ने कहा - “मैं अर्द्धचक्रवर्ती उत्पन्न हो चुका हूँ, इसलिए आप आज से मेरे शासन में रहिए। यद्यपि तुम हमारा अपकार कर रहे हो; तथापि हम नमस्कार मात्र से प्रसन्न हो तुम्हें क्षमा किए देते हैं।”

अहंकार से भरे जरासन्ध ने जोर देकर कहा - “मैं इस चक्र को ‘गाड़ी के पहिए’ से अधिक नहीं समझता हूँ। तूने कभी बड़प्पन देखा नहीं, इसकारण थोड़ा सा बड़प्पन पाकर अहंकार कर रहा है। देख ! मैं अभी तुझे और तेरे सारे सहायकों को समुद्र में फेंकता हूँ।”

जरासन्ध के यह कठोर वचन सुनकर श्रीकृष्ण ने क्रोधित हो उस पर चक्र चला दिया, इससे जरासन्ध क्षणभर में मृत्यु को प्राप्त हो गया।

जरासन्ध को मारकर चक्र वापिस श्रीकृष्ण के हाथ में आ गया। श्रीकृष्ण ने यादवों के मन को हरण करनेवाला पाँचजन्य शंख फूँका। नेमिनाथ और सेनापति अर्जुन ने भी अपने-अपने शंख बजाये। चारों ओर

ज
रा
सं
घ
औ
र
या
द
व
यु
द्ध

अभय घोषणायें प्रगट की गईं, जिससे शत्रुपक्ष की सेनायें निर्भय होकर श्रीकृष्ण की आज्ञाकारणी हो गईं।

दुर्योधन, द्रोण तथा दुःशासन आदि ने संसार से विरक्त हो मुनिराज विदुर के समीप जाकर जिनदीक्षा ले ली। राजा कर्ण ने भी सुदर्शन वन में दमवर मुनिराज के समीप मोक्ष देनेवाली दीक्षा ग्रहण कर ली।

सूर्य अस्त हो गया था और संध्या की लालिमा दसों दिशाओं में फैल गई थी। उससे ऐसा लगने लगा मानो संग्राम में श्रीकृष्ण द्वारा मारे गये जरासंध को देखकर सहृदय सूर्य पहले तो शोक के कारण रोया, इसकारण उसका मुख लाल हो गया, पश्चात् जलाञ्जलि देने को उसने समुद्र में डुबकी लगाई है।

आचार्य कहते हैं कि “ये संसारी प्राणी शुभ कर्म का उदय होने पर बड़े-से-बड़े पुरुषों पर आक्रमण कर विजयश्री प्राप्त करते हैं।” और शुभकर्म का उदय नष्ट होने पर विपत्तियाँ भी भोगते हैं। अतः हे भव्य! मोक्ष प्राप्ति में कारणभूत रत्नत्रय की आराधना करो।”

तीसरे दिन, जब सूर्य उदय हुआ तब यादवों की सेना में सुभटों के घाव अच्छे किए गये एवं मृतकों का दाह संस्कार किया गया।

एक दिन राजा समुद्रविजय आदि सभी सभामंडप में श्रीकृष्ण के साथ बैठे वसुदेव की प्रतीक्षा कर रहे थे। वे कह रहे थे - “वसुदेव पुत्र और पोतों के साथ अब तक नहीं लौटे, उनका कोई समाचार भी नहीं है। उनके हृदय में गाय-बछड़े की भाँति स्नेह उमड़ रहा था। अचानक उसीसमय आकाश में चमकती हुई अपने तेज से दशोंदिशाओं को प्रकाशित करने वाली अनेक विद्याधरियाँ वेगवती नागकुमारी के साथ वहाँ आ पहुँची और कहने लगीं - “आप लोगों को गुरुजनों ने जो आशीर्वाद दिये थे, वे आज सफल हो गये हैं। इधर पुत्र श्रीकृष्ण ने जरासन्ध को नष्ट किया है और उधर पिता वसुदेव ने विधाधरों को नष्ट कर दिया है। वसुदेव सकुटुम्ब सकुशल हैं।

विद्याधरियों से समाचार सुनकर सब राजाओं ने हर्षित होकर पूछा - वसुदेव ने विद्याधरों को किसप्रकार जीता ?”

नागकुमारी देवी ने कहा - “वसुदेव ने विजयार्द्ध पर्वत पर जाकर अपने ससुर एवं सालों से मिलकर जरासंध की सहायता के लिए आनेवाले विद्याधरों को रोका। रोकने से जरासंध की सहायता का विचार छोड़ वे स्वयं युद्ध में संलग्न हो गये और उनमें भयंकर युद्ध हुआ। इसी बीच आकाशवाणी हुई कि वसुदेव का पुत्र श्रीकृष्ण नौवाँ नारायण हुआ है और उसने अपने सबसे प्रबल शत्रु जरासंध को उसी के चक्र से मार डाला है। यह कहकर देवों ने आकाश से चाँदनी के समान नाना रत्नमयी वृष्टि वसुदेव के रथ पर करनी आरंभ कर दी। देवों की उक्त वाणी सुनकर शत्रु विद्याधर भयभीत हो गये और जहाँ-तहाँ से एकत्रित हो वसुदेव की शरण में आने लगे। उन्होंने वसुदेव के पास आकर उनके पुत्रों को प्रद्युम्नकुमार और शम्बुकुमार को अपनी अनेक कन्यायें प्रदान कीं। हम लोग वसुदेव की प्रेरणा पाकर यह कुशल समाचार सुनाने आपके पास आयी हैं।

नारायण की भक्ति से प्रेरित होकर अनेक विद्याधर राजा नानाप्रकार के उपहार लेकर वसुदेव के साथ आ रहे हैं।

नागकुमारी देवी श्रीकृष्ण को यह समाचार सुना ही रही थी कि आकाश से भेंट लेकर आनेवाले विद्याधरों ने विमानों से उतरकर बलदेव और श्रीकृष्ण को नमस्कार किया तथा नानाप्रकार के उपहार अर्पित किए। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण, बलदेव आदि ने अपने पिता वसुदेव को नमस्कार किया। वसुदेव ने भी दोनों का आलिङ्गन किया और सबने अपना जन्म सफल माना।

तत्पश्चात् बलदेव और नारायण ने समस्त सेना के साथ पश्चिम की ओर प्रस्थान किया। जरासंध के मारे जाने पर यादवों ने जिस स्थान पर आनन्द-नृत्य किया था वह स्थान आनन्दपुर के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

तत्पश्चात् सब रत्नों से सहित नारायण ने चक्ररत्न की साफ-सफाई कर देव-असुर, मनुष्यों सहित दक्षिण भारत को जीता। लगातार आठ वर्षों तक समस्त राजाओं को जीतकर श्रीकृष्ण कोटिकशिला की ओर गये।

ज्ञातव्य है कि उस उत्कृष्ट शिला पर से करोड़ों मुनिराज सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए हैं। इसीकारण वह पृथ्वी पर कोटिकशिला के नाम से प्रसिद्ध है।

श्रीकृष्ण ने सर्वप्रथम उस पवित्र शिला पर पूजा की और उसके बाद अपनी दोनों भुजाओं से उसे चार अंगुल ऊपर उठाकर अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया। वह शिला एक योजन ऊँची, चार योजन लम्बी और एक योजन चौड़ी है। अर्द्ध भरतक्षेत्र में स्थित एवं देवों द्वारा सुरक्षित है।

पहले त्रिपृष्ठ नारायण ने इस शिला को जहाँ तक भुजाएँ ऊपर पहुँचती हैं, वहाँ तक उठाया था। दूसरे द्विपृष्ठ ने मस्तक तक, तीसरे स्वयंभू ने काण्ड तक, चौथे पुरुषोत्तम ने वक्षस्थल तक, पाँचवें नृसिंह ने हृदय तक, छठे पुण्डरीक ने कमर तक, सातवें दत्तक ने जाँघों तक, आठवें लक्ष्मण ने घुटनों तक और नवें नारायण श्रीकृष्ण ने उसे चार अंगुल तक ऊपर उठाया था; क्योंकि इस हुण्डावसर्पिणी कालचक्र में समय बीतने के साथ-साथ प्रधान पुरुषों की आदि से अन्त तक लेकर सभी की शक्ति घटती आई है।

शिला उठाने के बल से समस्त सेना ने जान लिया कि श्रीकृष्ण महान शारीरिक बलसहित हैं। चक्र-रत्न को धारण करनेवाले श्रीकृष्ण बान्धवजनों के साथ द्वारिका की ओर वापस आये। तत्पश्चात् वृद्धजनों द्वारा जिनका नानाप्रकार के आशीर्वादों से अभिनन्दन किया गया - ऐसे श्रीकृष्ण नारायण ने द्वारिका में प्रवेश किया।

द्वारिका में वसुदेव एवं श्रीकृष्ण का विश्वविजय के उपलक्ष्य में खूब स्वागत कर अभिषेक किया गया। तत्पश्चात् अर्द्धचक्री श्रीकृष्ण ने जरासंध के द्वितीय पुत्र सहदेव को राजगृह का राजा बनाया और उसे मगधदेश का एक चौथाई राज्य दिया। उग्रसेन के पुत्र को मथुरापुरी दी, महानेमि के लिए शौर्यपुर दिया। पाण्डवों को उनका प्रिय हस्तिनापुर दिया तथा राजा रुधिर के पोते रुक्मनाम के लिए कौशल देश दिया।

इसप्रकार श्रीकृष्ण ने आये हुए समस्त भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओं को यथायोग्य स्थानों पर स्थापित कर वहाँ का राजा बनाया। तत्पश्चात् आगंतुक मेहमान प्रसन्नचित्त हो यथास्थान चले गये। यादव देवों के समान द्वारिका में ही क्रीड़ा करने लगे।

एक दिन युवा नेमिकुमार कुबेर द्वारा भेजे हुए वस्त्र, आभूषण, माला और विलेपन से सुशोभित हो प्रसिद्ध राजाओं से घिरे बलदेव तथा नारायण आदि यादवों से भरी हुई कुसुमचित्रा सभा में गये। राजाओं ने अपने-अपने आसन छोड़ सम्मुख जाकर उन्हें नमस्कार किया। श्रीकृष्ण ने भी आगे आकर उनकी अगवानी की और दोनों भाई दो इन्द्रों के समान या दो सिंहों के समान सिंहासनों पर विराजमान हो गये।

वहाँ थोड़ी देर में ही यह चर्चा छिड़ गई कि सबसे अधिक बलवान कौन है ??

किसी ने कहा - अर्जुन बलवान है, किसी ने युधिष्ठिर के बल की प्रशंसा की। कोई पराक्रमी भीम को तो कोई उद्धत सहदेव व नकुल को बलवान ठहराने लगे। किसी ने कहा - बलदेव की बराबरी कोई नहीं कर सकता तो किसी ने दुर्धर गोवर्द्धन पर्वत उठाने वाले श्रीकृष्ण को सबसे अधिक बलवान बताया।

इसप्रकार श्रीकृष्ण की सभा में राजाओं के भिन्न-भिन्न विचार सुनकर अतुल्यबल के धनी नेमिकुमार की ओर देखते हुए बलदेव ने कहा - “तीनों जगत में नेमिकुमार के समान दूसरा कोई बलवान नहीं है। ये अपनी हथेली से पृथ्वी तल को उठा सकते हैं, गिरनार को कम्पायनमान कर सकते हैं। ये तीर्थकर हैं, इनसे अधिक बलवान और कौन हो सकता है?”

इसप्रकार बलदेव के वचन सुन श्रीकृष्ण को मन में विश्वास नहीं हुआ, उन्होंने कहा - “हे तीर्थकर नेमि ! यदि बलदेव के कहे अनुसार आपके शरीर में ऐसा उत्कृष्ट बल है तो बाहु-युद्ध से ही उसकी परीक्षा क्यों न कर ली जाये?”

नेमिकुमार ने कुछ नये अंदाज में श्रीकृष्ण से कहा - “मुझे इस विषय में मल्ल-युद्ध की आवश्यकता

प्रतीति नहीं होती। हे अग्रज ! यदि आपको मेरे बल की परीक्षा करनी ही है तो मेरे इस पृथ्वी पर जमे पैर को ही हिला दीजिए।”

श्रीकृष्ण तत्काल जरूरत से ज्यादा आत्मविश्वास में आकर कमर कसकर भुजबल से नेमिकुमार को जीतने की इच्छा से उठ खड़े हुए और उनका पैर हिलाने का प्रयत्न करने लगे; किन्तु पैर हिलाना तो दूर, पैर की एक उंगली भी नहीं हिला पाये। शरीर पसीना-पसीना हो गया, लम्बी-लम्बी सांसे निकलने लगीं। वे हाँफने लगे। अन्त में उन्होंने स्वीकार कर लिया कि नेमिनाथ का ही बल लोकोत्तर एवं आश्चर्यकारी है।

उसीसमय इन्द्र का आसन कम्पायमान हो गया और उसने तत्काल देवों के साथ आकर अतुल्यबल के धारक श्री तीर्थकर नेमिकुमार की स्तुति की और अपने स्थान चला गया।

श्रीकृष्ण भी अपने राज्य के विषय में शंकित होते हुए अपने महल में चले गये। श्रीकृष्ण के मन में यह शंका घर कर गई कि नेमिकुमार के बल का कोई पार नहीं है, अतः इनके रहते हुए हमारा राज्य शासन स्थिर एवं निःशल्य रह सकेगा या नहीं ?

उसीसमय से श्रीकृष्ण बाहरी व्यवहार में तो उत्तम अमूल्य गुणों से युक्त तीर्थकर के जीव नेमिकुमार की आदरभाव से प्रतिदिन सेवा-सुश्रुषा करते हुए प्रेम प्रदर्शित करने लगे; पर मन में उस शल्य के निवारण का उपाय भी सोचने लगे, एतदर्थ उन्होंने अपनी पत्नियों को नेमिकुमार के साथ वसन्तोत्सव मनाने और उसके माध्यम से उनके विरागी मन में और अधिक वैराग्य उत्पन्न करने तथा उन्हें संसार के स्वार्थीपन का आभास कराने की ओर प्रेरित किया।

मनुष्य की मनोवृत्ति को हरण करनेवाली श्रीकृष्ण की पत्नियाँ पति की आज्ञा पाकर वृक्षों और लताओं से युक्त रमणीय वनों में कुमार नेमि के साथ ऐसा अनुचित व्यवहार करने लगीं, ताकि संसार से उनका मन उचट जाये।

यद्यपि कुमार नेमि स्वभाव से ही रागरूपी पराग से परान्मुख थे, तथापि श्रीकृष्ण की स्त्रियों के अनुरोध से वे उत्साह बिना बे-मन से जलाशय में जलक्रीड़ा करने लगे।

उन्हें अन्तरंग से इसकी भी रुचि एवं उत्साह नहीं था; परन्तु वे किसी के सामने स्वयं को कमजोर सिद्ध नहीं होने देना चाहते थे; अतः न्याय-नीति की मर्यादा में रहकर जितनी जो क्रीड़ा और मनोरंजन भाभियों के साथ उचित था, उतना उनके आग्रह के कारण निर्वाह किया।

घर जाने पर श्रीकृष्ण को नेमिकुमार के सरल व्यवहार से ऐसा भ्रम हो गया कि अब नेमिकुमार शादी कराने को मना नहीं करेंगे। उन्होंने हर्षित होकर शीघ्र ही नेमिकुमार के लिए विधिपूर्वक भोजवंशियों की राजकुमारी राजमती की याचना की, उसके पाणिग्रहण संस्कार के लिए बन्धुजनों के पास खबर भेजी और रानियों सहित समस्त राजाओं को सम्मानपूर्वक बुलाया। श्रावण मास में शादी तय हो गई। समय पर शादी महोत्सव प्रारंभ हुआ, बारात ने प्रस्थान किया, जिसमें ५६ कोटि बाराती आये थे।

‘५६ कोटि’ सुनकर चौंकिए नहीं, यहाँ कोटि का अर्थ करोड़ नहीं, बल्कि ५६ जाति या ५६ प्रकार के लोग थे - ऐसा भी इसका अर्थ हो सकता है। तात्पर्य यह है कि उनकी बारात में सभी जातियों के बहुतायत में लोग सम्मिलित हुए थे। रिम-झिम बरसात, सुहावना मौसम, हल्की सी मेघों की गर्जना आदि ने तो गर्मी को शान्त कर ही दिया था। साथ ही नेमिकुमार के गंभीर व्यक्तित्व ने भी शान्त रस का वातावरण निर्मित कर दिया था।

ऐसी वर्षा ऋतु में एक दिन युवा नेमिकुमार, ध्वजा-पताकाओं से सुशोभित चार घोड़ों से जुते रथ पर सवार हो अनेक राजकुमारों के साथ राजमार्ग में दर्शकों पर दयाभाव रखते हुए धीरे-धीरे चल रहे थे। रास्ते में उन्होंने तृण-भक्षी पशुओं को राजमार्ग के दोनों ओर दीन-हीन दशा में आंसू बहाते और रंभाते देखा। उन्हें इस दीन-हीन हालत में खड़े देखकर नेमि ने पूछा - इनके अवरोध का क्या कारण है ? इन्हें क्यों रोक रखा है ?

उत्तर मिला - हे नेमिकुमार ! ये आपकी बारात के कारण रोके गये हैं। यद्यपि नेमिकुमार अवधिज्ञान से सब यथार्थ स्थिति जान सकते थे, तथापि उन्होंने सहज ही पूछ लिया - उत्तर ठीक ही मिला था - जब

साधारण-सा कोई नेता आता है तो राजमार्ग के दोनों ओर बल्लियाँ बांध दी जाती हैं। उसीप्रकार जिससमय नेमिकुमार के बारात आगमन का समय गोधूलि का समय था। पशु जंगल से लौटकर आ रहे थे। अपने-अपने बछड़ों से मिलने को रंभा रहे थे। श्रवणमास प्रायः गायों की प्रसूति का समय होता है। अतः उनका रंभाना स्वाभाविक ही था। पशुओं के इस अवरोध और क्रन्दन को लेकर अनेक विचारकों ने अपनी-अपनी सोच के अनुसार अपने अलग-अलग विचार प्रस्तुत किये -

राजनैतिक विचारधारा वाले लोगों का ख्याल था कि “श्रीकृष्ण नेमिकुमार के अतुल्यबल से आतंकित हो गये थे और उन्हें सन्देह हो गया था कि इनके रहते हमारा राज्य निष्कण्टक नहीं रह सकता। अतः वे नेमिकुमार को अपने रास्ते से हटाना चाहते थे; परन्तु बहुत ही सम्मानपूर्वक और स्नेह के साथ। वे जानते थे कि नेमि वैराग्य प्रकृति के तो हैं ही; थोड़ा-सा कोई भी निमित्त मिलेगा तो वह निश्चित दीक्षा लेकर वनवासी हो जायेंगे। इसलिए श्रीकृष्ण ने यह उपाय सोचा होगा। निश्चित ही नेमि की विराग प्रकृति को देखकर उन्हें अपने रास्ते से हटाने के लिए विवाह और पशुओं का बन्धन आदि घटनाएँ श्रीकृष्ण की सुनियोजित योजना रही होगी।”

अन्य कोई धार्मिक व्यक्तियों का मत था कि जन्म से ही तीन ज्ञान के धनी, तद्भव मोक्षगामी तीर्थंकर नेमिनाथ जैसे अहिंसा का सन्देश देनेवाले के बाराती मांसाहारी हो ही नहीं सकते। अतः मांसाहार की बात सर्वथा अनुचित ही है, असत्य ही है, मिथ्या अफवाह है।

वस्तुतः बात यह थी कि - बारात का समय गोधूलि का समय था, अतः राजमार्ग पशुओं से अवरुद्ध न हो जाय, अन्यथा बारात का निकलना मुश्किल होगा। एतदर्थ व्यवस्थापकों द्वारा बांस-बल्लियाँ बांधकर राजमार्ग सुरक्षित किया गया था। इस कारण रास्ता अवरुद्ध होने से मार्ग के दोनों ओर पशु खड़े-खड़े रंभा रहे हैं।

इसप्रकार संसार के स्वार्थीपन का स्वरूप ख्याल में आते ही नेमिकुमार विवाह से विरक्त हो गये। उनके

वैराग्य में पशुओं का बन्धन कारण बना और नेमिकुमार ने अपना रथ मोड़ दिया। उन्होंने शादी नहीं की। यह ध्रुवसत्य है। सोचने लगे – “जिसतरह सैकड़ों नदियाँ भी समुद्र को सन्तुष्ट नहीं कर पाती; उसीतरह बाह्य विषयों से उत्पन्न सांसारिक सुखसाधन जीवों का दुःख दूर नहीं कर सकते हैं” – ऐसा विचार कर नेमिकुमार ने दीक्षा लेकर मुनि बनने का निश्चय कर लिया। उसी समय पंचम स्वर्ग से लौकान्तिक देव नेमिनाथ के वैराग्य की अनुमोदना करने आ पहुँचे उन्होंने निवेदन किया, इस समय भरतक्षेत्र में धर्मतीर्थ प्रवर्तन का समय है, अतः धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कीजिए। देव-देवेन्द्रों ने महोत्सवपूर्वक उनका जोरदार दीक्षाकल्याणक मनाया। सर्वप्रथम इन्द्रों ने स्तुति की। बाद में स्नान पीठ पर विराजमान कर देवों द्वारा लाए हुए क्षीरोदक से उनका अभिषेक किया गया एवं वस्त्राभूषणों से विभूषित किया। उत्तम सिंहासन पर विराजमान नेमिकुमार को घेरकर खड़े हुए कृष्ण, बलभद्र आदि अनेक राजा सुशोभित हो रहे थे। इन सबने उन्हें रागवश रोका; पर वे रुके नहीं। वे कुबेर द्वारा निर्मित पालकी की ओर आगे बढ़े और बैठ गये। पहले कुछ दूर पृथ्वी पर तो राजाओं ने पालकी उठाई, पश्चात् देवगण आकाशमार्ग से गिरनार पर्वत पर पालखी लेकर पहुँचे। वहाँ नेमिनाथ ने पालकी का त्यागकर शिलातल पर विराजमान होकर पंचमुष्टि केशलोच किया। उनके साथ गये एक हजार राजाओं ने भी जिनदीक्षा धारण की।

देवेन्द्रों द्वारा विधिवत् दीक्षा कल्याणक मनाने के पश्चात् मुनिराज नेमिकुमार की स्तुति की गई। स्तुति में देवताओं ने कहा – “हे मुनिवर! आप क्रोध और तृष्णा से रहित हैं, निष्काम हैं, निर्मान हैं। हे मुनि! आप मननशील हैं, आपको हम सब बारम्बार नमन करते हैं।”

जब मुनिराज आहार लेने के लिए द्वारिकापुरी में आये तब उत्तम तेज के धारक सेठ प्रवरदत्त ने उन्हें खीर का आहार देकर देवों द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त की।

राजमती ने भी नेमिकुमार की विराग परिणति का निमित्त पाकर अपनी परिणति को राग-रंग से हटाकर ज्ञान-ध्यान में लगाने का निश्चय कर लिया। वह सामान्य नारियों की तरह नेमिकुमार के दीक्षित हो जाने से उनके वियोग से दुःखी नहीं हुई। उन्होंने भी संसार, शरीर और भोगों की क्षणभंगुरता को जानकर तथा

संसार के स्वार्थ को जानकर वैराग्य धारण किया और आर्यिका के व्रत अंगीकार कर आत्मसाधना हेतु कठिन तप करने लगी।”

“ये स्त्रियाँ स्त्री पर्याय में तीनप्रकार की पराधीनता के कारण नाना दुःख उठाती हैं। बचपन में पिता के आधीन, युवावस्था में पति के आधीन और बुढ़ापे में पुत्र के आधीन रहती हैं और पराधीनता में स्वप्न में भी सुख नहीं है। कहा भी है – “पराधीन सपनेहु सुख नाहीं” यदि पति या पुत्र दुर्बल हुआ, बीमार हुआ, अल्प आयु हुआ, मूर्ख हुआ, दुष्ट हुआ तो अनन्त दुःख। यदि सौत हुई तो उसका दुःख, यदि स्वयं बंध्या हुई, मृत संतान हुई..... और न जाने कितने दुःख नारियों के होते हैं। अतः ऐसी दुःखद स्त्री पर्याय में न जाना हो, इस पर्याय से सदा के लिए मुक्त होना हो तो मायाचार, छलकपट का भाव और व्यवहार छोड़े तथा सम्यग्दर्शन की आराधना करें – यही राह राजमती चली।

हम देखते हैं कि तत्त्वज्ञान के बिना संसार में कोई सुखी नहीं है, अज्ञानी न तो समाधि से जी सकता है और न समाधि-मरण पूर्वक मर ही सकता है। अतः हमें आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत कतिपय प्रमुख सिद्धान्तों को समझना अति आवश्यक है।

भाग्य से अधिक और समय से पहले, किसी को कभी कुछ नहीं मिलता और दूसरा यह है कि न तो हम किसी के सुख-दुःख के दाता हैं, न भले-बुरे के कर्ता हैं और न कोई हमें भी सुख-दुःख दे सकता है, न हमारा भला-बुरा कर सकता है।

राजा सेवक पर कितना भी प्रसन्न क्यों न हो जाये; पर वह सेवक को उसके भाग्य से अधिक धन नहीं दे सकता। दिन-रात पानी क्यों न बरसे, फिर भी ढाक की टहनी में तीन से अधिक पत्ते नहीं निकलते।

- सुखी जीवन, पृष्ठ-

भगवान नेमिनाथ का दीक्षा कल्याणक एवं आत्मसाधना

दीक्षाकल्याणक मनाने के पश्चात् इन्द्र और देवगण तो यथास्थान चले गये और मुनिराज नेमिनाथ व्रत, समिति, गुप्तियों से सुशोभित हो परिषहों को जीतते हुए रत्नत्रय और तपरूपी लक्ष्मी से मुनिधर्म की साधना करने लगे। आर्त और रौद्र नामक अप्रशस्त ध्यान को छोड़कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान नामक प्रशस्त ध्यान करने लगे।

पीड़ा को आर्ति कहते हैं। आर्ति के समय जो ध्यान होता है, उसे आर्तध्यान कहते हैं। यह आर्तध्यान कृष्ण, नील व कापोत लेश्याओं के बल से उत्पन्न होता है। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से यह आर्तध्यान दो प्रकार का है। रोना, दुःखी होना आदि तथा दूसरों की लक्ष्मी देख ईर्ष्या करना, विषयों में आसक्त होना आदि बाह्य आर्तध्यान है।

अपना आर्तध्यान स्वयं वेदन से जाना जाता है और दूसरों का अनुमान से। आभ्यन्तर आर्तध्यान के चार भेद हैं। अभीष्ट वस्तु की उत्पत्ति न होने से चिन्ता करना, अनिष्ट के संयोग से दुःखी होना, चिन्तित रहना, इष्ट वस्तु का कभी वियोग न हो जाय - ऐसी चिन्ता करना अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान है।

पीड़ाचिन्तन ध्यान में अमनोज्ञ दुःख के बाह्य साधन चेतन और अचेतन के भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें मनुष्य आदि चेतन हैं और विष-शस्त्र आदि अचेतन साधन हैं।

अन्तरंग साधन भी शारीरिक व मानसिक भेद से दो प्रकार के हैं - वातव्याधियाँ वायु के प्रकोप से उत्पन्न उदरशूल, नेत्रशूल, दन्तशूल आदि नाना प्रकार की दुःसह बीमारियाँ शारीरिक साधन हैं। शोक, अरति, भय, उद्वेग विषाद आदि बेचैनी मानसिक दुःख के साधन हैं। सभी प्रकार के अमनोज्ञ-अनिष्ट विषयों

की उत्पत्ति न हो - इसप्रकार बार-बार चिन्ता करना। प्रथम प्रकार का पीड़ाचिन्तन आर्तध्यान है। यदि अनिष्ट विषय की उत्पत्ति हो जाय तो उसका अभाव किसप्रकार हो - इसका निरन्तर संकल्प-विकल्प करना दूसरा पीड़ाचिन्तन है।

ये आर्तध्यान तिर्यचगति का कारण हैं और प्रथम गुणस्थान से छठवें गुणस्थान तक पाया जाता है।

रौद्रध्यान :- क्रूर अभिप्राय वाले जीव को रुद्र कहते हैं। उसके जो ध्यान होता है, उसे रौद्रध्यान कहते हैं। यह हिंसा, मृषानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द के भेद से चार प्रकार का होता है। जिसको हिंसा आदि में आनन्द आता है, अभिरुचि होती है, वह हिंसा, मृषानन्द आदि रौद्रध्यान है। यह बाह्य व आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का होता है।

(१) क्रूर व्यवहार करना, गाली आदि अशिष्ट (अभद्र) वचन बोलना बाह्य रौद्रध्यान है।

(२) अपने आप में पाया जाने वाला हिंसा आदि कार्यों में संरम्भ, समारंभ एवं आरंभ रूप प्रवृत्ति आभ्यन्तर रौद्रध्यान है।

अपनी कल्पित युक्तियों से दूसरों को ठगना मृषानन्द रौद्रध्यान है। प्रमादपूर्वक दूसरों के धन को जबरदस्ती हरने का अभिप्राय रखना स्तेयानन्द रौद्रध्यान है। चेतन-अचेतन परिग्रह के रक्षा का अभिप्राय रखना, ये मेरे हैं, मैं इनका स्वामी हूँ, इसप्रकार निरन्तर चिन्तन करना परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान है। ये रौद्रध्यान तीव्र कृष्ण, नील, कापोत लेश्या के बल से पहले से पाँचवे गुणस्थान तक होता है। स्थूल रूप से इस ध्यान का फल नरकगति कहा है।

धर्मध्यान - बाह्य वस्तुओं और आध्यात्मिक भावों का जो यथार्थ स्वभाव है, वह धर्म कहलाता है। उस धर्म से सहित भाव धर्मध्यान है।

बाह्य धर्मध्यान - शास्त्रों के अर्थ की खोज करना, शीलव्रत का पालन करना, गुणों के समूह में अनुराग करना, शरीर को निश्चल रखना, व्रतों से युक्त होना - ये धर्मध्यान के बाह्य लक्षण हैं।

आभ्यन्तर धर्मध्यान - अपायविचय आदि के भेद से १० प्रकार का है। अपाय, उपाय, जीव, अजीव, विपाक, विराग, भव, संस्थान, आज्ञा और हेतु।

१. अपाय : त्याग का विचार। मन-वचन-काय की चंचल प्रवृत्ति का त्याग कैसे हो ? इसका विचार।

२. उपाय : पुण्यरूप योग प्रवृत्तियाँ किसप्रकार संभव हैं - ऐसा विचार करना।

३. जीव : अनादि-अनन्त, सादि-सान्त आदि जीव के स्वभाव का चिन्तन।

४. अजीव : अजीव द्रव्यों के स्वभाव का चिन्तन।

५. विपाक : कर्मों के फल का विचार करना।

६. विराग : शरीर अपवित्र है, भोग मधुर विषफल के समान मृत्यु के कारण हैं - इनसे विरक्त होने रूप चिन्तन।

७. भव : चतुर्गति भ्रमण रूप अवस्था भव है और यह भव दुःखमय है - ऐसा चिन्तन।

८. संस्थान : लोक के आकार का विचार करना।

९. आज्ञा : इन्द्रियों से अगोचर बंध-मोक्षादि में भगवान की आज्ञानुसार चिन्तन करना।

१०. हेतु : स्याद्वाद की प्रक्रिया का आश्रय लेकर समीचीन मार्ग का चिन्तन।

यह धर्मध्यान चौथे से सातवें गुणस्थान तक होता है, स्वर्ग का साक्षात् एवं मोक्ष का परम्परा कारण है।

शुक्लध्यान - जो शौच (पवित्रता) के सम्बन्ध में होता है, वह शुक्लध्यान है। यह शुक्ल एवं परमशुक्ल के भेद से दो प्रकार का है। शुक्लध्यान के चार भेदों में प्रारंभ के दो शुक्ल एवं अन्त के दो परमशुक्ल ध्यान हैं। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से शुक्लध्यान के भी दो भेद हैं।

अब शुक्लध्यान के चार भेदों का अर्थ बताते हैं -

१. पृथक्त्ववितर्कविचार : इस ध्यान के नाम में तीन शब्द आये हैं - पृथक्त्व - इसका अर्थ नानात्व होता है। वितर्क - इसका अर्थ निर्दोष श्रुतज्ञान (द्वादशांग) और विचार का अर्थ है - अर्थ, व्यंजन (शब्द) और योगों का संक्रमण होना।

जिस पदार्थ का ध्यान किया जाता है वह अर्थ कहलाता है। उसका प्रतिपादक शब्द व्यंजन है और वचन आदि योग हैं।

इसप्रकार जिस ध्यान में द्वादशांग के अर्थ आदि में क्रम से नाना रूप से परिवर्तन हो, संक्रमण हो, वह पृथक्त्ववितर्कविचार नाम का पहला शुक्लध्यान है। यह शुक्लतर लेश्या के बल से होता है। उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी - दोनों गुणस्थानों में होता है।

२. एकत्ववितर्कविचार - जिसमें एक ही अणु द्रव्य या पर्याय विषय बनती है। यह पूर्वधारी के होता है। यह मोहादि घातिया कर्मों का घात करनेवाला है। यह बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में होता है। इसके उपरांत वह केवली हो जाता है।

३. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति - जब केवली भगवान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है तथा आयु के बराबर ही वेदनीय आदि तीन अघातिया कर्मों की स्थिति अवशिष्ट रहती है तब वे समस्त वचन योग, मन योग और स्थूल काय योग को छोड़कर स्वभाव से ही सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक ध्यान को प्राप्त करने योग्य होते हैं।

४. समुच्छिन्नक्रिया व्युपरतक्रियानिवर्तीनि - जब केवली भगवान की आयुर्कर्म की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की हो तथा शेष तीन अघातिया कर्मों की स्थिति अधिक हो तब वे स्वभाववश अपने आप चार समयों द्वारा आत्मप्रदेशों को फैलाकर दण्डप्रतर, कपाट, प्रतर और लोकपूरण कर तथा उतने ही समयों में उन्हें संकुचित कर सब कर्मों की स्थिति एक जैसी कर लेते हैं।

इस क्रिया के समय उन क्रिया करने वाले जीवों का उपयोग अपने आप में होता है। वे सामायिकभाव

से युक्त होते हैं, महासंवर सहित होते हैं, सत्ता में स्थित कर्मों के नष्ट करने तथा उदयावली के लाने में समर्थ होते हैं। यह सब करने के बाद वे पुनः पूर्व शरीर प्रमाण हो जाते हैं। तब (परम) शुक्लध्यान को पूर्ण कर चतुर्थ व्युपरतक्रियानिवर्तीनि या समुच्छिन्नक्रियनामक शुक्लध्यान को प्राप्त होते हैं।

आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दरूप योग तथा कायबल आदि प्राणों के नष्ट हो जाने से इसे व्युपरतक्रिया या समुच्छिन्नक्रिया कहा गया है।

भगवान नेमिनाथ ने धर्मध्यान के दस भेदों का यथायोग्य ध्यान करते हुए छद्मस्थ अवस्था के छप्पन दिन समीचीन तपश्चरण द्वारा व्यतीत किए। तत्पश्चात् अश्विन शुक्ल प्रतिपदा (एकम) के दिन शुक्लध्यान रूपी अग्नि द्वारा चार घातिया कर्मों को भस्म कर अनंतचतुष्टयमय केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

तीर्थकर नेमिनाथ को केवलज्ञान होते ही इन्द्रों के आसन और मुकुट कम्पायमान हो गये और तीनों लोकों के इन्द्र केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव मनाने चल पड़े। गिरनारपर्वत की तीन प्रदक्षिणायें देकर खूब उत्साहपूर्वक नेमि जिनेन्द्र का पूजा महोत्सव मनाया।

जब जिनेन्द्र भगवान नेमिनाथ के समोशरण में सब भव्य जीव धर्म सुनने के लिए हाथ जोड़कर बैठ गये, तब वरदत्त गणधरदेव ने जिनेन्द्रदेव से पूछा - “सबका हित किसमें है ? अपना कल्याण करने के लिए हम क्या करें ?”

उत्तर में तीर्थकर नेमिनाथ की दिव्यध्वनि खिरने लगी, जो पुरुषार्थरूप फल को देनेवाली थी और चार अनुयोगों की एक माता थी। चार गतियों का निवारण करनेवाली थी। एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात, आठ और नौ स्थान रूप थीं।

सामान्य रूप से एक जीवतत्त्व का वर्णन करनेवाली होने से एक स्थान रूप थी। श्रावक-मुनि के भेद से दो प्रकार के धर्म का अथवा चेतन-अचेतन और मूर्तिक-अमूर्तिक के भेद से दो द्रव्यों की निरूपक होने से दो का स्थान थी। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रय का वर्णन करने वाली होने से तीन

का स्थानरूप थी।

चारगति, चार कषाय, चार प्रकार के मिथ्यात्वादि चार आस्रवों की निरूपक होने से चार का स्थान थी। पाँच अस्तिकाय का छह द्रव्यों का, सात तत्त्वों का, आठ कर्मों का, नौ पदार्थों का वर्णन करनेवाली होने से क्रमशः पाँच, छः, सात, आठ और नौ के स्थान रूप थी।

यह दिव्यध्वनि जहाँ भगवान विराजमान थे, उसके चारों ओर एक योजन के घेरे में इतनी स्पष्ट सुनाई देती थी मानो भगवान मेरे सामने मुझसे ही बोल रहे हैं।

दिव्यध्वनि में जगत की अनादिनिधन, स्वतंत्र, स्वाधीन, अहेतुक स्थिति का ज्ञान कराया गया। यह सृष्टि अहेतुक है अर्थात् किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं हुई है, किसी ने इसे बनाया नहीं है। परिणामिकी हैं – स्वतः सिद्ध है। जीव स्वयं कर्म करता है, स्वयं उसका फल भोगता है, स्वयं अपनी भूल से संसार में घूमता है और स्वयं भूल सुधार कर मुक्त होता है।

अविद्या और रागमय होता हुआ स्वयं संसार सागर में बार-बार जन्म-मरण करता हुआ डूबता-उतरता-फिरता है तथा स्वयं ही विद्या और वैराग्य से शुद्ध होता हुआ पूर्ण स्वभाव में स्थित हो सिद्ध हो जाता है।

इस अध्यात्म विशेष को प्रगट करने के लिए वह दिव्यध्वनि दीप शिखा के समान थी। जिस प्रकार वर्षा का पानी एक रूप होने पर भी जमीन पर आकर नाना वृक्षों, बेलों और स्थानों में नाना रूप से परिणम जाता है, उसीप्रकार तीर्थंकर की दिव्यध्वनि एक रूप खिरकर पात्रों की योग्यता के अनुसार नानारूप परिणम जाती है।

दिव्यध्वनि में आ रहा था कि – सभी जीव दुःख से मुक्त होना चाहते हैं, सुखी होना चाहते हैं, सदा सुखी रहना चाहते हैं, सच्चे सुख को पाने का उपाय एकमात्र आध्यात्मिक अध्ययन और आत्मध्यान से होता है। वह उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के समुदाय रूप है। उनमें जीवादि सात तत्त्वों का निर्मल श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन दर्शनमोहरूपी अन्धकार के क्षय, उपशम, क्षयोपशम से

उत्पन्न होता है। इस अपेक्षा वह तीन प्रकार का है तथा निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है। सात तत्वों का अपने-अपने लक्षणों से श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

जीवतत्व ! जीव का लक्षण उपयोग है। वह उपयोग आठ प्रकार का है। मति, श्रुत, अवधि - ये तीन सम्यक् एवं मिथ्यारूप होते हैं। ये छः हुए तथा मनःपर्यय और केवलज्ञान मात्र सम्यक् ही होते हैं, इसप्रकार सब मिलाकर उपयोग के आठ भेद हुए।

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सांसारिक सुख-दुःख - ये सब चिद्विकार हैं, भगवान आत्मा अनादि-अनंत है, विज्ञानघन है, अनंतगुण एवं अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है। ये ही जीव की पहचान है। जीव स्वयं द्रव्यरूप है, ज्ञाता-दृष्टा है, कर्ता-भोक्ता है, उत्पाद-व्ययरूप है, असंख्यातप्रदेशी है, गुणों का समुदाय है, संकोच-विस्तार रूप है। अपने शरीर प्रमाण है। वर्णादि बीस गुणों से रहित है।

यह जीव जगत में गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, सम्यक्त्व, लेश्या, दर्शन संज्ञित्व, भव्यत्व और आहार - इन चौदह मार्गणाओं में खोजा जाता है तथा मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थानों से इसका कथन किया जाता है।

प्रमाण, नय, निक्षेप और निर्देश आदि से संसारी जीव का तथा अनन्तज्ञान आदि से मुक्तजीव का निश्चय किया जाता है।

वस्तु के अनेक पक्ष होते हैं, उनमें अन्य सबको गौण रखकर किसी एक को मुख्य करके कथन करना नामनय उसका है। इसके द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक दो भेद हैं। इनमें द्रव्यार्थिक नय वस्तु के यथार्थस्वरूप को कहता है और पर्यायार्थिक मात्र क्षणिक पर्याय को अपना विषय बनाता है, अतः उसे अयथार्थ कहते हैं। ये ही दो मूलनय हैं। दोनों परस्पर सापेक्ष हैं।

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये सात नय इन्हीं के भेद हैं। इनमें प्रारंभ के तीन नय द्रव्यार्थिक नय के भेद हैं तथा ये सामान्य को विषय करते हैं। शेष चार पर्यायार्थिक नय के भेद हैं और ये विशेष को विषय करते हैं।

नैगमनय :- जो नय अनिष्पन्न पदार्थ के संकल्पमात्र को ग्रहण करता है, वह नैगमनय है। जैसे - कोई भात पकाने के लिए ईंधन-पानी इकट्ठा कर रहा है उससे पूछा जाय कि क्या कर रहे हो? और वह कहे 'भात बना रहा हूँ।' यद्यपि अभी केवल भात बनाने का संकल्प मात्र किया है, भात बना नहीं है। फिर भी भात बनाने के संकल्प की अपेक्षा से उसका यह कथन सत्य है।

संग्रहनय :- अनेक गुण भेद और पर्यायों से सहित वस्तु को एक रूप ग्रहण करना संग्रहनय है। जैसे - अनेक पदार्थों को सत् की अपेक्षा एक द्रव्यरूप कहना।

व्यवहारनय :- संग्रहनय के विषयभूत सत्ता आदि पदार्थों में विशेषरूप से भेद करना व्यवहारनय है। व्यवहारनय द्रव्य सत्ता में भेद करता-करता उसे अन्तिम भेद तक ले जाता है।

ऋजुसूत्रनय :- पदार्थ की भूत-भविष्यत पर्याय को वक्र और वर्तमान पर्याय को ऋजु कहते हैं। जो नय मात्र वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है उसे ऋजुसूत्रनय कहते हैं। इसके सूक्ष्म व स्थूल के भेद से दो भेद हैं। जीव की समय-समय की पर्याय को ग्रहण करना सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय है और देव, मनुष्य आदि बहुसमयव्यापी पर्याय को ग्रहण करना स्थूल ऋजुसूत्रनय है।

शब्दनय :- जो नय लिंग भेद, कारक भेद, संख्या भेद (वचन भेद) का आदि के व्यभिचार (दोष) को नहीं मानता। तात्पर्य यह है कि यह नय व्याकरण के नियमों के आधीन है, अतः सामान्य नियमों के विरुद्ध प्रयोग होने से आनेवाले दोष को स्वीकृत नहीं करता।

समभिरूढ़नय :- जो शब्दभेद होने पर अर्थभेद स्वीकृत करता है अर्थात् एक पदार्थ के लिए अनेक पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त होने पर उनके पृथक्-पृथक् अर्थ को स्वीकृत करता है, वह - समभिरूढ़नय है। जैसे - लोक में देवेन्द्र के लिए इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्द का प्रयोग होता है; परन्तु यह नय इन सबके पृथक्-पृथक् अर्थ ग्रहण करता है। जो ऐश्वर्य का अनुभव करता वह इन्द्र, जो शक्ति सम्पन्न हो वह शक्र, जो पुरों का विभाग करने वाला हो, वह पुरन्दर है अथवा जो नाना अर्थों का उल्लंघन करके एक अर्थ को

ग्रहण करता है। जैसे गौ शब्द के वचन आदि अनेक अर्थ हैं, परंतु समभिरूढनय मस्त (पथ) के अर्थ में ही ग्रहण है।

एवंभूतनय :- जो पदार्थ, जिस क्षण, जैसी क्रिया करता है, उसी क्षण में उसको उस रूप कहना, अन्य क्षण में नहीं - यह एवंभूतनय है। यह नय पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को कहता है। जैसे - पूजा करते समय ही व्यक्ति को पुजारी कहना और यात्रा करते समय यात्री।

द्रव्य की अनन्त शक्तियाँ हैं। ये सातों नय प्रत्येक शक्ति के भेदों को स्वीकृत करते हुए उत्तरोत्तर सूक्ष्म पदार्थों को ग्रहण करते हैं। इन नयों में नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र - ये चार नय अर्थप्रधान हैं, अतः इन्हें अर्थनय कहते हैं और शेष तीन नय शब्दप्रधान है, अतः उन्हें शब्दनय कहते हैं। ये सब भेद बहुत स्थूल हैं। वस्तुतः तो जितने वचन विकल्प होते हैं, उतने ही नय हैं, अतः नयों की कोई संख्या निश्चित नहीं है।

हे प्रभो ! निश्चय-व्यवहार भी तो नय हैं, अध्यात्म के विवेचन में तो ये ही नय बार-बार आते हैं, अतः इन्हें भी संक्षेप में बतायें !

हाँ, हाँ, सुनो !

वस्तुतः तो निश्चयनय एक ही है, परन्तु प्रयोजनवश इसके चार भेद किये गये हैं। मूल में तो दो भेद ही किए हैं। एक - शुद्धनिश्चयनय, दूसरा - अशुद्धनिश्चयनय। पुनः शुद्ध निश्चयनय के तीन भेद किए। १. परमशुद्धनिश्चयनय २. साक्षात्शुद्धनिश्चयनय ३. एकदेशशुद्धनिश्चयनय। इसप्रकार इसके निम्नांकित चार भेद हो गये।

(क) परमशुद्धनिश्चयनय - इसका विषय पर व पर्याय से रहित अभेद-अखण्ड नित्य वस्तु है। अतः इसका कोई भेद नहीं होता। इस नय की विषयवस्तु ही दृष्टि का विषय है।

(ख) साक्षात्शुद्धनिश्चयनय - यह नय आत्मा को क्षायिक भावों से (केवलज्ञानादि से) सहित बताता

है। ध्यान रहे, इस दूसरे भेद का एक नाम शुद्धनिश्चयनय भी है, जो मूलनय के नाम से मिलता-जुलता है; अतः अर्थ समझने में सावधानी रखें।

(ग) एकदेशशुद्धनिश्चयनय - इस नय से मति-श्रुतज्ञानादि पर्यायों को जीव का कहा है। जैसे - मतिश्रुत-ज्ञानी जीव।

(घ) अशुद्धनिश्चयनय - यह नय आत्मा को रागादि विकारी भावों से सहित होने से रागी-द्वेषी-क्रोधी आदि कहता है।

ज्ञातव्य है कि कहीं-कहीं शुद्धनिश्चयनय के तीनों भेदों का प्रयोग समुदायरूप में भी हुआ है। परमशुद्धनिश्चयनय के अलावा तीनों का व्यवहारनय के रूप में भी प्रयोग किया है। अतः अर्थ समझने में सावधानी की जरूरत है।

व्यवहारनय का कार्य एक अखण्ड वस्तु में, गुण-गुणी में, पर्याय-पर्यायवान में भेद करके तथा देह व जीव आदि दो भिन्न द्रव्यों में अभेद करके वस्तुस्थिति को स्पष्ट करना है।

व्यवहारनय के मूलतः चार भेद हैं -

१. उपचरित असद्भूत व्यवहारनय - इस नय से संश्लेष सम्बन्धरहित परद्रव्य जैसे स्त्री-पुत्र, परिवार एवं धनादि को अपना कहा जाता है। इसे न मानने से स्वस्त्री-परस्त्री का विवेक नहीं रहेगा, निजघर-परघर, निजधन-परायाधन आदि का व्यवहार संभव न होने से नैतिकता का हास होगा। लोक व्यवस्था ही बिगड़ जायेगी।

२. अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय - इस नय से संश्लेष सम्बन्ध सहित देह को ही जीव कहा जाता है, जिसे न मानने से द्रव्यहिंसा से बचाव नहीं हो सकेगा अर्थात् राख, कोयला मसलना और पंचेन्द्रिय जीव का गला दबाना एक समान हो जायेगा।

३. उपचरित सद्भूत व्यवहारनय - यह नय विकार एवं गुण-गुणी में भेद करके उन्हें जीव कहता है।

जैसे राग का कर्ता जीव, क्रोध का कर्ता जीव। इसे न मानें तो संसारी व सिद्ध में भेद नहीं रहने से चरणानुयोग व करणानुयोग के विषय का क्या होगा ?

४. अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय - पर्याय-पर्यायवान् गुण-गुणी में भेद करना। जैसे आत्मा में केवलज्ञान आदि अनन्त गुण एवं शक्तियाँ हैं। इसे न मानने से स्वभाव की सामर्थ्य का ज्ञान नहीं होगा।

अजीवतत्त्व :- पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - ये पाँच अजीव तत्त्व हैं जो पूर्ण स्वतंत्र एवं स्व संचालित हैं। ये भी अनादि-अनन्त हैं और अनंतशक्तिमय हैं तथा सम्यग्दर्शन के विषयभूत हैं। छह द्रव्य के प्रकरण में इनका उल्लेख हो चुका है। सम्पूर्ण संसारी जीवों के शरीर की संरचना अपनी-अपनी योग्यतानुसार तज्जातीय पुद्गल स्कन्धों से स्वतः ही होती रहती है - ऐसी सामर्थ्य पुद्गल स्कन्धों में स्वयं की है।

इस शरीर में ही एकत्व करने से ये संसारी जीव अटके हैं। स्वयं जीव है, उसे तो जानते-पहिचानते नहीं और शरीर को ही सब कुछ मानकर बहिरात्मा बना है। अतः इसे अवश्य जानें।

आस्रवतत्त्व :- काय, वचन एवं मन की क्रिया को योग कहते हैं, योग की क्रिया से कार्माणवर्गणाओं का आना आस्रव कहलाता है। उसके शुभ व अशुभ दो भेद हैं।

आस्रव के स्वामी दो हैं - कषाय सहित जीवों को जो आस्रव होता है उसका नाम साम्परायिक आस्रव है और कषाय रहित जीवों को जो आस्रव होता है उसका नाम इर्यापथ आस्रव है। किन भावों से किन कर्मों का आस्रव होता है तथा ये आस्रव दुःखद हैं, अतः इसे भी अवश्य जाने और जानकर इनका त्याग कर दें।

बन्धतत्त्व :- कषाय से क्लुषित जीव प्रत्येक क्षण कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वही बन्ध कहलाता है। यह बन्ध अनेक प्रकार का है, सामान्यरूप से बन्ध प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है।

प्रकृति का अर्थ है स्वभाव। जिसप्रकार नीम की प्रकृति कड़वी (तिक्त) है, उसी तरह ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति ज्ञान पर आवरण करना है, ज्ञान नहीं होने देना। उनका अपने स्वभाव से च्युत नहीं होना स्थिति बंध है। जैसे - बकरी, गाय तथा भैंस आदि के दूध अपने स्वभाव से च्युत नहीं होते तथा कर्मरूप परिणत पुद्गल स्कन्ध जो कर्म की शक्ति विशेष (तीव्र अथवा मंद भावों) से रहती हैं वह अनुभागबंध है और कर्मरूप परिणत पुद्गल स्कन्धों के समूह में परमाणु के प्रमाण से कल्पित खण्डों की संख्या प्रदेशबंध है।

आत्म परिणामों में स्थित मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग - ये बन्ध के कारण हैं। इनमें मिथ्यादर्शन निसर्गज और अन्योपदेशज अर्थात् अगृहीत और गृहीत के भेद से दो प्रकार का है। मिथ्यात्वकर्म के उदय से अनादिकाल से चली आ रही तत्त्व की अश्रद्धा अगृहीत मिथ्यादर्शन है और दूसरों के उपदेश से अतत्त्व की श्रद्धा होना गृहीत मिथ्यात्व है। ध्यान रहे, अगृहीत में तत्त्वों की अश्रद्धा होती है और गृहीतों में अतत्त्वों की श्रद्धा करने वाला है।

इनके एकांत, विपरीत, विनय, संशय व अज्ञान - ऐसे पाँच भेद तो हैं ही; क्रियावादी, अक्रियावादी, वैनयिकवादी और अज्ञानवादी के भेद से चार भेद भी आगम में गिनाये हैं। इनमें वैनयिक और अज्ञान तो दोनों भेदों में समान ही हैं; शेष तीन में असमानता है।

पाँच इंद्रिय और मन को वश में नहीं करना एवं छह काय के जीवों की रक्षा नहीं करना अविरति है, पंद्रह प्रकार का प्रमाद और पच्चीस कषायें तथा पंद्रह प्रकार का योग ये सब बन्ध के कारण हैं।

प्रकृति और प्रदेश बंध योग के निमित्त से होते हैं तथा स्थिति व अनुभाग में कषाय निमित्त होती है।

निर्जरा के विपाकजा और अविपाकजा के भेद से दो भेद हैं। संसार में भ्रमण करने वाले जीव का कर्म जब फल देने लगता है, तब क्रम से उस कर्म की जो निवृत्ति होती है वह विपाकजा निर्जरा है। जिस प्रकार आम आदि फलों को पाल में असमय में ही पका लिया जाता है, उसी प्रकार उदयावली में अप्राप्त कर्म की तपश्चरण आदि उपायों से निश्चित समय से पूर्व ही उदीरणा द्वारा जो निर्जरा की जाती है, वह अविपाक निर्जरा है।

आस्रव का रुक जाना संवर है। यह भाव संवर और द्रव्य संवर के भेद से दो प्रकार का है। संसार की कारणभूत रागादि क्रियाओं का रुक जाना भाव संवर है और कर्मरूप पुद्गल द्रव्य का आना रुक जाना वह द्रव्यसंवर है। तीन गुप्तियाँ, पाँच समितियाँ, दसधर्म, बारह अनुप्रेक्षार्ये, पाँच चारित्र और बाईस परिषहजय - ये संवर के कारण हैं।

निर्ग्रन्थ मुद्राधारी मुनि के बंध के कारणों का अभाव तथा निर्जरा द्वारा जो समस्त कर्मों का क्षय होता है, वह मोक्ष है। इन जीवादि सात तत्त्वों के श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन आदि ही मोक्ष के साक्षात् साधन हैं।

पुनः प्रश्न - लोक का स्वरूप क्या है ?

समाधान - “जिसमें कालद्रव्य सहित पंचास्तिकाय द्रव्य दिखाई देते हैं या होते हैं, उसे लोक कहते हैं। यह लोक चौदह राजू ऊँचा है। इस लोक का आकार कमर पर हाथ रखकर तथा पैर फैलाकर अचल खड़े हुए मनुष्य के आकार जैसा है।

जहाँ मनुष्य और तिर्यच रहते हैं - उसे तिर्यक लोक वा मध्यलोक कहते हैं, इसके नीचे अधोलोक हैं, वहाँ सात नरक हैं, उन नरकों में नारकी जीवों का निवास है।

पुण्य के फल में स्वर्ग, पाप के फल में नरक तथा धर्म के फल में मुक्ति प्राप्त होती है। अधोलोक के निवासी नारकियों को भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, मार-काट आदि के भयंकर असीमित दुःख सागरों पर्यन्त सहने पड़ते हैं। उन नरक भूमियों के नाम हैं - रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा एवं महातम प्रभा ।

उन नरकों में नारकी जीवों को भूख ऐसी लगती है कि तीन लोक का पूरा अनाज खा जायें तो भी भूख न मिटे, किन्तु एक दाना भी नहीं मिलता। इतनी प्यास लगती है कि सभी समुद्रों का पूरा पानी पी जायें तो भी प्यास न बुझे, किन्तु एक बूँद पानी भी पीने को नहीं मिलता। सर्दी इतनी कि सुमेरु बराबर लोहे का गोला जम जाये और गर्मी इतनी कि मेरु बराबर लोहे का गोला पानी की तरह पिघल जाये। नारकी

आपस में ऐसे लड़ते हैं, मार-काट करते हैं कि तिल के दाने के बराबर शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं और असुर देव उन्हें लड़ा-भिड़ाकर आग में घी का काम करते हैं।

वहाँ की भूमि ऐसी है कि छूते ही ऐसी पीड़ा होती है, जैसे हजार बिच्छुओं ने एकसाथ काट लिया हो। दुर्गन्ध भरी वैतरणी नदियाँ बहती हैं। आचार्य कहते हैं कि - यदि हम नरकों के ऐसे दुःख सहना नहीं चाहते तो क्रोधादि कषायें और इन्द्रियों के भोगों में उलझ कर पापरूप कार्य न करें। बहुत परिग्रह संग्रह न करें। हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील का सेवन न करें। जुआ, शराब, मांस, वेश्या-गमनादि दुर्व्यसनों से दूर रहें, अन्यथा इन नरकों के दुःखों से हम बच नहीं पायेंगे।

“मध्यलोक के मध्य में स्थित मेरुपर्वत की ऊँचाई एक लाख योजन है। इसमें एक हजार योजन तो पृथ्वीतल के नीचे है और ९९ हजार योजन ऊपर है। इसी मध्यलोक में असंख्यात द्वीपसमुद्रों से वेष्टित गोल (थाली के आकारवाला) जम्बूद्वीप है। सुमेरु पर्वत जम्बूद्वीप की नाभि के समान मध्य में स्थित है। जम्बूद्वीप की परिधि ३ लाख १६ हजार २०० योजन से कुछ अधिक है। इसमें सात क्षेत्र एवं छह कुलाचल (पर्वत) हैं।

जैन भूगोल के अनुसार मध्यलोक के अन्तर्गत ही सुमेरु पर्वत की परिक्रमा करने वाले सूर्य, चन्द्र, तारा-मण्डल आदि ज्योतिषी देव हैं।

पृथ्वीतल से सात सौ नब्बे योजन ऊपर से लेकर नौ सौ योजन तक आकाश की ऊँचाई में सबसे नीचे तारामण्डल स्थित हैं और पृथ्वी से ही नौ सौ योजन की ऊँचाई पर सबसे ऊपर ज्योतिष्क पटल है। इसतरह यह ज्योतिष्क पटल एक सौ दस योजन मोटा है तथा आकाश में घनोदधि वातवलय पर्यन्त सब ओर फैला है। तारों के पटल से दस योजन ऊपर सूर्य का पटल है और उससे अस्सी योजन ऊपर चन्द्रपटल है। उससे चार योजन ऊपर नक्षत्रपटल है, उससे भी चार योजन ऊपर शुक्र, गुरु, मंगल और शनीश्चर ग्रहों के पटल हैं।

सूर्य, चंद्रमा, नक्षत्र, ग्रह और तारा - ये पाँच प्रकार के ज्योतिर्विमान हैं। इनमें रहनेवाले देव भी इन्हीं के समान नामवाले हैं।”

जिज्ञासु ने जिज्ञासा प्रगट की - अधोलोक और मध्यलोक तो जाना कृपया ऊर्ध्वलोक को भी संक्षेप में बतायें।

दिव्यध्वनि में आया - हाँ सुनो ! मेरुपर्वत की चूलिका से ऊपर ऊर्ध्वलोक प्रारंभ होता है। ऊपर-ऊपर दक्षिण और उत्तर के रूप में दो-दो के युगल में सोलह स्वर्ग हैं, इन्हें कल्प कहते हैं तथा इनमें रहनेवाले इन्द्र-इन्द्राणियाँ एवं देव-देवियाँ कल्पवासी कहलाते हैं। इनके ऊपर अधोग्रैवेयक, मध्यग्रैवेयक एवं ऊर्ध्वग्रैवेयक के भेद से तीन-तीन के जोड़े से नौ ग्रैवेयक हैं। इनके आगे नौ अनुदिश और उनके ऊपर पाँच अनुत्तर विमान हैं। अनुदिश व अनुत्तर विमानों का एक-एक पटल है। अन्त में ईषत्प्राग्भार भूमि है। इसी के अन्त तक ऊर्ध्वलोक है। स्वर्गों के समस्त विमान ८४ लाख ९७ हजार २३ हैं। प्राग्भारभूमि (सिद्धशिला), ढाईद्वीप, प्रथम स्वर्ग का ऋजुविमान, प्रथम नरक का सीमान्तक इन्द्रकबिल और सिद्धालय - ये पाँच स्थान विस्तार की अपेक्षा समान हैं अर्थात् ये सब ४५ लाख योजन विस्तारवाले हैं।

पंचाग्नि आदि तप तपनेवाले अन्य मतावलम्बी साधुओं की उत्पत्ति अपने-अपने शुभभावों के अनुसार भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिष्क देवों में होती है। परिव्राजक संन्यासियों की उत्पत्ति ब्रह्मलोक तक और अन्यमतियों की उत्पत्ति भी सहस्रार स्वर्ग (१२ वें स्वर्ग) तक होती है। श्रावक सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युत स्वर्ग तक जाते हैं और नग्न दिगम्बर मुनि उससे आगे भी जा सकते हैं। इसके आगे सर्वार्थसिद्धि तक रत्नत्रय के धारक मुनिराज ही पहुँचते हैं।

ईषत्प्राग्भार नाम की आठवीं पृथ्वी मध्य में आठ योजन मोटी है। उसके आगे दोनों ओर क्रम क्रम से कम-कम होती हुई अन्तभाग में अंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण अत्यन्तसूक्ष्म रह जाती है।”

“मध्यलोक में मनुष्य और तिर्यचगति के जीव रहते हैं। मनुष्यगति में कैसे-कैसे दुःख हैं, इनसे तो हम सब थोड़े-बहुत परिचित हैं। जब यह जीव माँ के उदर में आता है तो नौ माह तक औंधे मुँह लटकता है और शरीर के सिकुड़ने से तो दुःख पाता ही है, माँ के गर्भ में भी माँ के तीखे खान-पान और उठने-बैठने से भारी पीड़ा होती है, गोद में आते ही उसका कारुणिक रोना ही इसके दुःख को व्यक्त करता है।

यह जीव मनुष्यपर्याय उसमें उत्तम कुल और जिनवाणी सुनने, समझने की पात्रता पाकर भी अपना बालपना अज्ञान में खो देता है, जवानी भोगों और खाने-कमाने में चली जाती है, बुढ़ापा अधमरे के समान बीतता है। बीच में नाना व्याधियों से दुःखी रहता है। भोगोपभोग सामग्री में सुख मानकर उनका संग्रह करने में अपने जीवन का बहुमूल्य समय बर्बाद कर दिन-रात सुख की खोज में लगा रहता है, फिर भी रंचमात्र सुख नहीं मिलता। जब भोगों और भोग सामग्री में सुख है ही नहीं तो मिलेगा कहाँ से? यह बालू (रेत) से तेल निकालने जैसा निरर्थक प्रयास है।

तिर्यच गति में पंचेन्द्रिय पशुओं के वध-बन्धन आदि के भयंकर दुःख, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, बोझा ढोने, मार-पीट खाने और अत्यन्त निर्दयतापूर्वक बे-मौत मारे जाने के दुःख तो प्रत्यक्ष दिखाई देते ही हैं, इनके अलावा एकेन्द्रिय आदि जीवों के अव्यक्त दुःखों की तो हम मात्र कल्पना ही कर सकते हैं। अधिक क्या कहें.....।”

गणधरदेव ने आगे कहा - “ हे भव्य ! तुम ऐसे दुःखों से बचना चाहते हो तो जिन पापों के फल में ये दुःख प्राप्त होते हैं, उन्हें जानकर उनसे बचो। एतदर्थ जिनवाणी का अध्ययन चिन्तन-मनन ही एक उपाय है।”

देवगति में यद्यपि ऐसे शारीरिक दुःख नहीं हैं, देवगति हमें पुण्य के फल में प्राप्त होती है; किन्तु मानसिक दुःख तो वहाँ भी बहुत है। ऊपर के देवों और इन्द्रों का वैभव देख-देखकर नीचे के देव अपने अन्दर हीन भावना से दुःखी रहते हैं; क्योंकि वहाँ भी छोटे-बड़े का भेद तो है ही। चारों निकायों के देवों में भयंकर मानसिक दुःख हैं। अतः मिथ्यादृष्टि देव निरन्तर दुःखी रहते हैं।

वस्तुतः चारों गतियों में दुःख ही दुःख है। कहीं भी सुख नहीं है। कहा भी है -

जो विमानवासी हूँ थाय, सम्यग्दर्शन बिन दुःख पाय।

तहतै चय थावर तन धरै, यो परिवर्तन पूरे करै॥

तथा -

जो संसार विषैँ सुख हो तो, तीर्थकर क्यों त्यागे ।
काहे को शिव साधन करते, संयम सों अनुरागे ॥

अतः वीतराग धर्म ही एक शरणभूत है – ऐसा समझकर अपने में वीतरागता प्रगट होने के कारणभूत जैनदर्शन में बताये वस्तुस्वातंत्र्य एवं उसकी प्राप्ति का उपाय स्वावलम्बन तथा कर्ता-कर्म आदि सिद्धान्तों को समझना अत्यन्त आवश्यक है ।

पंचमगति को प्राप्त सिद्ध भगवान शरीर रहित हैं, सुखरूप हैं तथा ज्ञान-दर्शनमय हैं । द्रव्यकर्म, भावकर्म एवं नोकर्म – इन तीनों कर्ममल से रहित पूर्ण निर्मल हैं, सर्वज्ञ हैं । समस्त लोक और अलोक को एक साथ जानते हुए परम वीतरागी और अनन्त आनन्दानुभूति करते हुए सदा सुख से स्थिर रहते हैं । यदि हम भी सिद्धों जैसा अनन्त सुख प्राप्त करना चाहते हैं तो उनके स्वरूप को जानकर उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने पर प्रतिदिन सिद्धों का स्मरण करें, उनकी आराधना करें तो उन जैसे स्वयं बन जायेंगे ।

जो व्यक्ति सर्वज्ञता के स्वरूप को एकान्तरूप से (निश्चय से) आत्मज्ञ ही मानते हैं और उनकी त्रिकालज्ञता को व्यवहारनय का विषय कहकर अभूतार्थ कहते हैं, उन्हें इन प्रथमानुयोग में आये सर्वज्ञकथित भव-भवान्तरों के प्रकरणों को भी देखना चाहिये । सिद्ध भगवान वस्तुतः त्रिकालज्ञ हैं, लोकालोक के सर्वद्रव्यों, उनके अनन्त गुणों, प्रत्येक गुण की प्रतिसमय होनेवाली सहभावी एवं क्रमभावी पर्यायों को एक साथ जानते हैं । इसमें किंचित भी शंका की गुंजाइश नहीं है ।

श्रोता के मन में जिज्ञासा उठी – कालद्रव्य का स्वरूप क्या है ?

दिव्यध्वनि द्वारा समाधान मिला – सुनो ! “वर्तना लक्षण से युक्त निश्चय कालद्रव्य समस्त द्रव्यों की वर्तना में – षट्गुणी-हानिवृद्धिरूप परिणामन में निमित्त है । समस्त पदार्थ जो परिणाम क्रिया से परत्व और अपरत्व रूप परिणामित होते हैं, वे अपने-अपने अन्तरंग तथा बहिरंग निमित्तों से प्रवृत्त होते हैं ।

वे कालाणु परस्पर प्रवेश रहित रत्नों की राशि की भाँति पृथक्-पृथक् समस्त लोक को व्याप्तकर राशिरूप में स्थित हैं ।

द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा कालाणुओं में विकार नहीं होता। इसलिये उत्पाद-व्यय से रहित होने के कारण वे कथंचित नित्य और अपने स्वरूप में स्थित हैं; परन्तु अगुरुलघुत्व गुण के कारण उन कालाणुओं में प्रत्येक समय परिणमन होता रहता है तथा परपदार्थों के सम्बन्ध से वे विकारी हो जाते हैं; इसलिये पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा कथंचित् अनित्य भी हैं।

भूत, भविष्य और वर्तमानरूप तीनप्रकार के समय का कारण होने से वे कालाणु तीन प्रकार के माने गये हैं और अनन्त समयों के उत्पादक होने से अनन्त भी कहे जाते हैं। उन उपादान के कारणभूत कालाणुओं से समय की उत्पत्ति होती है। कार्य की उत्पत्ति में मुख्य कारण उपादान है, सहकारी कारण के रूप में भिन्न जाति के द्रव्य को भी व्यवहार से निमित्त की अपेक्षा से कारण कहा जाता है। समय, आवली, उच्छ्वास, प्राण, स्तोक और लव आदि को आचार्यों ने व्यवहारकाल कहा है।

‘समय’ की व्याख्या में कहा गया है कि - सर्व जघन्य गति परिणाम को प्राप्त हुआ परमाणु जितने समय में अपने द्वारा प्राप्त आकाश प्रदेश को लांघता है, उतने काल को समय कहा गया है। समय काल द्रव्य की सबसे छोटी इकाई है, अतः यह अविभागी होता है। असंख्यात समय की एक आवली होती है। असंख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास-निश्वास होता है। दो उच्छ्वास-निश्वासों का एक प्राण होता है। सात प्राणों का एक स्तोक और सात स्तोकों का एक लव होता है। सत्तर लवों का एक मुहूर्त होता है और तीस मुहूर्तों का एक दिन-रात होता है।

दिन-रात के पश्चात् व्यवहार कालद्रव्य की ऋतु, अयन, युग, पूर्वांग आदि नामों से तो संख्यात काल की चर्चा है।

ज्ञातव्य है कि यह काल भी असंख्यवत् ही है।

इसके बाद जो काल वर्षों की संख्या से अतीत है, संख्यातीत है; वह असंख्येय व्यवहारकाल माना जाता है। इसके भी पल्य, सागर, कल्प तथा अनन्त आदि अनेक भेद हैं।

हे अरहंतदेव ! कर्मभूमि का प्रारंभ कब/कैसे हुआ ?

ह
रि
वं
श
क
था

दिव्यध्वनि से उत्तर मिला - सुनो ! जैन भूगोल के अनुसार जम्बूद्वीप के दक्षिण में जो गंगा-सिन्धु के बीच भरतक्षेत्र है, वहाँ भोगभूमि की समाप्ति तथा कर्मभूमि के प्रारंभ में चौदह कुलकर हुये, उनमें पहला कुलकर प्रतिश्रुत था। यह प्रभावशाली व्यक्तित्व का धनी पूर्वभव के स्मरण से सहित था। उसके समय प्रजा को अकस्मात् पूर्णमासी के दिन प्रथमबार आकाश में एकसाथ चमकते हुये दो बिम्ब दिखाई दिये। उन्हें देख प्रजा के लोग अपने ऊपर आये भयंकर उत्पात की आशंका से भयभीत हो उठे तथा सभी प्रजा प्रतिश्रुत कुलकर की शरण में आ गई। तब प्रतिश्रुत ने कहा - “आप लोग भयभीत न हों। ये पूर्व में सूर्यमण्डल और पश्चिम दिशा में चन्द्रमण्डल दिखाई दे रहा है। ये दोनों ज्योतिषी देवों के स्वामी हैं, भ्रमणशील हैं एवं निरन्तर सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुये घूमते रहते हैं। पहले भोगभूमि के समय इनका प्रकाश (प्रभापुंज) ज्योतिरंग जाति के कल्पवृक्षों से आच्छादित था, इसकारण ये दृष्टिगोचर नहीं थे। अब उनकी प्रभा क्षीण हो जाने से ये दिखाई देने लगे हैं। अब सूर्य के निमित्त से दिन-रात प्रकट होंगे और चन्द्रमा के निमित्त से कृष्णपक्ष व शुक्लपक्ष का व्यवहार चलेगा। दिन में चन्द्रमा सूर्य के तेज से अस्त जैसा हो जाता है, स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होता और सूर्यास्त के बाद रात को स्पष्ट दिखाई देने लगा।

प्रतिश्रुत नाम के इन प्रथम कुलकर ने ही भोगभूमि का अंत और कर्मभूमि का प्रारंभ होने से उत्पन्न भयों के कारण राज्य की अव्यवस्था को नियंत्रित करने के लिये हा ! मा !! और धिक्!!! इसप्रकार दण्ड की तीन धारायें स्थापित कीं। यदि कोई स्वजन या परजन कालदोष से मर्यादा को लांघता था तो उसके साथ अपराधी के अनुरूप इन दण्डों का प्रयोग किया जाता था।

इन्हीं प्रतिश्रुत के कुल में क्रमशः सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर, विपुलवाहन, चक्षुस्मान्, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित और अन्तिम चौदहवें कुलकर के रूप में राजा नाभिराय हुये। राजा नाभिराय से ही वर्तमान चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ।

क
र्म
भू
मि
का
प्रा
रं
भ

ये सभी कुलकर अपने-अपने नामों को सार्थक करनेवाले हुये। प्रसेनजित के पूर्व मरुदेव के समय तक भोगभूमि थी, एक ही माता-पिता से युगल पुत्र-पुत्री ही पति-पत्नी के रूप में जन्म लेते थे; किन्तु मरुदेव से प्रसेनजित अकेले पुत्र ही उत्पन्न हुए। मरुदेव ने प्रसेनजित का विधिपूर्वक विवाह करके विवाहविधि का प्रारंभ किया।

ये १४ कुलकर समचतुरस्र संस्थान (सुडौल शरीर) और वज्रवृषभनाराच संहनन (वज्र के समान सुदृढ़ शरीर) के धारक थे। इन्हें अपने-अपने पूर्वभव का स्मरणज्ञान था। इनकी मनु संज्ञा होने से ये मनु कहलाते थे।

इसप्रकार नेमि जिनेन्द्र के द्वारा कहा हुआ निर्मल मोक्षमार्ग तथा लोक का स्वरूप सुनकर बारह सभाओं के लोगों ने भगवान को नमन कर वन्दना की। श्रोताओं में से कितने ही लोगों ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, कितने ही लोगों ने संयमासंयम एवं मुनिव्रत धारण कर आत्मकल्याण किया।

शिला देवी, रोहणी, देवकी, रुक्मणी तथा अन्य नारियों ने श्राविकाओं का चारित्र धारण किया। यदुकुल और भोजकुल के श्रेष्ठ राजा तथा अनेक सुकुमारियाँ जिनमार्ग की ज्ञाता बनकर बारह व्रतों की धारक हो गईं।

हम भी तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ की दिव्यध्वनि का सार समझकर मोक्षमार्ग में अग्रसर हों। यही इसके अधिकार व्यक्ति तो ऐसे होते हैं जो प्रतिकूल परिस्थितियों से घबड़ा कर, जीवन से निराश होकर स्वाध्याय की सार्थकता है।

जल्दी ही भगवान को प्यारे हो जाना चाहते हैं, दुःखद वातावरण से छुटकारा पाने के लिए समय से पहले ही मर जाना चाहते हैं। सौभाग्य से यदि अनुकूलतायें मिल गईं तो आयु से भी अधिक जीने की निष्फल कामना करते-करते अति संक्लेश भाव से मर कर कुगति के पात्र बनते हैं।

ऐसे लोग दोनों ही परिस्थितियों में जीवन भर जगत के जीवों के साथ और अपने-आपके साथ संघर्ष करते-करते ही मर जाते हैं। वे राग-द्वेष से ऊपर नहीं उठ पाते, कषाय-चक्र से बाहर नहीं निकल पाते।

- विदाई की बेला, पृष्ठ-५५, हिन्दी संस्करण १०

देवकी, सत्यभामा, रुक्मणी और जाम्बवती के पूर्वभव

तीर्थकर नेमिनाथ की दिव्यध्वनि द्वारा धर्मकथा होने के बाद प्रश्नोत्तर काल में सर्वप्रथम श्रीकृष्ण की माता देवकी ने हाथ जोड़कर नेमिनाथ जिनेन्द्र को प्रणाम करके विनयपूर्वक पूछा – हे भगवन् ! आज दो मुनियों के युगल मेरे भवन में तीन बार आहार के निमित्त आये और तीन बार आहार ग्रहण किया। हे प्रभो! जब मुनियों की भोजन की बेला एक है और वे २४ घंटे में एक बार ही आहार लेते हैं तो फिर इन मुनियों ने एक ही घर में एक ही दिन तीन बार प्रवेश क्यों किया ?

संभावना यह भी हो सकती है कि वे तीन मुनियों के युगल पृथक्-पृथक् हों और अत्यन्त सदृश रूप होने के कारण भ्रान्तिवश मैं उन्हें पहचान नहीं सकी हूँ; परन्तु इतना अवश्य है कि उन सबके प्रति मेरे मन में पुत्रों के समान स्नेह उत्पन्न हुआ था।

देवकी के ऐसा कहने पर भगवान की ओर से दिव्यध्वनि द्वारा समाधान आया – हे देवकी ! ये छहों मुनि तेरे ही पुत्र हैं और श्रीकृष्ण को जन्म देने से पहले तूने इन्हें तीन युगलों के रूप में उत्पन्न किया था तथा बलदेव ने कंस से इनकी रक्षा की थी। इनका लालन-पोषण भद्रिलपुर में सुदृष्टि सेठ के यहाँ अलका सेठानी के गोद में हुआ है। धर्मश्रवण कर ये सबके सब एक साथ मेरी शिष्यता को प्राप्त हो गये। अब ये इसी भव में कर्मों का नाश करके सिद्ध होंगे। तेरा इन सब में जो स्नेह हुआ था, वह तेरे पुत्र होने से हुआ था।

तत्पश्चात् कृष्ण की पटरानी सत्यभामा ने भगवान नेमिनाथ को प्रणाम कर अपने पूर्वभव पूछे ! उत्तर में भगवान नेमिप्रभु की दिव्यध्वनि में आया – वैसे तो यह जीव अनादि से अपने को भूलकर चौरासी लाख

योनियों में जन्म-मरण के अनन्त दुःख भोग रहा है; उन दुःखों को तुम सुन भी न सकोगी; परन्तु तू विगत चार भवों के कारण कुगतियों में नहीं गई तू गत चार भव पूर्व विजयाब्द पर्वत की अलका नगरी में महाबल नाम के विद्याधर का हरिवाहन नामक पुत्र थी। तेरा एक बड़ा भाई शतबली था। उसने तुझे मतभेद होने से घर से निकाल दिया। वहाँ से निर्वासित होकर जाते हुए तुझे श्रीधर्म और अनन्तवीर्य मुनिराज के दर्शन हो गये। उनसे तूने जिनदीक्षा ले ली और सल्लेखना पूर्वक मरण कर ऐशान स्वर्ग को प्राप्त हुई। वहाँ के सुख भोगते हुए संक्लेश परिणामों से मरण कर तू स्त्री पर्याय में आकर सत्यभामा नाम की कन्या हुई है। इस जन्म में तप करने से तू उत्तम देव होगी और वहाँ से मनुष्य पर्याय प्राप्त कर तप कर मुक्ति को प्राप्त होगी।

इसप्रकार अपना सुखद भविष्य जानकर सत्यभामा ने हर्षित हो भगवान को बारम्बार नमन किया।

तदनन्तर श्रीकृष्ण की प्रियपत्नी रुक्मणी ने भी अपने पूर्वभव पूछे - भगवान की दिव्यध्वनि में आया कि तू अपने पूर्वभव में लक्ष्मीमती ब्राह्मणी थी, अहंकार में आकर तूने समाधिगुप्त मुनि की निन्दा की, परिणामस्वरूप तू गधी, शूकरी, कुत्ती और उसके बाद पूतिगन्धिका नाम की धीवर की पुत्री हुई। पापोदय से तेरे माता-पिता ने भी तुझे घर से निकाल दिया।

एक दिन उपवन में वही समाधिगुप्त मुनिराज आये। रात्रि में ठंड की अधिकता से तेरे ही जीव पूतिगंधिका ने मुनिराज पर जाल डाल कर उन्हें ढक दिया। मुनिराज अवधिज्ञानी थे, इसलिए उन्हें पूतिगंधिका की दुर्दशा देख दया आ गई। उन्होंने उसे समझाया और उसके पूर्वभव सुनाये, जिससे उसने संसार से विरक्त होकर धर्मधारण कर लिया।

एक बार वह पूतिगंधिका सोपारक नगर गई, वहाँ आर्यिकाओं के साथ तप करती हुई राजगृह नगर चली गयी। वहीं अन्त में सल्लेखना धारण कर सोलहवें स्वर्ग में अच्युतेन्द्र की प्रियमहा देवी हुई, वहाँ से चयकर तू रुक्मणी हुई है। अब इस उत्तम पर्याय में तू दीक्षा धारण कर उत्तम देव होगी और वहाँ से च्युत होकर निर्ग्रन्थ तपश्चरण कर मुक्ति प्राप्त करेगी।

अपने पूर्व भव सुनकर रुक्मणी के रोंगटे खड़े हो गये, वह संसार से अत्यन्त भयभीत हो गई और अपना

उज्ज्वल भविष्य जानकर हर्षित भी हुई।

श्रीकृष्ण की तीसरी पटरानी जाम्बवती ने भी श्री नेमि जिनेन्द्रदेव से अपने पूर्वभव पूछे - दिव्यध्वनि में आया अन्य संसारी जीवों की भांति अपने पुण्य-पाप के अनुसार चतुर्गति की नाना योनियों में जन्म-मरण करती एवं लौकिक सुख-दुःख के झूले में झूलते हुए हे जाम्बवती ! तूने अनेक बार आर्यिका के व्रत लेकर तपश्चरण करके स्वर्गादि भी प्राप्त किये। वर्तमान में भी तू ब्रह्मेन्द्र की प्रधान इन्द्राणी से चयकर विजयाब्द पर्वत की दक्षिण श्रेणी जाम्बव नामक नगर के विद्याधर राजा जाम्बव की जाम्बवती पुत्री हुई है। इस भव में तू तपस्वनि होकर तप करेगी और स्वर्ग का उत्तम देव होकर वहाँ से चयकर राजपुत्र होगी। तदनन्तर तप के द्वारा मोक्ष को प्राप्त करेगी।

‘भले काम का भला नतीजा’ हे जाम्बवती ! तूने प्रत्येक पर्याय में तपश्चरण किया, संयमसाधना की, धर्म के काम किए, इस कारण संसार में भी अनुकूलतायें मिलीं और अन्त में उत्तमगति-पंचमगति की प्राप्ति भी होगी।

इसीप्रकार श्रीकृष्ण की चौथी पटरानी सुशीला, पाँचवी पटरानी लक्ष्मणा, छटवीं गांधारी, साँतवीं गौरी और आठवीं पटरानी पद्मावती ने भी अपने-अपने पूर्वभव पूछे, जिनका श्री नेमिजिनेन्द्र की दिव्यध्वनि से समाधान पाकर सभी ने आत्मा के हित में लगने की प्रेरणा प्राप्त की।

श्रीकृष्ण के बाद देवकी के एक गजकुमार नाम का आठवाँ पुत्र भी हुआ, जो पिता वसुदेव के समान ही कान्ति का धारक था तथा श्रीकृष्ण का अत्यन्त प्रिय था।

गजकुमार तीर्थकरों एवं शलाका पुरुषों के वैराग्यप्रेरक पूर्वभव एवं चरित्र सुनकर संसार से भयभीत हो गया और पिता-पुत्र आदि समस्त बन्धुजनों को छोड़कर बड़ी विनय से जिनेन्द्र भगवान के पास पहुँचा और उनसे अनुमति ले दीक्षा ग्रहण कर तप करने लगा। गजकुमार की जिन कन्याओं के साथ सगाई हो रही थी,

उन सभी ने भी संसार से विरक्त हो जिनदीक्षा धारण कर ली।

एक समय गजकुमार मुनि रात्रि में एकान्त में प्रतिमा योग से विराजमान होकर ध्यान कर रहे थे। उससमय उनके श्वसुर सोमशर्मा को इस बात से क्रोध आया कि उसकी बेटी को निराश्रय छोड़कर गजकुमार मुनि क्यों हो गया ? यदि उसे मुनि होना ही था तो शादी ही क्यों की? उस बिचारे मोही प्राणी को क्या पता कि वैराग्य क्या वस्तु है ? और कब, कैसे हो जाता है ? वह तो अपनी पुत्री के मोह में पागल सा हो गया था। अतः विवेक शून्य होकर उसने अपने सगे जमाई और आत्मसाधना में लीन मुनिराज के मस्तक पर धधकती हुई अंगारों से भरी आग की सिगड़ी रख दी।

मुनि गजकुमार उस आई आपत्ति को उपसर्ग मानकर स्थिर चित्त हो ध्यानस्थ रहे और उसी जलती हुई अवस्था में शुक्लध्यान द्वारा कर्मों का क्षय कर अन्तकृत्केवली हो मोक्ष चले गये। यक्ष, किन्नर, गन्धर्व और महोरम आदि सुर और असुरों ने उनकी पूजा की।

गजकुमार मुनिराज के चिर-वियोग से सभी यादव बहुत दुःखी हुए। वसुदेव को छोड़कर शेष यादव समुद्रविजय आदि तो मुक्ति की भावना से दीक्षित हो ही गये। शिवा आदि देवियाँ तथा देवकी और रोहणी को छोड़कर वसुदेव की अन्य पत्नियों एवं पुत्रियों ने भी दीक्षा ले ली।

भगवान तीर्थंकर नेमिजिनेन्द्र भव्य जीवों को प्रबोधित करते हुए नाना देशों में बड़े-बड़े राजाओं को धर्म में स्थिर करते हुए चिरकाल तक विहार कर पुनः समोशरण सहित गिरनार पर्वत पर वापस लौट आये।

द्वारिका की अन्तःपुर की रानियाँ, मित्रजन, द्वारिका की प्रजा तथा प्रद्युम्न सहित वसुदेव, बलदेव तथा श्रीकृष्ण भी बड़ी विभूति के साथ आये और भगवान नेमिनाथ को नमस्कार कर समोशरण में यथास्थान बैठ गये और धर्म का श्रवण करने लगे।

उससमय बलदेव के मन में प्रश्न हुआ – हे भगवान ! यह द्वारिकापुरी इन्द्र द्वारा रची गई है सो इसका विघटन होना तो निश्चित ही है; क्योंकि जो किसी के द्वारा बनाई जाती है, उसका विनाश तो अवश्य होता ही है। यह प्रकृति का अकाट्य सिद्धान्त है कि जो वस्तु कृत्रिम होती है, वह नश्वर ही होती है। अतः मैं यह जानना चाहता हूँ कि इसका विनाश कब और किसके द्वारा होगा ? क्या द्वारिकापुरी अपने आप समुद्र में डूब जायेगी ? श्रीकृष्ण की मृत्यु का निमित्त कारण कौन बनेगा ? क्योंकि उत्पन्न हुए समस्त जीवों का मरण तो निश्चित ही है।

हे प्रभो ! मेरा राग कृष्ण के प्रति बहुत है, मेरा यह मोह कम होकर मुझे संयम की प्राप्ति कितने समय बाद होगी ?

इसप्रकार बलदेव के द्वारा प्रश्न पूछने पर समस्त चराचर पदार्थों को जाननेवाले श्री नेमिजिनेन्द्र की दिव्यध्वनि में आया – हे बलदेव ! ये द्वारिकापुरी बारहवें वर्ष में मदिरा के निमित्त से द्वैपायन मुनि के द्वारा क्रोधवश भस्म होगी। श्रीकृष्ण अपने अन्तिम समय में कौशाम्बी के वन में शयन करेंगे और जरतकुमार उनके विनाश में निमित्त बनेंगे। अन्तरंग कारण के रहते हुए बाह्य हेतु कुछ न कुछ तो होता ही है – ऐसा ज्ञानी जानते हैं, अतः वे हर्ष-विषाद नहीं करते।

हे बलदेव ! संसार के दुःखों से भयभीत आपको भी उसीसमय कृष्ण की मृत्यु का निमित्त पाकर तप की प्राप्ति होगी तथा तप करके आप ब्रह्म स्वर्ग में उत्पन्न होंगे।

द्वैपायन रोहणी का भाई और आपका मामा है। वे संसार से विरक्त हो मुनि होकर वन में जाकर तप करने लगे हैं, उन्हें ज्ञात हो गया था कि मेरे निमित्त से बारह वर्ष बाद द्वारिका जलेगी। अतः उस पाप से बचने के लिए वे बारह वर्ष का समय बचाने के लिए पूर्व दिशा की ओर चले गये हैं।

इसीप्रकार जरतकुमार को भी ज्ञात हो गया था कि मेरे निमित्त से श्रीकृष्ण की मृत्यु होगी, अतः वह

भी दुःखी हुआ और भाई-बन्धुओं को छोड़कर ऐसी जगह चला गया, जहाँ श्रीकृष्ण के दर्शन ही न हों।

परन्तु यह अटल नियम है कि होनी को कोई टाल नहीं सकता, जब, जिसके निमित्त से, जो होना है, वह, तब, उसी के निमित्त से होकर रहता है, उसे इन्द्र और जिनेन्द्र भी आगे-पीछे नहीं कर सकते, टाल भी नहीं सकते।

लाखों-लाख प्रयत्न करने पर भी दोनों घटनायें हुईं। द्वारिका द्वैपायन मुनि के निमित्त से ही जली और श्रीकृष्ण का निधन जरतकुमार के बाण से ही हुआ - ऐसी श्रद्धा से ज्ञानी किसी भी घटना में हर्ष-विषाद नहीं करते।

यद्यपि श्रीकृष्ण ने द्वारिका में पूर्ण शराब-बन्दी करा दी थी। जो शराब तैयार थी, उसे भी जंगलों में दूर-दूर तक फैक दिया था; परन्तु वह फैकी हुई शराब पत्थरों के कुण्डों में पड़ी-पड़ी ज्यों-ज्यों पुरानी पड़ी त्यों-त्यों अधिक मादक होती गई।

श्रीकृष्ण ने यह भी घोषणा करा दी कि जिनेन्द्र के वचन अन्यथा नहीं होते, अतः जो विरागी होकर आत्मा के कल्याण में लगना चाहें, मुनि होकर मोक्षमार्ग में अग्रसर होना चाहें वे खुशी-खुशी जा सकते हैं, परन्तु जो भव्य सम्यग्दृष्टि थे, जिनेन्द्र की वाणी में विश्वास करते थे, वे तो मुनि होकर मोक्षमार्ग साधने लगे और जो मिथ्यादृष्टि थे, कर्तृत्वबुद्धि से ग्रसित थे, वे उन कारणों को दूर करने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने सोचा - 'न रहे बांस न बजे बांसरी' अतः द्वैपायन को ही खत्म कर दो और जो शराब निमित्त बननेवाली है, उसे ही जंगलों में फिकवा दी जाये, जब कारण ही नहीं रहेगा तो द्वारिका भस्म होने का कार्य कहाँ से होगा ? परन्तु द्वैपायन मुनि लोंड़ का महीना अर्थात् अधिक माह गिनना भूल जाने से बारहवें वर्ष में ही द्वारिका के जंगल में जा पहुँचे। उधर उसी समय वनक्रीड़ा को आये शम्ब आदि कुमारों ने जंगल के कुण्डों में पड़ी मादक शराब पी ली, जिससे वे उन्मत्त हो गये। उन्होंने द्वैपायन को पहचान लिया और उसे मारने की चेष्टा करने लगे। इससे वे क्रोधित हो उठे। यह बात कृष्ण और बलदेव को मालूम हुई तो उन्होंने

द्वैपायन को शान्त करने की बहुत कोशिश की; किन्तु वे शान्त नहीं हुए। क्रोध में उनका शरीर जलकर भस्म हो गया और वे मरकर अग्निकुमार नामक मिथ्यादृष्टि भवनवासी देव हुए। उन्होंने विभंगावधिज्ञान से सब जान लिया और क्रोधावेश में द्वारिका को भस्म करने लगे

श्रीकृष्ण एवं बलदेव ने माता-पिता और अन्य महत्त्वपूर्ण लोगों को बचाने का प्रयत्न किया तो उस क्रोधी देव ने सब तरह से आक्रमण करके सबको नष्ट-भ्रष्ट करने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी।

--

--

--

‘भवितव्यता दुर्निवार है’ अन्यथा जिस द्वारिका नगरी की रचना इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने की हो, कुबेर ही जिसका रक्षक हो, वह नगरी अग्नि के द्वारा कैसे जल जाती? हे बलदेव और हे कृष्ण! हम लोग चिरकाल से अग्नि के भय से पीड़ित हो रहे हैं, हमारी रक्षा करो, इसप्रकार स्त्री, बालक और वृद्धजनों के घबराहट से भरे शब्द सर्वत्र व्याप्त हो रहे थे। घबराये हुए बलदेव और श्रीकृष्ण नगर का कोट तोड़ समुद्र के जल से अग्नि को बुझाने लगे तो वह जल तैलरूप में परिणत हो गया। उन दोनों ने द्वारिका के जन जीवन की रक्षा करने के जो भी प्रयत्न किए, वे सभी असफल रहे। जब अन्त में कृष्ण और बलदेव ने पैर के आघात से नगर के कपाट गिरा दिए तो द्वैपायन के जीव शत्रु दैत्य ने कहा - “तुम दोनों भाइयों के सिवाय किसी अन्य का निकलना संभव नहीं है।”

यह जानकर दोनों माताओं और पिता वसुदेव ने कहा कि हे पुत्रो! तुम जाओ। तुम दोनों के जीवित रहने से वंश का घात नहीं होगा। माता-पिता को शान्त कर उनकी आज्ञा का पालन कर वे दोनों दुःखी मन से द्वारिका से निकल कर दक्षिण की ओर चले गये।

इधर वसुदेव आदि यादव तथा उनकी स्त्रियाँ सन्यासपूर्वक देह त्याग कर स्वर्ग में उत्पन्न हुए। जो चरम शरीरी थे, वे ध्यानस्थ हो गये। अग्नि केवल उनके देह ही जला पायी, वे तो रागादि विकार और कर्मों को

जलाकर मुक्त हो गया। जो सम्यग्दर्शन से पवित्र थे, वे मृत्यु के भय से निर्भय हो समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण कर सद्गति को प्राप्त हुए। वे मनुष्य धन्य हैं जो संकट आने पर, अग्नि की शिखाओं के बीच भी ध्यानस्थ अग्नि से विकार को जलाकर अपने मनुष्यभव को सार्थक कर लेते हैं। जो तप निज व पर को सुखी करनेवाला है, वही उत्तम है, प्रशंसनीय है तथा जो तप द्वैपायन मुनि की भांति निज व पर को कष्टदायक है, वह उत्तम नहीं है।

दूसरों का अपकार करनेवाला पापी मनुष्य दूसरों का वध तो एक जन्म में करता है, पर उसके फल में अपना वध जन्म-जन्म में करता है तथा अपना संसार बढ़ाता रहता है। असहनशील व्यक्ति दूसरे का अपकार किसी तरह भी कर सकता है, परन्तु ध्यान रहे, दूसरों को दुःखी करनेवाले को स्वयं भी दुःख की परम्परा ही प्राप्त होती है।

विधि के वशीभूत हुए क्रोध से अन्धे द्वैपायन मुनि ने जिनेन्द्र के वचनों का उल्लंघन कर बालक, स्त्री, पशु और वृद्धों को जो वस्तुतः दया के पात्र थे, उन्हें जलाकर अपने ही दुःख की खेती की। इतनी ही क्रोध की शक्ति है, इनके शरीर की इतनी ही क्षमता है, इनकी कषाय परिणति की ऐसी ही विचित्र योग्यता है। इस खोटी प्रवृत्ति करने के लिए ये बेचारे विवश हैं; क्योंकि इनके औदयिक व क्षायोपशमिक भाव ही इस जाति के हैं। अतः इस समय ये बेचारे न कुछ सीख सकते हैं, न कुछ समझ ही सकते हैं। और न इनके वर्तमान विभावस्वभाव में किसी प्रकार के परिवर्तन की सम्भावना ही है; फिर भी हम इन पर दया करने के बजाय क्रोध क्यों करे ? सचमुच ये तो दया के पात्र हैं। हम इनसे क्यों उलझते हैं ? यदि हम भी इन्हीं की भांति उलझते हैं तो फिर हमारे स्वाध्याय का लाभ ही क्या ?

कदाचित् कषायांश वश उलझ भी जायें तो यथाशीघ्र सुलझने की ओर प्रयासरत हो जाना चाहिए। वस्तुतः यही सुखी जीवन का रहस्य है।

- सुखी जीवन, पृष्ठ-१०४-

‘संसार में पुण्य-पाप का खेल भी विचित्र है और होनहार बलवान है, उसे कोई टाल नहीं सकता।’ श्रीकृष्ण और बलदेव के जीवन की अनेक घटनायें इस बात की प्रबल प्रमाण हैं। जो बलदेव और श्रीकृष्ण पहले सूर्योदय के पूर्वाह्न की भाँति पुण्योदय से लोकोत्तर उन्नति करते रहे, वे जीवन के अन्तिम क्षणों में बन्धुजनों से भी बिछुड़ गये, शोकाकुल हो गये।

जीवित रहने की आशा से बलदेव और श्रीकृष्ण दोनों भाई दक्षिण दिशा की ओर चले। वहाँ वे भूख-प्यास से व्याकुल होकर किसी आश्रम की तलाश करने लगे। पाण्डवों के सहयोग प्राप्त करने की आशा से दक्षिण मथुरा की ओर जा रहे थे कि मार्ग में हस्तप्रभ नगर में पहुँचे। वहाँ कृष्ण तो उद्यान में ठहर गये और बलदेव वस्त्र से शरीर ढककर (वेष बदलकर) भोजन-पानी के लिए नगर में गये, वहाँ भोजन-पानी लेकर वे नगर के बाहर निकल ही रहे थे कि राजा के पहरेदारों ने उन्हें पहचान लिया और राजा को खबर कर दी। वह राजा धृतराष्ट्रके वंश का था, यादवों के दोष देखनेवाला था, अतः उसने उनके वध के लिए सेना भेज दी।

श्रीकृष्ण ने हाथी को बाँधने का खम्भा और सांकल उठाई और उसे ही हथियार बनाकर सारी सेना को खदेड़ दिया तथा भोजन-पानी लेकर वन में चले गये। रास्ते में सरोवर में स्नानकर जिनेन्द्र का स्मरण कर भोजन किया और कौशाम्बी वन में पहुँच गये। वहाँ पानी मिलने की कोई संभावना नहीं थी। कृष्ण प्यास से व्याकुल हो गये। उन्होंने बलदेव से कहा - “हे आर्य ! यह पानी तो बहुत पिया अब इस सारहीन संसार में सम्यग्दर्शन के समान तृष्णा को दूर करनेवाला शीतल जल पिलाइए।”

इसप्रकार कृष्ण के कहने पर स्नेह से भरे बलदेव ने कहा - हे भाई ! मैं शीघ्र शीतल पानी की व्यवस्था

करता हूँ, तुम निराश मत होओ। मैं जब लेकर आता हूँ, तबतक तुम जिनेन्द्र के स्मरणरूपी जल से प्यास को दूर करो। भाई ! यह पानी तो थोड़े समय के लिए ही प्यास दूर करता है; पर जिनेन्द्र का स्मरण रूपी जल तो तृष्णा के जल को जड़-मूल से नष्ट कर देता है।

बलदेव पानी लेने गये और कृष्ण वृक्ष की छाया में चादर ओढ़कर विश्राम करने लगे। शिकारप्रेमी जरतकुमार अकेला उस वन में घूम रहा था। भाग्य की बात देखो, श्रीकृष्ण के स्नेह से भरा जो उनके प्राणों की रक्षा की भावना छोड़ द्वारिका से वन में जाकर उनसे दूर भाग रहा था ताकि वह तीर्थकर नेमिनाथ की घोषणा के अनुसार अपने भाई की मौत का कारण न बने। उसी जरतकुमार का तीर भ्रमवश उनके मौत का कारण बन गया। उससमय “यही तो विधि की विडम्बना है, जिसे अज्ञानी जीव समझ नहीं पाते और अपने कर्तृत्व के अहंकार से संसारचक्र में फँसे रहते हैं। श्रीकृष्ण ने कहा – भाई ! शोक मत करो ‘होनहार अलंघनीय है और करनी का फल तो भोगना ही पड़ता है। कभी किसी को हमने सताया होगा, चलो ठीक है, कर्ज चुक गया। मरना तो था ही, अब ऐसी भूल की पुनरावृत्ति न हो यह भावना भा लें। देखो, जो श्रीकृष्ण और बलदेव, जीवन भर तो क्या आज भी अपने सत्कर्मों से, देश और समाज की सेवा से, दीन-दुःखियों की पीड़ा को समझने और उसे दूर करने से भगवान बनकर पुज रहे हैं। वैभव में अर्द्धचक्री, अपार शक्तिसम्पन्न, महाभारत में अन्याय के विरुद्ध सत्य का साथ देकर विजय दिखानेवाले थे; उनके जन्म और मृत्यु की कहानी हमें स्पष्ट संदेश दे रही है कि -

करम फल भुगतहिं जाय टरै।
 पार्श्वनाथ तीर्थकर ऊपर कमठ उपसर्ग करे।
 एक वर्ष तक आदि तीर्थकर बिन आहार रहे।
 रामचन्द्र चौदह वर्षों तक वन-वन जाय फिरें।
 करम फल भुगतहिं जाय टरै ॥१॥

कृष्ण सरीखे जगत मान्य जन, परहित जिये-मरे ।
 फिर भी भूलचूक से जो जन करनी यथा करे ॥
 उसके कारण प्राप्त कर्मफल, भुगतहि जाय झरै ।
 करम फल भुगतहि जाय टरै ॥२॥

जनम जैल में शरण ग्वालघर, बृज में जाय छिपै ।
 जिनके राजकाज जीवन में, दूध की नदी बहै ॥
 वे ही चक्री अन्त समय में, नीर बूँद तरसै ।
 करम फल भुगतहि जाय टरै ॥३॥

जरत कुंवर जिसकी रक्षाहित, वन-वन जाय फिरै ।
 अन्त समय में वही मौत के, कारण आय बने ॥
 ऐसी दशा देख कर प्राणी, क्यों नहिं स्वहित करै ।
 करम फल भुगतहि जाय टरै ॥४॥

बहुत भले काम करने पर भी यदि कभी/किसी का/जाने/अनजाने दिल दुःखाया होगा, अहित हो गया होगा अथवा अपने कर्तृत्व के झूठे अभिमान में पापार्जन किया होगा तो वह भी फल दिए बिना नहीं छूटता । तीर्थंकर मुनि पार्श्वनाथ पर कमठ का उपसर्ग, आदि तीर्थंकर ऋषभमुनि को एक वर्ष तक आहार में अन्तराय इस बात के साक्षी हैं कि तीर्थंकर जैसे पुण्य-पुराण पुरुषों को भी अपने किए पूर्वकृत कर्मों का फल भोगना ही पड़ा था ।

अतः हमें इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखने की जरूरत है कि भूल-चूक से भी, जाने-अनजाने में भी हम किसी के प्राण पीड़ित न करें । अपने जरा से स्वाद के लिए हिंसा से उत्पन्न आहार ग्रहण न करें अपनी पूरी दिनचर्या में अहिंसक आचरण ही करें । अन्यथा जब उपर्युक्त पौराणिक पुरुषों की यह दशा हुई है तो हमारा कहना ही क्या ?

भगवान नेमीनाथ के समोशरण में दिव्यध्वनि खिर रही है, जिज्ञासु शांत होकर शांतभाव से सुन रहे हैं। एक जिज्ञासु को जिज्ञासा जगी – हे प्रभो ! विश्वदर्शन की दृष्टि में सुखी होने का मूल मंत्र क्या है ? निराकुल होने का सच्चा उपाय क्या है ? धर्म का स्वरूप तो सुखद है, फिर उसे पाने में कष्ट क्यों है ?

दिव्यध्वनि में समाधान आया – तुम ठीक कहते हो। बात ऐसी ही है, धर्म में कष्ट नहीं है। धर्म कष्टमय नहीं है। सुनो ! वस्तुस्वातन्त्र्य का सिद्धान्त किसी धर्मविशेष या दर्शनविशेष की मात्र मानसिक उपज या किसी व्यक्ति विशेष का वैचारिक विकल्प मात्र नहीं है; बल्कि यह सम्पूर्ण भौतिक एवं जैविक जगत की अनादि-अनन्त स्व-संचालित सृष्टि का स्वरूप है, ऑटोमेटिक विश्वव्यवस्था है। विश्वव्यवस्था ही विश्वदर्शन है, यही जैनदर्शन है।

इस जगत में जितने चेतन व अचेतन पदार्थ हैं, जीव-अजीव द्रव्य हैं; वे सब सम्पूर्ण स्वतन्त्र हैं, स्वावलम्बी हैं। उनका एक-एक समय का परिणमन भी पूर्ण स्वाधीन है।

जो किसी न किसी रूप में ईश्वरीय कर्तृत्व में आस्था रखते हैं, यह बात उनके गले उतारना आसान नहीं है; क्योंकि जनसाधारण की जन्मजात श्रद्धा बदलना सरल नहीं होता। ईश्वरवादियों की तो बात ही दूर; जो ईश्वरवादी नहीं हैं, वे भी अनादिकालीन अज्ञान के कारण पर में एकत्व-ममत्व एवं कर्तृत्व के संस्कारों के कारण पर के कर्ता-धर्ता बने बैठे हैं। उन्हें भी यह सिद्धान्त समझाना टेढ़ी खीर है।

जनसाधारण की तो क्या बात करें ? दर्शनशास्त्र के धुरन्धर विद्वान भी अपने पूर्वाग्रहों के व्यामोह से इस तथ्य को स्वीकार करने में 'न च नु च' करने से नहीं चूकते और यह सत्य तथ्य समझे बिना धर्म का फल पाना तो दूर, धर्म का अंकुर भी नहीं उगता।

“देखो ! वस्तुस्वातन्त्र्य एक ऐसा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है कि जिसके बिना धर्म की कल्पना ही नहीं की जा सकती।”

अस्तु सुनो ! प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के गुण होते हैं - एक सामान्य और दूसरा विशेष। जो गुण सभी द्रव्यों में रहते हैं, उन्हें सामान्य गुण कहते हैं। जैसे - अस्तित्व गुण सब द्रव्यों में पाया जाता है। अतः यह सामान्य गुण हुआ। वस्तुत्वगुण भी उन्हीं सामान्य गुणों में से एक गुण है तथा जो गुण सब द्रव्यों में न रहकर अपने-अपने द्रव्यों में रहते हैं, उन्हें विशेष गुण कहते हैं। जैसे - ज्ञान, दर्शन गुण केवल आत्मा में ही होते हैं, अन्य पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य में नहीं; अतः ये जीव द्रव्य के विशेष गुण हैं। इसीतरह पुद्गल द्रव्य में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, धर्मद्रव्य में गतिहेतुत्व, अधर्मद्रव्य में स्थितिहेतुत्व, आकाशद्रव्य में अवगाहनहेतुत्व और कालद्रव्य में परिणमनहेतुत्व - विशेष गुण हैं।”

“वैसे तो प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं, सामान्य गुण भी अनेक हैं, परन्तु उनमें छह मुख्य हैं - अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व।

१. जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कभी भी अभाव नहीं होता, उसे अस्तित्व गुण कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य में यह अस्तित्व गुण है, अतः प्रत्येक द्रव्य की सत्ता स्वयं से है, उसे किसी ने बनाया नहीं है और न कोई उसे मिटा सकता है; क्योंकि वह अनादि-अनन्त है।

इसी अस्तित्व गुण की अपेक्षा से द्रव्य का लक्षण सत् किया जाता है। देखो ! सत् का कभी विनाश नहीं होता और असत् का कभी उत्पाद नहीं होता। मात्र पर्याय पलटती है।

इस अस्तित्व गुण के यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान से जीव मृत्युभय से तो मुक्त हो ही जाता है, कर्ताबुद्धि के अगणित दोषों से भी बच जाता है।” किसी ने ठीक ही कहा है -

“कर्ता जगत का मानता जो कर्म या भगवान को।
वह भूलता है लोक में अस्तित्व गुण के ज्ञान को ॥”

२. “जिस शक्ति के कारण द्रव्य में अर्थक्रियारित्व अर्थात् प्रयोजनभूत क्रिया हो; उसे वस्तुत्व गुण कहते

हैं। इस गुण की मुख्यता से ही द्रव्य को वस्तु कहते हैं। लोक में प्रत्येक वस्तु अपने-अपने प्रयोजन से युक्त है। कोई भी वस्तु अपने आप में निरर्थक नहीं है और पर के किसी भी प्रयोजन की नहीं है। एक वस्तु को दूसरी वस्तु के सहयोग की आवश्यकता नहीं; क्योंकि सभी वस्तुओं में अपना-अपना स्वतन्त्र वस्तुत्व गुण विद्यमान है।”

सुनो! तीसरा सामान्य गुण द्रव्यत्व गुण है - जिस शक्ति के कारण द्रव्य की अवस्था निरन्तर बदलती रहे, उसे द्रव्यत्व गुण कहते हैं। इसी की मुख्यता से वस्तुओं को द्रव्य संज्ञा प्राप्त है।

इस गुण की प्रमुख विशेषता यह है कि - परद्रव्य के सहयोग की अपेक्षा बिना ही यह गुण वस्तु को स्वतंत्र रूप से निरन्तर परिणामनशील रखता है। अतः एक द्रव्य में होने वाले सतत् परिवर्तन का कारण कोई अन्य द्रव्य नहीं है। किसी भी द्रव्य को अपने परिणामन में किसी अन्य द्रव्य या गुण की आवश्यकता नहीं है।”

४. जिस शक्ति के कारण द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय बने, उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं।

इस गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य अवश्य ही जाना जा सकता है। इस जगत में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो अज्ञात रहे; क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में प्रमेयत्व गुण पाया जाता है।

“आत्मा भी एक वस्तु है, उसमें भी प्रमेयत्व गुण है, अतः वह भी जाना जा सकता है। बस, थोड़ा-सा पर व पर्याय पर से उपयोग हटाकर आत्मा की ओर अन्तर्मुख करने की देर है कि समझ लो आत्मा का दर्शन हो गया, सम्यग्दर्शन हो गया।

आत्मा कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो, उसमें प्रमेयत्व गुण है न ? जिसमें प्रमेयत्वगुण है, वह भले सूक्ष्म हो तो भी ज्ञान की पकड़ में आता ही है।”

५. जिस शक्ति के कारण द्रव्य में द्रव्यपना कायम रहता है, एकद्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता, एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता और द्रव्य में रहनेवाले अनन्त गुण बिखर कर अलग-अलग नहीं होते, उसे अगुरुलघुत्वगुण कहते हैं।

यह वस्तुव्यवस्था सुन श्रोता गद्गद् हो गये उनके मुँह से सहज ही निकला - “वाह ! यह गुण भी गजब गुण है। यह द्रव्यों और गुणों के स्वतंत्र अस्तित्व को सुरक्षित रखता है, द्रव्य का द्रव्यत्व और प्रत्येक गुण के स्वतंत्र स्वरूप को कायम रखता है। सचमुच लोक की यह वस्तुव्यवस्था भी बड़ी विचित्र है। सभी द्रव्यों में ये सामान्य गुण विद्यमान हैं जो वस्तु के स्वतंत्र और स्वावलम्बी होने का उद्घोष कर रहे हैं।”

और भगवन् ! प्रदेशत्व गुण का क्या स्वरूप है ?

“जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य रहता है, उसे प्रदेशत्व गुण कहते हैं।”

६. काश ! सब जीवों को इनका ऐसा यथार्थ ज्ञान हो जावे तो उनका अनन्त पराधीनता का दुःख दूर हुए बिना नहीं रहेगा। इसका सही ज्ञान होने पर हम परद्रव्यों के कर्तृत्व की चिन्ता से सदा के लिए मुक्त हो सकते हैं।

यद्यपि अपने में ऐसी कोई योग्यता नहीं है कि पर में कुछ किया जा सके; परन्तु यदि किसी की भली होनहार हो तो निमित्त तो बन ही सकते हैं; अतः भूमिका के विकल्पानुसार प्रयत्न करने में हानि भी क्या है?”
अतः प्रयत्न तो करना ही चाहिए।

षट्कारकों का स्वरूप

जिज्ञासु को मन में जिज्ञासा हुई - ये षट्कारक क्या हैं, इनका मोक्षमार्ग की उपलब्धि में क्या उपयोग है ?

हे भव्य ! निज कार्य के षट्कारक निजशक्ति से निज में ही विद्यमान हैं; किन्तु मिथ्यामान्यता के कारण अज्ञानी अपने कार्य के षट्कारक पर में खोजता है। यही मिथ्यामान्यता राग-द्वेष की जननी है। अतः कारकों का परमार्थ स्वरूप एवं उनका कार्य-कारण सम्बन्ध समझना अति आवश्यक है। ‘अविनाभाव’ वश जो बाह्यवस्तुओं में कारकपने का व्यवहार होता है, वह वस्तुतः अभूतार्थ है। जैसे कि - परद्रव्य की उपस्थिति के बिना कार्य न हो। जैसे - घट कार्य में कुंभकार, चक्र, चीवर आदि।

कारक ? “जो प्रत्येक क्रिया के प्रति प्रयोजक हो, जो क्रिया-निष्पत्ति में कार्यकारी हो, क्रिया का जनक हो; उसे कारक कहते हैं।

“करोति क्रियां निर्वर्तयति इति कारकः” यह कारक का व्युत्पत्त्यर्थ है।

तात्पर्य यह है कि जो किसी न किसी रूप में क्रिया व्यापार के प्रति प्रयोजक हो, कार्यकारी हो, वही कारक हो सकता है अन्य नहीं; कारक के छह भेद होते हैं। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण।

ये छहों क्रिया के प्रति किसी न किसी प्रकार से प्रयोजक हैं, कार्यकारी हैं, अतः इन्हें कारक कहा जाता है।

कर्ता कारक :- जो स्वतंत्रता से, सावधानीपूर्वक अपने परिणाम (पर्याय) या कार्य को करे, जो क्रिया व्यापार में स्वतंत्ररूप से कार्य का प्रयोजक हो, वह कर्ता कारक है। प्रत्येक द्रव्य अपने में स्वतंत्र व्यापक होने से अपने ही परिणाम का स्वतंत्र रूप से कर्ता है।

कर्म कारक :- कर्ता की क्रिया द्वारा ग्रहण करने के लिए जो अत्यन्त इष्ट होता है, वह कर्म कारक है। अथवा कर्ता जिस परिणाम (पर्याय) को प्राप्त करता है, वह परिणाम उसका कर्म है।

करण कारक :- क्रिया की सिद्धि में जो साधकतम होता है, वह करण कारक है अथवा कार्य या परिणाम के उत्कृष्ट साधन को करण कहते हैं।

सम्प्रदान :- कर्म के द्वारा जो अभिप्रेत होता है, वह सम्प्रदान है। या कर्म परिणाम जिसे दिया जाय अथवा जिसके लिए किया जाय वह सम्प्रदान है।

अपादान :- जिसमें से कर्म किया जाय वह ध्रुव वस्तु अपादान कारक है।

अधिकरण :- जो क्रिया का आधारभूत है, वह अधिकरण कारक है अथवा जिसके आधार से कर्म (कार्य) किया जाय, उसे अधिकरण कहते हैं।

सर्व द्रव्यों की प्रत्येक पर्याय में ये छहों कारक एकसाथ वर्तते हैं, इसलिए आत्मा और पुद्गल शुद्ध दशा में या अशुद्ध दशा में स्वयं छहों कारकरूप निरपेक्ष परिणामन करते हैं, दूसरे कारकों की अर्थात् निमित्त कारणों की अपेक्षा नहीं रखते।

निश्चय से पर-पदार्थों के साथ आत्मा को कारकता का सम्बन्ध नहीं है, जिससे शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिए पर सामग्री को खोजने की आकुलता से परतंत्र हुआ जाय। अपने कार्य के लिए पर की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। अतः पराधीनता से बस हो।

जिज्ञासा – ये विकारी पर्यायें अहेतुक है या सहेतुक?

समाधान – निश्चय से विकारी पर्यायें भी अहेतुक ही हैं; क्योंकि – प्रत्येक द्रव्य अपना परिणामन स्वतंत्र रूप से करता है। विकारी पर्याय के समय निमित्त रूप हेतु का आश्रय अवश्य होता है, इसकारण व्यवहार से उसे सहेतुक कहा जाता है। परमार्थ से अन्य द्रव्य के भाव का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं होता, इसलिए जो चेतन के भाव हैं, उनका कर्त्ता चेतन ही होता है, जड़ नहीं।

इस जीव को अज्ञानभाव से जो मिथ्यात्वादिरूप परिणाम हुए हैं, वे भी चेतन हैं, जड़ नहीं। अशुद्ध निश्चयनय से उन्हें चिदाभास भी कहा जाता है। इस प्रकार वे परिणाम चेतन होने से उनका कर्त्ता भी चेतन ही है; क्योंकि चेतन कर्म का कर्त्ता चेतन ही होता है – यह परमार्थ है। इतना विशेष है कि सभी कार्य निमित्त सापेक्ष होने मात्र से उन्हें व्यवहार से सहेतुक कहा जाता है।

“जिसप्रकार अपने योग्य (कार्य के अनुकूल) निमित्तरूप में चन्द्र-सूर्य के प्रकाश की उपलब्धि होने पर संध्या की लाली, बादलों के विभिन्न रंग तथा इन्द्रधनुष-प्रभामंडल आदि अनेक प्रकार के पुद्गल स्कंध भेद अन्य कर्त्ता की अपेक्षा बिना ही उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार निमित्तरूप में अपने योग्य (कर्मबंध के योग्य) जीव परिणाम की निमित्तरूप उपलब्धि होने पर ज्ञानावरणादि अनेक प्रकार के कर्म भी अन्य कर्त्ता की अपेक्षा बिना ही उत्पन्न होते हैं।”

तात्पर्य यह है कि - कर्मों की विविध प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुभाग रूप विचित्रता भी जीवकृत नहीं है, पुद्गलकृत ही है। जीव के परिणाम तो निमित्तरूप मात्र उपस्थित होते हैं, वे कर्मों के कर्ता नहीं होते।

प्रश्न : क्या जीव कर्म के उदयानुसार विकारी नहीं होता?

उत्तर : “नहीं, कभी नहीं; क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर तो सर्वदा विकार होता ही रहेगा; क्योंकि संसारी जीव के कर्मोदय तो सदा विद्यमान रहता ही है।”

प्रश्न : तो क्या पुद्गल कर्म भी जीव को विकारी नहीं करता ?

उत्तर : “नहीं, कदापि नहीं; क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की परिणति का कर्ता नहीं है।”

प्रश्न : अध्यात्म में सम्बन्ध एवं संबोधन कारक क्यों नहीं होते ?

उत्तर : वे क्रिया के प्रति प्रयोजक नहीं होते। जैसे - “देवदत्त जिनदत्त के मकान को देखता है” इस उदाहरण में देखने रूप क्रिया का प्रयोजक मात्र मकान है न कि जिनदत्त का। वह मकान किसी का भी हो, इससे देखने रूप क्रिया के प्रयोजन पर कोई फर्क नहीं पड़ता, इसलिए कारक छह ही हैं ‘सम्बन्ध कारक’ परमार्थ से कारक ही नहीं है।

संबोधन भी दूसरों का ही किया जाता है। सम्बन्ध एवं संबोधन पर से जोड़ते हैं और अध्यात्म में पर से कुछ भी संबंध नहीं होता। इस कारण अध्यात्म में सम्बन्ध एवं संबोधन कारक नहीं होते।

अध्यात्मदृष्टि से स्व में ही निज शक्तिरूप षट्कारक हों, तभी वस्तु पूर्ण स्वतंत्र एवं स्वावलम्बी हो सकती है।

सिद्धान्त रूप में भी जैनदर्शन में प्रत्येक वस्तु की स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा स्वतंत्र अस्तित्व की उद्घोषणा कर परचतुष्टय का उसमें नास्तित्व बतलाया है।

तात्पर्य यह है कि - प्रत्येक वस्तु का जितना भी ‘स्व’ है, वह स्व के अस्तित्वमय है। उसमें पर के अस्तित्व का अभाव है। सजातीय या विजातीय कोई भी वस्तु अपने से भिन्न स्वरूप सत्ता रखनेवाली किसी भी

अन्य वस्तु की सीमा को लांघकर उसमें प्रवेश नहीं कर सकती; क्योंकि दोनों के बीच अत्यन्ताभाव की वज्र की दीवार है, जिसे भेदना संभव नहीं है।

जो वस्तुविशेष जिस द्रव्यगुणमय है, वह अन्य द्रव्य या गुण रूप में संक्रमित नहीं होती। तो वह अन्य वस्तु-विशेष को कैसे परिणामा सकती है? अर्थात् नहीं परिणामा सकती।

“इस लोक में जो वस्तु जितने प्रमाण में जिस किसी चैतन्यस्वरूप या अचैतन्यस्वरूप द्रव्य या गुण में स्वरस से ही अनादिकाल से वर्त रही है वह ‘वास्तव में अपनी अचलित वस्तुस्थिति की सीमा का भेदन करना अशक्य होने के कारण उसी द्रव्य या गुण में वर्तती रहती है, वह दूसरे द्रव्य या दूसरे गुणरूप से संक्रमित नहीं होती तो अपने से भिन्न दूसरी वस्तु विशेष को कैसे परिणामा सकती है? अर्थात् नहीं परिणामा सकती। अतः परभाव का अन्य किसी के द्वारा किया जाना सम्भव नहीं है।”

उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं कर्ता होकर अपना कार्य करता है और करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण आदि छहों कारकरूप से द्रव्य स्वयं निज-शक्ति से परिणमित होता है। न तो द्रव्य सर्वथा कूटस्थ नित्य है और न ही सर्वथा निरन्वय (पर्याय) क्षणिक है; अपितु वह अर्थक्रिया करण शक्तिरूप है। वह अपने अन्वयरूप (गुणमय) स्वभाव के कारण एकरूप अवस्थित रहते हुए भी स्वयं उत्पाद-व्यय रूप है और व्यतिरेक (भेदरूप या पर्यायरूप) स्वभाव के कारण सदा परिणामनशील भी है। यही वस्तु का वस्तुत्व है।

तात्पर्य यह है कि - वह द्रव्यदृष्टि से ध्रुव है और पर्यायदृष्टि से उत्पाद-व्ययरूप है।

वस्तुतः उत्पाद, व्यय के बिना नहीं होता और व्यय, उत्पाद के बिना नहीं होता एवं उत्पाद और व्यय ध्रौव्य स्वरूप अर्थ के बिना नहीं होते। यही वस्तुस्थिति है।

प्रश्न : यदि यह बात है तो आगम में उत्पाद-व्ययरूप कार्य को पर सापेक्ष क्यों कहा ?

देखो भाई ! पर्यायार्थिकनय से तो प्रत्येक उत्पाद-व्ययरूप कार्य अपने काल में स्वयं के षट्कारकों से ही होता है, अन्य कोई उसका कर्ता-कर्म आदि नहीं है, फिर भी आगम में उत्पाद-व्ययरूप कार्य का जो

पर सापेक्ष कथन है, वह केवल व्यवहारनय (नैगमनय) की अपेक्षा से किया गया है।

प्रश्न : आत्मा की कौन-कौन-सी शक्तियाँ वस्तु के स्वतंत्र षट्कारकों की सिद्धि में साधक हैं ?

वैसे तो सभी शक्तियाँ वस्तु की स्वतंत्रता की ही साधक हैं, परन्तु कतिपय प्रमुख शक्तियाँ इसप्रकार हैं—

१. भावशक्ति :- इस शक्ति के कारण प्रत्येक द्रव्य अन्वय (अभेद) रूप से सदा अवस्थित रहता है। यह शक्ति पर कारकों के अनुसार होनेवाली क्रिया से रहित भवनमात्र है, अतः इस शक्ति द्वारा द्रव्य को पर कारकों से निरपेक्ष कहा है, इससे द्रव्य की स्वतंत्रता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

२. क्रियाशक्ति :- इस शक्ति के कारण प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप सिद्धकारकों के अनुसार उत्पाद-व्यय रूप अर्थक्रिया करता है।

३. कर्मशक्ति :- इस शक्ति से प्राप्त होने वाले अपने सिद्धस्वरूप को द्रव्य स्वयं प्राप्त होता है।

४. कर्त्ताशक्ति :- इस शक्ति से होने रूप स्वतः सिद्ध भाव का यह द्रव्य भावक होता है।

५. करण शक्ति :- इससे यह द्रव्य अपने प्राप्यमाण कर्म की सिद्धि में स्वतः साधकतम होता है।

६. सम्प्रदान शक्ति :- इससे प्राप्यमाण कर्म स्वयं के लिए समर्पित होता है।

७. अपादान शक्ति :- इससे उत्पाद-व्ययरूप होने पर भी द्रव्य सदा अन्वय रूप से ध्रुव बना रहता है।

८. अधिकरण शक्ति :- इससे भव्यमात्र (होने योग्य) समस्त भावों का आधार स्वयं द्रव्य होता है।

९. सम्बन्ध शक्ति :- प्रत्येक द्रव्य में सम्बन्ध नाम की भी एक ऐसी शक्ति है, जिससे किसी भी द्रव्य का अपने से भिन्न अन्य किसी द्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इससे यह सूचित होता है कि प्रत्येक द्रव्य अपना ही स्वामी है।

इसप्रकार वस्तु के स्वतंत्र षट्कारकों की सिद्धि में उपर्युक्त शक्तियाँ साधक हैं। इन्हीं से प्रत्येक द्रव्य की सभी पर्यायें कारकान्तर निरपेक्ष सिद्ध होती हैं। यह वस्तुस्वातन्त्र्य वीतरागता का प्रबल हेतु है। ●

नोट - इस विषय की विशेष और स्पष्ट जानकारी के लिए लेखक की कृति 'षट्कारक : एक अनुशीलन' अवश्य पढ़ें।

समस्त देव समूहों से सहित भगवान नेमिनाथ पुनः उपदेश करते हुए उत्तरापथ से सुराष्ट्र देश की ओर अर्थात् उत्तर से दक्षिण की ओर आये। जब नेमिनाथ प्रभु के निर्वाण का समय निकट आया तो वे मनुष्यों एवं सुर-असुरों से सेवित होते हुए अपने आप गिरनार पर्वत पर आरूढ़ हो गये। वहाँ तत्काल समोशरण रचा गया, प्रभु का अन्तिम उपदेश भी प्रथम उपदेश की भांति ही खूब विस्तार से हुआ। कृतकृत्य जिनेन्द्र भगवान का उपदेश स्वभाव से ही होता है, किसी की प्रेरणा से नहीं। तदनन्तर योग-निरोध करनेवाले भगवान नेमिनाथ अघातिया कर्मों का अन्त कर सैकड़ों मुनियों के साथ निर्वाणधाम को प्राप्त हो गये। चारों निकायों के देव-देवेन्द्रों ने तीर्थंकर नेमिनाथ का निर्वाण कल्याणक मनाया।

तीर्थंकर नेमिनाथ के पिता समुद्रविजय एवं उनके नौ भाई, देवकी के युगलिया छह पुत्र तथा शंब और प्रद्युम्न आदि अन्य मुनिराज भी गिरनार पर्वत से मुक्त हुए।

धीर-वीर पाँचों पाण्डव मुनि तो हो ही गये थे, भगवान नेमिनाथ का मोक्ष हुआ जान शत्रुंजय पर्वत पर वे भी प्रतिमायोग से विराजमान हो गये। उस समय वहाँ दुर्योधन के वंश का क्षुयवरोधन नाम का व्यक्ति रहता था। ज्यों ही उसने पाँचों पाण्डवों को देखा, त्यों ही पूर्व वैर वश उसने पाण्डवों पर घोर उपसर्ग करना प्रारंभ कर दिया। लोहे के कड़े-कुण्डल अग्नि में गर्म कर पहना दिये। पाँचों पाण्डव धीर-वीर थे। वस्तुस्वरूप का और कर्मोदय के निमित्त-नैमित्तिक ज्ञान के ज्ञाता थे। अतः अन्तर्मुखी उग्र पुरुषार्थ से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन ने तो अन्तर्मुहूर्त में सर्व कर्मों का क्षय कर मुक्ति प्राप्त की तथा नकुल और सहदेव अपनी होनहार के अनुसार सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुए।

मनुष्यों में श्रेष्ठ नारद भी दीक्षा ले तप के बल से संसार का क्षय कर अविनाशी मुक्तिपद को प्राप्त हो गये।

तुंगगिरि के शिखर पर स्थित बलदेव ने भी संसारचक्र का क्षय करने में उद्यत हो नानाप्रकार से तप किया व छह-छह मासों के उपवास कर अन्तर्मुखीवृत्ति को दृढ़ किया - ऐसा करने से उनकी कषायें और काया क्षीण होती गयी। आत्मबल निरन्तर बढ़ता गया। बलदेव मुनिराज वन में विहार करने लगे। जब यह बात नगर-नगर एवं गाँव-गाँव में फैल गयी तो इस बात को सुनकर समीपवर्ती शत्रुता रखनेवाले राजा क्षुभित हो सशस्त्र वहाँ जा पहुँचे।

नानाप्रकार के शस्त्रों से सुसज्जित राजाओं को आया देख देव सिद्धार्थ ने मुनि बलदेव के प्रभाव को दर्शाने के लिए उस वन में सिंहों के समूह रच दिए। जब आगत राजाओं ने मुनिराज बलदेव के चरणों के समीप सिंहों को देखा तो वे उनकी सामर्थ्य को जानकर उनसे अपना शत्रुता का भाव छोड़कर तथा उन्हें नमस्कार कर शान्त भाव को प्राप्त हो गये। तभी से मुनि बलदेव नरसिंह पद से प्रसिद्ध हो गये।

इसप्रकार १०० वर्ष तक तपकर बलदेव मुनिराज ने अन्त में समाधि धारण कर ब्रह्मलोक में इन्द्रपद पाया।

श्रीकृष्ण के बाद उनके छोटे भाई जरतकुमार जब राज्य शासन करने लगे तब उनके प्रति प्रजा ने बहुत आदर प्रगट किया। कलिंग राजा की पुत्री जरतकुमार की उत्तम पटरानी थी। उससे राजकुल की ध्वजास्वरूप वसुध्वज नामक पुत्र हुआ। हरिवंश के शिरोमणि उस युवा पर पृथ्वी का भार रख जरतकुमार तप के लिए वन को चला गया।

वसुध्वज के सुवसु नामक सुयोग्य पुत्र हुआ। सुवसु के कलिंग देश की रक्षा करनेवाला भीमवर्मा पुत्र हुआ और इसी क्रमस्वरूप उस कुल में अनेकों राजा हुए। उसी वंश का आभूषण कपिष्ठ नाम का राजा हुआ, उसके अजातशत्रु, उससे शत्रुसेन, शत्रुसेन से जितारि और जितारि के जितशत्रु नाम का पुत्र हुआ।

यह वही जितशत्रु है, जिसके साथ भगवान महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ की छोटी बहिन का विवाह हुआ था। जो अत्यन्त प्रतापी और शत्रुओं को जीतनेवाला था।

जब भगवान महावीर का जन्मोत्सव हो रहा था, तब यह कुण्डलपुर आया था और राजा सिद्धार्थ ने इस परम-मित्र का अच्छा सत्कार किया। इसकी यशोदा नाम की पुत्री थी, वह भगवान महावीर के साथ यशोदा का विवाह करने का अभिप्राय रखता था; परन्तु स्वयम्भू भगवान महावीर तप के लिए चले गये और केवलज्ञान प्राप्त कर जगत का कल्याण करने के लिए पृथ्वी पर विहार करने लगे। तब जितशत्रु स्वयं भी संसार से विरक्त हो मुनिधर्म धारण कर तप में लीन हो गये और जितशत्रु ने भी केवलज्ञान प्राप्त कर अपनी मनुष्यपर्याय सार्थक कर ली। इसप्रकार दसवें तीर्थकर के तीर्थकाल से हरिवंश की उत्पत्ति हुई और पार्श्वनाथ के तीर्थ तक यह परम्परा अक्षुण्णरूप से चलती रही। इस वंश में सहस्रों जीवों ने आत्मसाधना का अपूर्व पुरुषार्थ करके मुक्ति प्राप्त की एवं अनेकों ने स्वर्ग के श्रेष्ठ पद प्राप्त किये।

सभी जीव हरिवंश कथा को पढ़कर इससे मोक्षमार्ग की प्रेरणा लेकर अपना मनुष्यभव सार्थक करें – यही मंगल कामना है। शुभं भूयात्। ●

मैं एक शाश्वत सत्य हूँ,
ध्रुव-धाम हूँ चैतन्यमय।
मैं हूँ अनादि-अनंत जब,
तब क्यों सतावे मृत्यु भय ॥
बोधि-समाधि द्वार है,
निजरूप पाने की कला।
सन्यास और समाधि है,
जीना सिखाने की कला ॥

- विदाई की बेला, पृष्ठ-११४, हिन्दी संस्करण १० वाँ

लेखक के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

मौलिक कृतियाँ	अब तक प्रकाशित प्रतियाँ	कीमत
१. संस्कार (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	५६ हजार ५००	१८.००
२. विदाई की बेला (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	८५ हजार	१२.००
३. इन भावों का फल क्या होगा (हि. म., गु.)	४९ हजार	१८.००
४. सुखी जीवन (हिन्दी) (नवीनतम कृति)	२३ हजार	१६.००
५. णमोकार महामंत्र (हि., म., गु., क.)	६७ हजार ५००	६.००
६. जिनपूजन रहस्य (हि., म., गु., क.)	१ लाख ७९ हजार २००	४.००
७. सामान्य श्रावकाचार (हि., म., गु., क.)	७१ हजार २००	६.००
८. पर से कुछ भी संबंध नहीं (हिन्दी)	८ हजार	७.००
९. बालबोध पाठमाला भाग-१ (हि. म. गु. क. त. अं.)	३ लाख ५२ हजार	२.००
१०. क्षत्रचूड़ामणि परिशीलन (नवीनतम)	८ हजार	३.००
११. समयसार : मनीषियों की दृष्टि में (हिन्दी)		४.००
१२. द्रव्यदृष्टि (नवीन संस्करण)	५ हजार	४.००
१३. हरिवंश कथा (द्वितीय संस्करण)	१० हजार	३०.००
१४. षट्कारक अनुशीलन	३ हजार	४.००
१५. शलाका पुरुष पूर्वाद्ध (नवीन संस्करण)	५ हजार	२५.००
१६. शलाका पुरुष उत्तराद्ध (नवीन संस्करण)	५ हजार	३०.००
सम्पादित एवं अनूदित कृतियाँ (गुजराती से हिन्दी) -		
१७ से २७. प्रवचनरत्नाकर भाग - १ से ११ तक (सम्पूर्ण सेट)		१६०.००
२८. सम्यग्दर्शन प्रवचन		१५.००
२९. भक्तामर प्रवचन		१२.००
३०. समाधिशतक प्रवचन		२०.००
३१. पदार्थ विज्ञान (प्रवचनसार गाथा ९९ से १०२)		३.००
३२. गागर में सागर (प्रवचन)		७.००
३३. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में		३.००
३४. गुणस्थान-विवेचन		१८.००
३५. अहिंसा के पथ पर (कहानी संग्रह)		१०.००
३६. विचित्र महोत्सव (कहानी संग्रह)		११.००

एक प्रेरक पत्र

Dr. Vishnu Saxena Dayal Clinic : Tahsil Road
General Physician Sikandra Rao (Aligarh) 204215
STD Code : 05725 Phone : 44380

श्रद्धेयास्पद चरणवन्दन।

मेरे 'चरणवन्दन' लिखने पर आप अवश्य विस्मित होंगे। लेकिन आप मेरे लिए सर्वथा वन्दनीय इसलिए हैं कि एक तो आप मेरे पिता की आयु के हैं, दूसरे योग्यता में भी मुझ नगण्य से कई गुना अधिक हैं।

शायद आपको ध्यान हो मेरी आपकी भेंट गत वर्ष मेरठ में शाकाहार मेले में आयोजित कवि सम्मेलन मंच पर हुयी थी। मैं भी एक कवि के रूप में बैठा था; तब आपने हम सभी कवियों को अपनी लिखी हुयी कुछ पुस्तकें भेंट की थीं।

उन पुस्तकों को लाकर मैंने अपनी लाइब्रेरी में सजा दिया। सोचा कभी फुरसत होगी तो पढ़ूंगा। कवि सम्मेलनीय तथा चिकित्सकीय व्यस्तताओं में वर्ष भर उलझा रहा, बरसात में मैंने आपकी उन किताबों का अध्ययन किया। एक तो अभी भी पढ़ रहा हूँ।

पुस्तकें क्या हैं! ये तो ज्ञान का सहज भंडार हैं। मैं तो जैनदर्शन से पहले से भी प्रभावित था। आपकी पुस्तकें पढ़ने के उपरान्त तो यह आस्था और अधिक बलवती हो गयी है। सभी पुस्तकें अत्यधिक सरल भाषा में लिखी गयी हैं। जो जनसामान्य को भी संस्कारित करती हैं। जैन साहित्य के लिए आपकी ये पुस्तकें एक अनमोल निधि हैं। मैं कायस्थ कुल में पैदा अवश्य हुआ हूँ; लेकिन आरम्भ से ही कुछ ऐसा प्रभाव रहा कि कोई व्यसन पास नहीं आ सका।

आपके इस सद्लेखन के लिए, आपको बधाई। 'संस्कार', 'विदाई की बेला' बहुत ही प्रेरणादायी हैं। आदरणीय 'हुकमचन्दजी भारिल्लजी की 'आप कुछ भी कहो' ने भी पूरे परिवार को झकझोर दिया। उन्हें भी मेरी बधाई प्रेषित कर दें।

आभार, शुभम् आपका ही...
आशा है सानन्द होंगे। डॉ. विष्णु सक्सेना
२.४.९६

प्रति, विद्वत्त्वरेण्य पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल
प्राचार्य, श्री टोडरमल दि. जैन महाविद्यालय, जयपुर



अभिमत

● बीसवीं शताब्दी के मनीषी विद्वान पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल की यह कृति आचार्य जिनसेन द्वारा रचित हरिवंशपुराण की विशालता को सरल-सुबोध शैली में संक्षिप्त एवं सारगर्भित बनाने का अनुपम प्रयास है। 'हरिवंश कथा' शीर्षक को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो यह कोई कथा कहानी मात्र होगी; किन्तु जब इसे पढ़ा तो इसमें निरूपित वस्तु-स्वतंत्रता, पाँच समवाय, छह द्रव्य, सामान्यगुण, सात तत्त्व आदि की चर्चा को देखकर अवाक् रह गया।

प्रथमानुयोग का ग्रन्थ होते हुए भी इसमें प्रसंगानुसार पात्रों को मोक्षमार्ग में लगाने के लिये मुनिराजों एवं गणधरों द्वारा जो वैराग्यप्रेरक, सैद्धान्तिक एवं आध्यात्मिक उपदेश दिया है, वह अपने आप में अद्भुत है। प्रस्तुत कृति में तीर्थकर नेमिनाथ, श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव, श्रीकृष्ण तथा उनके पुत्र प्रद्युम्नकुमार, भानुकुमार, शंभुकुमार के साथ-साथ कौरवों पाण्डवों के प्रेरणादायक प्रसंगों का जीवन्त चित्रण किया गया है। श्रीकृष्ण की मृत्यु के पश्चात् बलदेव का करुण विलाप पढ़कर अपनी अश्रुधारा को रोकना कठिन लगता है। जहाँ नेमिनाथ के वैराग्य का प्रसंग हृदय में संसार, शरीर एवं भोगों से उदासीनता दिलाता है, वहीं राजुल का आदर्श जीवन, उसका वैराग्य एवं सतीत्व भी हृदय पर अमिट छाप छोड़ता है।

प्रस्तुत कृति में लेखक की आत्मविशुद्धि की भावना तो प्रमुख रही ही है; साथ ही अनेक स्थानों पर नैतिक एवं सदाचार प्रेरक प्रसंगों से जनकल्याण एवं समाज सुधार की भावना भी मुखरित होती है, जो सामान्य पाठक के जीवन को बदलने में समर्थ है। लेखक द्वारा इसे इसतरह से अपनी लेखनी द्वारा बांधा गया है कि इसे पढ़नेवाला कैसे भी क्षयोपशमवाला हो; अवश्य ही लाभान्वित होगा।

– संजीवकुमार जैन गोधा, एम.ए. प्रबन्ध सम्पादक, जैनपथप्रदर्शक (पाक्षिक), वीतराग-विज्ञान (मासिक), जयपुर

● पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल बहुत सुन्दर लिख रहे हैं। उनकी प्रत्येक कृति घर-घर में खूब ध्यानपूर्वक पढ़ी जाती है। पूजन विषयक जिनपूजन रहस्य, समाधि विषयक विदाई की बेला, सदाचार प्रेरक संस्कार एवं सामान्य श्रावकाचार और णमोकार महामंत्र आदि सभी कृतियाँ बेजोड़ हैं। इनमें विदाई की बेला और इन भावों का फल क्या होगा ने मुझे बहुत प्रभावित किया। वैसे तो आपकी जितनी भी रचनायें हैं, मैंने सभी रुचि से पढ़ी हैं और सभी ने मुझे किसी न किसी रूप में प्रभावित किया है।

– स्व. पण्डित हीरालाल जैन 'कौशल', दिल्ली (भू.पू.मंत्री - श्री अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद्)

● सिद्धान्तसूरि श्रद्धेय पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल - आपको प्राप्त आचार्य अमृतचन्द्र पुरस्कार की खबर जानकर आपके प्रति श्रद्धा द्विगुणित हो गई। सचमुच आप सरल, सात्विक एवं जिनवाणी माता के प्रचार में निरत व्यस्त रहनेवाले विद्वानों में विरल हैं। आप सही रूप में जिनवाणी माँ की सरल, सुबोध शैली में गहन से गहन विषयों को प्रतिपादित करके जिज्ञासु भव्यजनों को सुबोध देने में सक्षम हैं। आपकी छवि को देखकर ही आपके प्रति श्रद्धा उमड़ पड़ती है। आप चिरायु होकर इसी तरह लंबे समय तक जिनवाणी की संवर्धना में सहयोगी बने रहें।

– जयचन्दलाल पाटनी, गोहाटी



● प्रत्येक कृति घर-घर में ध्यानपूर्वक पढ़ी जाती है

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल बहुत सुन्दर लिख रहे हैं। उनकी प्रत्येक कृति घर-घर में खूब ध्यानपूर्वक पढ़ी जाती है।

पूजन विषयक जिनपूजन रहस्य, समाधि विषयक विदाई की बेला, सदाचार प्रेरक संस्कार एवं सामान्य श्रावकाचार और णमोकार महामंत्र आदि सभी कृतियाँ बेजोड़ हैं।

आप लोगों की उन्नति देखकर हार्दिक प्रसन्नता होती है।

- पण्डित हीरालाल जैन 'कौशल'

● एक-एक अक्षर में रस की गंगा बहती है

मैंने आपके द्वारा लिखित विदाई की बेला, सुखी जीवन, संस्कार और इन भावों का फल क्या होगा आदि किताबों का ज्ञान प्राप्त किया है। वह मुझे बहुत ही अच्छी लगीं, मेरे मित्रों ने भी इन पुस्तकों को पढ़ा और इनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि - इन पुस्तकों के एक-एक अक्षर में रस की गंगा बहती है और बहुत ज्ञानप्रद बातें प्राप्त होती हैं। यद्यपि हम जैन नहीं हैं; फिर भी आपका साहित्य अत्यन्त सरल भाषा में होने से हमें समझ में आ जाता है।

मुझे और मेरे मित्रों को इन पुस्तकों को पढ़कर बहुत खुशी होती है। मेरे मित्रों ने आपसे मिलने की इच्छा व्यक्त की है।

- दिनेशचन्द राजोरिया, नाहरगढ़ रोड नीपडी के थाने के पास, जयपुर

● लेखन की विशिष्ट छवि

माननीय पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल की लेखन छवि जनमानस के हृदय-पटल पर महत्त्वपूर्ण विषयों को विशिष्ट सरलमत शैली में प्रस्तुत करने के रूप में अंकित हो चुकी है।

जिनपूजन रहस्य आदि की श्रृंखला में 'इन भावों का फल क्या होगा' पाकर पाठकवर्ग विशेष उपकृत हुआ है। प्रस्तुत कृति आद्योपांत बारम्बार पढ़ने तथा परिचितों में वितरित करने योग्य है। आशा है प्रत्येक पाठक इसके माध्यम से इष्ट फलदायक भावों रूप परिणमित होगा।

- अभयकुमार जैन शास्त्री, एम.कॉ. जैन दर्शनाचार्य, जबलपुर (म.प्र.)

● प्रत्येक पृष्ठ पर कुछ न कुछ मिल ही जाता है

आपकी जितनी भी रचनायें हैं, मैंने सभी रुचि से पढ़ी हैं। किन्तु यह नवीन रचना 'इन भावों का फल क्या होगा' पढ़ कर तो चित्त वचनातीत प्रसन्न हो गया। खोजने पर प्रत्येक पृष्ठ पर कुछ न कुछ माल मिल ही जाता है।